हिन्दी उपन्यास : विविध आयाम

डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे
हिन्दी-विभाग
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद (महा०)

सूर्यनारायण रणसुभे
स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग
दयानन्द कला महाविद्यालय
लातूर (महा०)

ओम्प्रकाश होलीकर
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
दयानन्द वाणिज्य महाविद्यालय
लातूर (महा०)



पुस्तक संस्थान
१०९/५० ए, नेहरूनगर, कानपुर–२०८०१२

HINDI UPANYAS VIVIDH AYAM

Price Rs. Forty Five Only

मूल्य :
४५.००

प्रकाशक
पुस्तक संस्थान
१०९/५०ए, नेहरू नगर, कानपुर-२०८०१२

© संस्करण : १९[redacted]७

मुद्रक
विनीत प्रेस
लेनिन पार्क, कानपुर-२०८०१२

दयानन्द महाविद्यालय (लातूर)

के

विद्यार्थी-विद्यार्थिनियो के नाम

भूमिका

पन्द्रह प्रमुख हिन्दी उपन्यासो का अध्ययन आपके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमे अत्यधिक हर्ष हो रहा है। पिछले १०-१५ वर्षों के अध्यापन के कारण इन उपन्यासो पर चिन्तन मनन करना पडा। इन पन्द्रह उपन्यासो मे से कुछ उपन्यासो की चर्चा (गबन, चित्रलेखा, गोदान, सुनीता, कल्याणी, सागर, लहरें और मनुष्य, सूरज का सातवां घोडा) अक्सर हुई है। यहाँ फिर उस चर्चा का पिष्टपेषण करने के बजाय उन्हें नये दृष्टिकोणो से अलग परिप्रेक्ष्य मे देखने का प्रयत्न हुआ है। उनमे जो कुछ भी नया, विशिष्ट और हिन्दी उपन्यास की यात्रा मे महत्त्वपूर्ण लगा उसे रेखांकित करने का प्रयत्न हुआ है।

शह और मात, कितने चौराहे, लौटे हुए मुसाफिर और विपात्र-महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उपेक्षित से रहे हैं। इनकी चर्चा हमे आवश्यक लगी इसलिए इनका समावेश किया गया है। ठीक यही स्थिति 'धरती धन न अपना' इस उपन्यास की रही है।

'वे दिन' और 'तमस' अपेक्षाकृत नवीन उपन्यास हैं। इन दोनो को उपलब्धि के रूप मे स्वीकार किया जा रहा है। इसलिए इन पर विस्तार से विचार किया गया है।

ये सभी उपन्यास हिन्दी औपन्यासिक यात्रा के छोटे मोटे पडाव हैं। इन पडावो का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसी कारण तटस्थ होकर विविध सन्दर्भों मे इनके महत्त्व को आंकने का प्रयत्न हमने किया है। समीक्षको, अध्यापको तथा छात्र-छात्राओ की प्रत्यक्ष प्रतिक्रियाओ से ही हम अपने इस कार्य का मूल्यांकन कर सकेंगे।

दिनांक २ जून १९७७

डा० चन्द्रभानु सोनवणे
सूर्यनारायण रणसुभे
ओमप्रकाश होलीकर

ऋण निर्देश

प्रस्तुत कार्य में हमें सबसे बड़ा प्रोत्साहन पुस्तक संस्थान के प्रबन्धक श्री महेश त्रिपाठी जी का मिला है। उनके सतत आग्रह से ही यह कार्य हो सका है। उनके द्वारा निर्धारित समय में हम यह कार्य पूर्ण नहीं कर सके हैं—इसका हमें जरूर खेद है। परन्तु हमारे आलस्य के बावजूद भी उन्होंने इसे शीघ्र प्रकाशित किया है इसके लिए हम उनके अत्यंत ऋणी हैं।

इस पुस्तक को पूर्ण करने में कई महानुभावों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग हमें मिला है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण सहयोग श्री पंढरीनाथ सरदेशमुख का है। इस पुस्तक के एक बहुत बड़े अंश की पांडुलिपि उन्होंने बड़ी लगन से तैयार की है, इसके लिए हम उनके अत्यधिक आभारी हैं। श्री सूर्यकान्त विश्वनाथे तथा श्री कमलाकर रणदिवे—इन दो विद्यार्थी-मित्रों ने भी पांडुलिपि तैयार करने में काफी सहयोग दिया है। कुमार स्वामी महाविद्यालय, औसा-जि० उस्मानाबाद, महाराष्ट्र के हिन्दी प्राध्यापक श्री काशिनाथ राजे को इस पुस्तक के सिलसिले में काफी परेशानी उठानी पड़ी। यह परेशानी कभी आर्थिक थी, कभी प्रवास की थी और कभी संदेशवाहक की। ये सारी परेशानी उन्होंने आनन्द से स्वीकार की। उनका आभार मानना मात्र औपचारिकता ही होगी। मित्रवर्य श्री चन्द्रकान्त पुरोहित का सहयोग भी हमें मिला है। उनके प्रति भी आभार। पुस्तक संस्थान, कानपुर के कर्मचारियों तथा अन्य उन सभी मित्रों के प्रति जिनका सहयोग हमें समय-समय पर मिलता रहा है—हार्दिक आभार।

अनुक्रमणिका

गबन : नारीत्व के जागरण की कहानी

डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे

"जालपा भारत का उगता हुआ नारीत्व है।"

—डॉ० रामविलास शर्मा

जालपा की जीवनयात्रा 'अंधेरे से उजाले की, मिथ्या से सत्य की' दिशा मे की गई यात्रा है।

"हिन्दी उपन्यास साहित्य मे मध्यमवर्गीय जीवन का सफल चित्रण करने की दृष्टि से 'गबन' का महत्त्व बेजोड़ है।"

१
गबन

मुंशी प्रेमचन्द की दृष्टि में साहित्य 'जीवन की आलोचना' करने वाला 'मानव-संस्कार का एक सशक्त अस्त्र' है। इसीलिए उन्होंने 'विचारों का प्रचार' और 'उत्कर्ष का अनुभव' कराने के उद्देश्य से 'मानवचरित्र का चित्र'[1] उपन्यास के माध्यम से उपस्थित किया। उन्होंने न केवल 'किसी देवता की कामना' की, अपितु 'उस देवता में प्राणप्रतिष्ठा' करने का कठिन कार्य भी किया। उनके कथासाहित्य के पात्र कठ-पुतलियों के समान नहीं है, जैसा कि उनके पूर्ववर्ती साहित्यकार देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में पाए जाते हैं। इसीलिए उन्हें कथाजगत् में मानव की प्रतिष्ठा करने का श्रेय दिया जाता है। मानव के लिए मानव की कहानी से अधिक रुचि का विषय और क्या हो सकता है? यही कारण है कि प्रेमचन्द को पाठकों का मन आकृष्ट करने के लिए अद्‌भुतरम्य कथानकों का सहारा नहीं लेना पड़ा। समाज के जीवित मानवों की उपेक्षा करके उन्होंने इतिहास के 'गड़े मुर्दे उखाड़ने' के चक्कर में पड़ना भी पसन्द नहीं किया। अपने समय के समाज का उन्होंने जितनी ईमानदारी से चित्रण करने का प्रयत्न किया है, उतना अन्य किसी लेखक ने नहीं। विशेषतः मूक गरीब जनता को उन्होंने ही वाणी प्रदान की। वे स्वयं गरीबी में पलकर बड़े हुए थे। पिता ने उन्हें अपनी अतृप्त इच्छा के परिणामस्वरूप भले ही 'धनपतराय' के रूप में देखना चाहा, पर वे अपनी अन्तः प्रकृति के अनुकूल 'प्रेमचन्द' ही बने।

प्रेमचन्द का जन्म निम्न मध्यमवर्ग में हुआ था। इसीलिए उन्हें इस वर्ग की मनोवृत्ति की जानकारी निकटतम रूप से प्राप्त थी। 'गबन' उपन्यास में इसी वर्ग का चित्रण अत्यधिक सफल रूप में किया गया है। कामविषयक नैतिकता की दृष्टि से यह वर्ग सदा से जागरूक रहता आया है। वर्गगत इकाई के रूप में काम-समस्या इस वर्ग के लिए प्रायः गौण ही रही है। प्रस्तुत उपन्यास का एक भी पात्र काम-समस्या से प्रेरित नहीं है। रमेशबाबू की पत्नी बीस साल पहले मरी है, जब कि वे जवान थे। इसके बावजूद उनकी कामविषयक अतृप्ति या विकृति का लेखक ने कोई उल्लेख नहीं किया है। किसी महदुद्देश्य को साकार करने के स्वप्न में वे इस ओर से बेखबर हों, ऐसी भी बात नहीं है। इसी प्रकार इसी वर्ग के, पर उच्च मध्यमवर्ग के

इन्दुभूषण वकील की पत्नी पैंतीस वर्ष पूर्व मरी थी, किन्तु उन्होंने पाँच वर्ष पूर्व जवान बेटे सिद्धू के मरने तक दूसरा विवाह नहीं किया। उन्होंने सिद्धू की मृत्यु के बाद वृद्धावस्था के प्रवेशकाल में जवानी में प्रवेश करती हुई रतन से विवाह किया। रतन को पति से पिता का स्नेह' और 'सदेह आधार मिला किन्तु विवाह का सुख नहीं। उसका जीवन शिवलिंग के ऊपर बूँद-बूँद टपकने वाले जल के समान समर्पित था, जिसमें सरिता के जल के स्वच्छन्द प्रवाह का अभाव था।[१] युवा दम्पति रमानाथ और जालपा के प्रति उसका आकर्षण अवचेतन के स्तर पर कामप्रेरित होते हुए भी लेखक ने उसकी कामतृप्ति की समस्या पर बल नहीं दिया है। इतना ही नहीं, जोहरा नामक वेश्या की ओर रमानाथ के आकृष्ट हो जाने पर भी प्रेम त्रिकोण का सहारा लेने की यत्किंचित् प्रवृत्ति भी लेखक ने नहीं दिखाई। कहने का आशय यह है कि इस उपन्यास की समस्या कामप्रेरित नहीं है। इसकी समस्या के मूल में तो विदोषणा है।

निम्न मध्यमवर्ग आमदनी की दृष्टि से निम्नवर्ग के निकट होते हुए भी सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से उच्चवर्ग का नैकट्य पाने की लालसा मन में लिए रहता है। जिस अंग्रेजी शिक्षा ने मध्यमवर्ग को जन्म दिया है, उसी ने उसमें नगर-सभ्यता की प्रदर्शनप्रियता भी भर दी है। यह प्रदर्शनप्रियता व्यक्तित्व की अन्दरूनी रिक्तता की मापक कही जा सकती है। यह प्रदर्शनप्रियता एक ओर रमानाथ जैसे पुरुषों में टीमटाम और ठाठबाट का रूप ले लेती है तथा दूसरी ओर जालपा जैसी स्त्रियों में आभूषण-लालसा का। स्त्री की आभूषण-लालसा का शिकार लेखक स्वयं रहे हैं। उन्होंने लिखा है—'बीबीजान की बरसों की जिद एक कड़ा बनवाया, जिसका सदमा अब तक न भूला।'[२] सम्भवतः इसीलिए लेखक ने सन् १९०७ में लिखे गए 'कृष्णा' नामक गबन के पूर्वाभासरूप उपन्यास के बरसों बाद फिर से आभूषणलालसा को अपने उपन्यास का विषय बनाया है। गबन में एक भी स्त्री-पात्र ऐसा नहीं है जो इस लालसा में ग्रस्त नहीं रहा है। जालपा की दादी सदा गहनों की चर्चा करती रहती है। मानकी की चन्द्रहार पाने की साध तो वसीयत में पुत्री जालपा को मिली है। विवाह के समय चढ़ाने में चन्द्रहार न पाकर जालपा की एक सखी कहती है कि चन्द्रहार तो गहनों का राजा होता है, तो दूसरी जालपा को सलाह देती है कि चन्द्रहार बनने तक घरवालों को चैन न लेने देना। तीसरी सखी ने तो अति ही कर दी है। उसकी सलाह है कि चन्द्रहार बनने तक जालपा कोई दूसरा गहना ही न पहने। रमानाथ की माता रामेश्वरी की भी आभूषणलालसा अतृप्त ही रही है। कंगनों की दो-दो जोड़ियों के बावजूद रतन का मन जालपा के नए डिजाइन के कंगनों पर लुभा ही गया है। जग्गो जैसी बुढ़िया का गहनों से पेट नहीं भरा है। इसी कारण डॉक्टर त्रिभुवन सिंह ने गबन की नारियों को अर्थ भावनाप्रेरित कहा है।[३]

क्या शहर की और क्या गाँव की, क्या पढ़ी-लिखी और क्या अनपढ़, हर स्त्री इस आभूषणलालसा के चक्कर में फँसी हुई है। जालपा की इसी लालसा के कारण रमानाथ को गबन करने के कारण मुसीबत में फँसना पड़ा। गबन के कारण ही देवीदीन को जेल की हवा खानी पड़ी थी। लेखक ने इस लालसा के दुष्परिणामों पर अत्यधिक बल दिया है। इसीलिए डॉक्टर एस्० एन्० गणेशन 'गबन' को "आभूषण-प्रेम तथा उसके दुरन्त परिणामों की कथा"" माना है तथा डॉक्टर रामरतन भटनागर की दृष्टि में यह 'गहने की ट्रेजेडी' है। श्री विष्णुप्रभाकर ने इस उपन्यास को नाटकरूप देकर उसे 'चन्द्रहार' नाम दिया है। डॉक्टर रामविलास शर्मा ने भी इस उपन्यास में गहनों की समस्या पाई है, परन्तु उन्होंने इस समस्या के अतिरिक्त स्वाधीनता की समस्या को भी उपन्यास का विषय माना है।' यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि आभूषणलालसा को अगर मूल समस्या माना जाए तो रमानाथ की प्रदर्शनप्रियता को खींच-तान कर ही इस समस्या का अंग बतलाया जा सकता है। इसलिए आभूषण लालसा की समस्या पर अधिक गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

मुंशी प्रेमचन्द ने गहनों की गुलामी को पराधीनता से भी बढ़कर मान कर दरिद्र देश में सनक की सीमा तक बढ़े हुए इस रोग की व्यापकता पर दुःख व्यक्त किया है। महिलाओं के 'आभूषणमण्डित संसार'' में चर्चा का मुख्य विषय गहने ही होते हैं। महिलाएँ आभूषणों पर जान देती हैं और उनका आभूषणों पर जान देना पुरुषों ने स्वाभाविक भी मान लिया है। इतना ही नहीं उन्होंने स्त्रियों की इस लालसा को भड़काने और मजबूत बनाने में सहयोग दिया है। उपन्यास का बिसाती जालपा की चन्द्रहार की कामना को विवाह के सपने से तदाकार कर देता है। जालपा के पिता भी खिलौनों को व्यर्थ समझकर अपनी बेटी के लिए नकली गहने लाया करते थे। भारत के मध्यकालीन इतिहास के सामन्तयुग से भारतीय पति ने अपनी पत्नी के 'रमणी' रूप को उभारने के लिए गहनों का प्रयोग करना शुरू किया था। रमानाथ इसी परम्परा में आने वाला व्यक्ति है। इस प्रकार अलंकरण रमणी के 'रम्य' रूप को अलम् (पूर्ण) करने का साधन रहा है। व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता के छिन जाने के कारण स्त्री भी अपना मूल्य भोग्यत्व की दिशा में ही बढ़ा सकती थी। प्रेमचन्द के काल में मध्यमवर्ग की स्त्रियाँ अर्थोपार्जन की दृष्टि से शून्यवत् थीं, क्योंकि पत्नी का अर्थोपार्जन करना पति की स्वामित्वभावना के विरुद्ध था। इन सब कारणों से स्त्रियों में आभूषणलालसा दृढ़ता से बद्धमूल हो गई थी। यह लालसा, एक प्रकार से पुरुष की प्रदर्शनप्रियता का ही अंग थी।

मध्यमवर्ग की प्रदर्शनप्रियता वस्तुतः अन्दरूनी रिक्तता की ही द्योतक है। निम्न मध्यमवर्ग का पुरुष अर्थाभावजन्य-हीनता को तथा स्त्री-अस्मिता के अभाव के कारण प्रदर्शनप्रिय बनने के लिए विवश थे। गबन के बाद रमानाथ के लापता हो

जाने पर जालपा ने प्रदर्शनप्रियता का खोखलापन अनुभव किया। वह 'रमणी' से 'विचारशील' बन गई। परिणामत अन्दरुनी रिक्तता का स्थान व्यक्तित्व ने ग्रहण किया। यही कारण है कि उसमे विकास की सम्भावनाएँ अपने आप समाविष्ट हो गईं। जालपा में नवजीवन का सूत्रपात हुआ। इसके बाद ही वह परिवार और समाज का सच्चे अर्थों म अग बनी और रमानाथ म आत्ममर्यादा को जगाने मे सफल हो सकी। जालपा के समान ही पति की मृत्यु के बाद रतन को आत्मनिर्भर होने के लिए विवश होना पडा। इस आत्मनिभरता ने उसकी अस्तित्व की चेतना को जागृत किया। देवीदीन और जग्गो निम्नवर्ग के होने के कारण पहले से ही मेहनत-मजदूरी करने के कारण आत्मनिर्भर थे। यही कारण है कि 'गबन' उपन्यास मे स्वाधीनता के मर्म को उसी ने सबसे अधिक समझा है, क्योकि आत्मनिर्भरता और अस्मिता क्रमश स्वाधीनता के व्यक्त और अव्यक्त रूप हैं। स्व की गुजलक से मुक्त होने पर व्यक्ति और समाज का स्वस्थ विकास सम्भव है। 'गबन' उपन्यास का यही प्रतिपाद्य है। इसी प्रतिपाद्य के कारण उपन्यास के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, अर्थात् प्रयाग और कलकत्ते के कथानक जुडे हुए हैं।

'गबन' उपन्यास के कथानक पर सविस्तार चर्चा करने से पूर्व यह जान लेना उपयोगी है कि इस उपन्यास से पूर्व सन् १९२४ मे प्रेमचन्द का रगभूमि' नामक उपन्यास प्रकाशित हो चुका था। कुछ आलोचको की दृष्टि मे 'रगभूमि' प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इस उपन्यास के बाद सन् १९२७ मे 'कायाकल्प' तथा सन् १९३० के अन्त मे 'गबन' प्रकाशित हुए। 'रगभूमि' की तुलना मे ये दोनो ही उपन्यास उच्च स्तर के नही कहे जा सकते। आलोचको को उपन्यास सम्राट के इस प्रतिविकास पर आश्चर्य हुआ है। प्रेमचन्द की जीवनी को समझे बिना इसके रहस्य का उद्‌घाटन नही किया जा सकता। इन उपन्यासो के लेखनकाल मे प्रेमचन्द की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। उस समय लेखक को प्रतिपृष्ठ के हिसाब से पारिश्रमिक (कलम की मजदूरी) मिला करता था। इस विपरीतता के कारण ही प्रेमचन्द ने प्रदीर्घ कथानक लिखने के लिए 'कायाकल्प' मे जन्मजन्मान्तरो की कहानी का सहारा लिया है। इसी काल मे १९०७ ई० मे लिखे गए 'प्रेमा' के कथानक को परिवर्तित करके 'प्रतिज्ञा' उपन्यास' लिखा गया है। 'कायाकल्प' और 'प्रतिज्ञा' के लेखनकाल मे ही 'गबन' का लेखनकार्य चालू था। श्री मदनगोपाल के अनुसार 'गबन' के लेखन का प्रारम्भ सन् १९२६-२७ मे किया गया था। श्री मदनगोपाल ने इस उपन्यास के लेखन की समाप्ति सन् १९२८ के अन्त मे मानी है, किन्तु यह 'गबन' के पूर्वार्द्ध की समाप्ति का काल ही माना जा सकता है। वस्तुत 'गबन' उपन्यास का पूर्वार्द्ध अपने-आप मे एक स्वतन्त्र उपन्यास है ही। इसीलिए श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने यह कहा है कि अगर यह उपन्यास प्रयाग से ही सम्बन्धित होता तो अधिक सुग-

ठित होता।' श्री अमृतराय ने इस उपन्यास के सम्बन्ध में लिखा है कि सन् १९२९ ई० के मार्च में इसका लेखन प्रारम्भ हुआ और मार्च में ही आधा समाप्त भी हुआ।' उनके कथन का पूर्वार्द्ध असत्य है और उत्तरार्द्ध सत्य है। यदि यह उपन्यास एक ही मास में लिखा गया होता तो कथानक-विषयक स्थूल असंगतियाँ उसमें इतनी अधिक न होती। दयानाथ की पत्नी का नाम कहीं जागेश्वरी है, तो कहीं रामेश्वरी।' रमानाथ का वेतन कहीं ३० रुपए दिया गया है, तो कहीं २५ रुपए। प्रयाग के इन्दुभूषण वकील को कहीं-कहीं काशी का निवासी लिख दिया गया है। चन्द्रहार की कीमत में भी इसी प्रकार की गड़बड़ है। अतः 'गबन' के लेखन का प्रारम्भ यदि श्री मदनगोपाल के अनुसार मानकर पूर्वार्द्ध की समाप्ति श्री अमृतराय के अनुकूल स्वीकार की जाए तो इन असंगतियों का संगत कारण बताया जा सकता है। श्री अमृतराय के अनुसार 'गबन' की छपाई प्रारम्भ होने की सूचना नवम्बर, सन् १९३० में प्रथमतः मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'गबन' के आधा समाप्त होने के बाद प्रेमचन्द के मन में इसके कथानक की लम्बाई बढ़ाने का विचार आया और इसीलिए उन्होंने उसे कलकत्ते के नए कथानक की ओर मोड़ दिया। सन् १९२८ के प्रारम्भ में लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य का महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया था। इस प्रस्ताव का लेखक के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था, जिसका प्रतिफलन हमें देवीदीन के चरित्र में दिखाई पड़ता है। इस उपन्यास में आगे चलकर रमानाथ के पुलिस द्वारा गिरफ्तार किए जाने के बाद प्रेमचन्द का ध्यान मेरठ षड्यन्त्र केस की ओर गया, जो इस वर्ष की सनसनीखेज घटना थी। जनकपुर डकैती केस की कल्पना कर लेने के बाद उन्होंने मेरठ षड्यन्त्र केस के प्रभावस्वरूप जनकपुर डकैती के मामले को राजनीतिक रंग दे दिया और पुलिस के हथकण्डों और न्यायालय के असली स्वरूप का भण्डाफोड़ किया। सम्भवतः इन्हीं कारणों से उपन्यास का उत्तरार्द्ध असंगठित-सा बन गया है। 'गबन' की लम्बाई अनपेक्षित रूप से बढ़ा दिए जाने का ही यह परिणाम है कि पारिवारिक क्षेत्र से हटकर राजनीतिक क्षेत्र में पहुँच गई और आभूषणों की समस्या स्वाधीनता की समस्या में परिवर्तित हो गई। सन् १९०७ में लिखी गई 'कृष्णा' की कहानी का पल्लवन करते हुए लेखक आदर्श ग्रामजीवन के स्वप्न में खो गया। यह जीवन सेवासदन या प्रेमाश्रम के हवाई आदर्श से भले ही मुक्त हो, किन्तु 'गबन के कथानक में से विकसित अवश्य नहीं है।

कथानक में प्रासंगिक कथाओं के रूप में रतन और देवीदीन की कथाएं हैं। रतन की कथा का प्रयाग से सम्बन्धित अंश अधिक सुगठित एवं आधिकारिक कथा का उपकारक है, किन्तु रतन को कलकत्ता तक घसीट ले जाना और अन्त में मौत के हाथों सौंप देना अनावश्यक विस्तार है। इसके अतिरिक्त जालपा का अचिंतित अन्त भी खटकता है। इनके सिवाय मुखबिर के पास पिस्तौल का होना, मुकदमे की

दुबारा सुनवाई होना आदि बातें असम्भव एव असगत है। निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के कथानक दो पृथक् उपन्यासो के कथानक हैं, जिन्हे लेखक ने अपने सम्बन्ध निर्वाह की कुशलता के कारण जोड रखा है तथा वर्णनक्षमता के सहारे आद्यन्त मनोरजक बनाए रखा है। पूर्वार्द्ध की कथा का अन्त प्रदर्शनप्रियता के मार्जन और पारस्परिक विश्वास पर आधारित दाम्पत्य-प्रेम के अनुभव के साथ होना चाहिए।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से गबन' उपन्यास सफल है। छोटे-बडे सब मिला कर इस उपन्यास मे पचास से अधिक पात्र है। लेखक ने पात्रो की बाहरी वेश भूषा और मुद्राओ के चित्रण पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। अदालत के प्रसग म रमा नाथ के बयान को सुनकर जालपा के मन म होने वाली प्रतिक्रियाओ का प्रतिफलन उसके चेहरे पर व्यक्त होता हुआ चित्रित किया है। लेखक न एक स्थान पर मनो-विज्ञान के आधार पर लिखी गई कथा को उत्तम माना है।[१०] 'गबन' के चरित्रो मे मनोविज्ञान का प्रयोग मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के समान नही किया गया है क्योकि उपन्यास मे एक स्थान पर नींद म अवचेतन (निम्न चेतना[११]) के सक्रिय रहने का उल्लेख हुआ है। उपन्यास मे विभिन्न स्थानो पर चार स्वप्नो का उल्लेख हुआ है। पहले स्वप्न मे जालपा गहनो की चोरी हो जाने का स्वप्न देखती है तथा दूसरे स्वप्न मे 'गबन' की घटना के बाद पुलिस के सिपाही को रमानाथ को पकड कर ले जाते हुए देखती है। इसी प्रकार तीसरे स्वप्न म रमानाथ के लापता हो जाने की भावी सूचना है। अन्तिम स्वप्न मे जालपा दिनेश की फाँसी का फन्दा काटकर उसी तल-वार से रमानाथ पर भी वार करती है। इन चारो स्वप्नो का उद्देश्य भावी कथा का सकेत देना मात्र है, मनोविज्ञान के अनुकूल किसी मानसिक गुत्थी का स्पष्टी-करण नही। अन्तिम स्वप्न म जालपा द्वारा रमानाथ पर वार किया जाना अवश्य अलग कोटि की बात है। रमानाथ जैसे स्वार्थी, कायर, आत्मकेन्द्रित व्यक्ति के विरुद्ध जालपा की यह प्रतिक्रिया कही जा सकती है। मृत्यु से पूर्व इन्दुभूषण वकील का हैल्यूसिनेशनग्रस्त होकर सिद्धू को देखना भी अत्यन्त उपयुक्त है। यह उनकी प्रबल पुत्रैषणा का सूचक है। पुत्रैषणा के कारण ही उन्होने बुढापे मे दूसरा विवाह किया था और अपनी पत्नी से 'पिता का सा स्नेह' करते थे। इसी प्रकार रमानाथ का अपनी पत्नी के सामने डींगें हाँकना आत्महीनता की ग्रन्थि की ओर सकेत करता है।

पात्रबाहुल्य के बावजूद उपन्यास मे दो-तीन पात्र ही सबसे अधिक महत्त्व के हैं। इनमे पहला महत्त्व का पात्र रमानाथ है, जिसके चारित्रिक परिवर्तन के साथ उपन्यास का अन्त हुआ है। यह शहरी निम्न मध्यवर्ग की दुर्बलताओं का प्रतीक पात्र है। दरिद्रताजन्य आत्महीनता इसके व्यक्तित्व के केन्द्र मे है। वह पढा-लिखा कम है, पर उसमे दिखावा अधिक है। सहकारिता के आधार पर ठाठबाट मे रहता

है और ससुर के पैसों से बारात का टीमटाम भरा नाटक खड़ा करता है। विवाह के बाद भी पत्नी को प्रेम से जीतने के स्थान पर झूठमूठ के रौब से वश में करना चाहता है। चुंगी दफ्तर का मामूली क्लर्क होते हुए भी अफसर की शान दिखाता है। उसे निर्धन रहकर जीना मरने से बदतर प्रतीत होता है। वैभवलालसा के सामने सात्त्विक जीवन का आदर्श उसे सुहाता नहीं है। इसीलिए उसे रिश्वत लेने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। वह अपने नैतिक मन को समझाने के लिए अपनी रिश्वत को दस्तूरी कहता है और बौद्धिकीकरण (Rationalisation) का सहारा लेकर कहता है कि बनियों से रुपया ऐंठने के लिए अक्ल चाहिए। वह रिश्वत के पक्ष में वेतन की कमी का तर्क भी पैदा करता है। उसका यह तर्क दिल की सच्चाई से उद्भूत माना जा सकता था, अगर उसमें अतिरिक्त मात्रा में दिखाई देने वाली प्रदर्शना-प्रियता न होती। वस्तुतः उसके चरित्र की नींव में वैभवलालसा (वित्तैषणा) ही है। धनलोलुपता के कारण ही वह क्रांतिकारियों के विरोध में बयान देने में उद्यत हो जाता है। विलासवृत्ति ने ही उसकी विवेकशक्ति को कुंठित बना रखा है। देवीदीन और जालपा के पुनः-पुनः किए गये प्रयत्नों के कारण ही बेगुनाहों का खून करने में सहायता देने से रुक पाता है। इस प्रसंग में वह पुलिस की सख्तियों का उल्लेख करता है, पर ऐसी किसी सख्ती का वर्णन उपन्यास में कहीं नहीं है। भीरुता के कारण ही वह अपने सत्संकल्पों पर दृढ़ नहीं रह पाता। इस प्रकार आत्मकेन्द्रित रमा की स्वार्थपरता ने उसे जहाँ राक्षस बना डाला है, वहाँ कायरता के कारण वह पशु से भी गया-बीता बन गया है। निःस्वार्थ देवीदीन और साहसपूर्ण जालपा के कंट्रास्ट में उसकी स्वार्थ और भीरुता की वृत्तियाँ उभर कर सामने आई हैं।

रमानाथ को 'सुख के लिए आत्मा बेचने वाला' भले ही कहा गया हो, पर उसमें आत्मा अवश्य है। वह पत्नी के गहने चुराने पर ग्लानि का अनुभव करता है। कलकत्ते में दान का कंबल लेने पर उसकी आत्ममर्यादा को ठेस पहुँचती है। भीरुता के कारण संकल्पों पर दृढ़ न रह सकने की दुर्बलता पर उसे बुरा महसूस होता है। उपन्यास के अन्त में डूबते हुए को बचाने के लिए साहस न कर सकने पर लज्जा का अनुभव होता है। उसकी यह शर्मिन्दगी उसके व्यक्तित्व के सत्पक्ष की द्योतक है। वह पूरी तरह से दिल का बुरा आदमी नहीं है। वह कमजोर स्वभाव का अवश्य है। इसीलिए जोहरा ने रमानाथ के लिए कहा कि उसके लिए मरहम की जरूरत है, जंजरों की नहीं।[१०] उसने स्वयं अपनी दुर्बलता पर दुःखानुभव करते हुए कातरतापूर्वक जालपा से कहा है कि तुम मुझे ऊँचाई पर मत चढ़ाओ, क्योंकि मुझमें इतनी शक्ति नहीं है।[११] स्पष्टतः ही वह रीढ़हीन व्यक्ति है।

रमानाथ और जालपा का सम्बन्ध विश्वास का सम्बन्ध नहीं है। जालपा के अतिरिक्त रमानाथ का जोहरा से भी सम्बन्ध हुआ। जोहरा रमानाथ को विवेक-

विमुख बनाये रखने के लिए नियुक्त की गई थी किन्तु रमानाथ की सरलता के कारण जालपा इस 'अनुरागरत्न'[१९] से प्रभावित होकर स्वयं विलासविमुख बन गई। जोहरा के द्वारा रमानाथ के 'अनुरागरत्न' समझे जाने में अधिमूल्यांकन (Over estimation) दिखाई पड़ता है। उसका जालपा और जोहरा, दोनों के प्रति प्रेम का प्रदर्शन स्वयं को धोखा देना मात्र है। इसीलिए प्रेमोन्माद के आवेश में उसका दरोगा को धक्का देना भी अविश्वसनीय हो उठता है। जालपा, जोहरा और देवीदीन के सम्मिलित प्रयत्नों से वह जिस किसी तरह स्वार्थ की दलदल से बाहर निकल पाता है। इसीलिए एक रीढ़हीन व्यक्ति के रूप में उसका चित्रण करने में लेखक पूर्णतः सफल हुआ है। श्री कमल कोठारी ने इसी कारण इस पात्र के सम्बन्ध में लिखा है कि—"इस दुर्बल चरित्र का चित्रण प्रेमचन्द ने बहुत ही सबल कलम और विश्वास के साथ किया है।"[२०] रमानाथ की तुलना में 'गोदान' का होरी अन्त में हारा अवश्य है, किन्तु अपने दृढ़संकल्प व्यक्तित्व के कारण वह रमानाथ से कहीं अधिक सशक्त एवं प्रभावशाली है।

प्रस्तुत उपन्यास का दूसरा प्रमुख पात्र जालपा है। वह जमींदार के कारिंदे की इकलौती बेटी है। चारों ओर के वातावरण के कारण आभूषण-लालसा के अंकुर बचपन में ही उसके मन में अंकुरित हो गये हैं। वह चन्द्रहार के पीछे इतनी पागल है कि उसे देह में आँख के समान चन्द्रहार का महत्त्व लगने लगता है। विवाह के बाद चन्द्रहार पाने पर ही उसमें पतिसेवा का भाव उदित होता है। आभूषण लालसा के इतना प्रबल होने के बावजूद उसमें एक अन्य गुण ऐसा है, जिसके कारण उसके व्यक्तित्व में विकास की सशक्त सम्भावनायें विद्यमान थीं। वह गुण है अस्मिता। इसी गुण के कारण आत्म-सम्मान के लिए बाधक समझकर गहनों की चोरी के बाद माता के द्वारा भेजे गये चन्द्रहार को जालपा ने लौटा दिया था। इसी के कारण गबन के बाद रमानाथ के लापता हो जाने पर मैके के आश्रय में नहीं चली गई। इसी के कारण अपने गहने बेचकर गबन की रकम भर देने के बाद उसे गर्वमय हर्ष का अनुभव हुआ। अस्मिता के कारण ही विलासिता की निर्बलता पर वह सहज ही विजय पा सकी। वैभवविलास की उसकी अभिलाषाएँ ज्यों-की-त्यों बनी रहीं और उसने इन अभिलाषाओं को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के हिपोक्रेटिक बड़प्पन का प्रदर्शन भी नहीं किया, किन्तु किसी का अनभल करके स्वर्ग राज्य पाना उसे स्वीकार नहीं है। वह खून से तर रोटियाँ खाने की अपेक्षा कुलीगीरी करना अधिक श्रेष्ठ समझती है।[२१] इसीलिए समय पड़ने पर इस 'प्राउड लेडी'[२२] ने प्रदर्शन-प्रियता से सर्वथा मुक्त होकर मौत की सजा पाये हुए दिनेश की निराश्रित माता की सेवा की है। अस्मिता के स्फुलिंग प्रज्वलित होकर उसे जागृत नारीत्व का प्रतीक बना दिया है। इसीलिए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि—"जालपा भारत का उगता

हुआ नारीत्व है।"[१८]

जाल्पा के व्यक्तित्व में प्रेम की योग्यता भी मूलतः ही है। वह वेश्या की तरह पति को नोच-खसोट कर अपनी वैभवलालसा को तृप्त करना नही चाहती। उसकी वैभवलालसा के परिणामस्वरूप गबन करने तक पहुंचने की नौबत नही आती, अगर रमानाथ, जाल्पा पर विश्वास करके अपनी परिस्थिति को पहले से ही स्पष्ट कर देता। उसके विपरीत सखियों को लिखे गये पत्रों में की गई पतिनिंदा को विश्वास के कारण अपने पति के सामने खुद होकर स्वीकार कर लेती है। पति-प्रेम के कारण ही वैभवलालसा के होते हुए भी वह रमा को अपने निजी रुपये आवश्यकता पड़ने पर सौंप देती है। वह वैभवलालसा को पतिप्रेम में बाधक एवं पतिवियोग के कारण रूप में जानते ही प्रसाधन-विलास की वस्तुओं को गंगा में बहा डालती हैं। इसी के बाद उसके नवजीवन का आरम्भ होता है। वह मिथ्या का परित्याग करके सत्य के मार्ग पर चल पड़ती है। इसी मार्ग पर चलकर ही वह विलासिनी से त्यागिनी एवं देवी बनी है। जाल्पा का यह देवत्व का विकास मानवत्व के विकास का रूप है। यह मानवत्व से बाहर की वस्तु नहीं है, इसीलिए मानव सुलभ भावनाएं उसमें बनी रही है।[१९] वह रमानाथ को स्वार्थपरता के कारण पशु से भी बदतर कहकर भी उसे आग में झोंकने के लिए तैयार नहीं है।[२०] गंगा की भरी बाढ़ में डूबते हुए व्यक्ति को बचाने से रोकती है। मानवप्रकृति की इस स्वाभाविक कमजोरी ने उसके चरित्र को निस्पंद देवचरित्र होने से बचा लिया है। व्यक्तित्व के इन केन्द्रीय गुणों के अतिरिक्त जालपा सूझबूझ, बुद्धिचातुर्य आदि अनेक अन्य गुण जालपा के चरित्र में हैं।

'सेवासदन' और 'निर्मला' के समान 'गबन' नायिकाप्रधान उपन्यास है। 'गबन' की नायिका प्रधानता शेष दो उपन्यासों की नायिकाप्रधानता से भिन्न कोटि की है। सुमन और निर्मला के समान आधिकारिक कथा का सर्वप्रमुख पात्र होने के कारण ही जालपा नायिका नहीं है, अपितु परिस्थितियों को अपना अनुगमन करने के लिए बाध्य करने के कारण भी वह नायिका है। सुमन की तरह उसका विद्रोह क्षणिक नहीं है और न ही निर्मला की तरह अगतिक होकर घुट-घुटकर मरी है। उसका विद्रोह तात्कालिक कारणों से प्रेरित नहीं है। अतः वह प्रेमचन्द के साहित्य की वह अमर नारी है, जिसने अच्छे या बुरे पति को देवता मानकर उसका अनुगमन मात्र करने से इनकार कर दिया है। इतना ही नहीं उसने प्रतिगामी पति को अपना अनुगामी बनाकर छोड़ा है। उसी के हृदयपरिवर्तन से कथा का विकास हुआ है। उसके इस हृदयपरिवर्तन के मूल में जो क्रांतिकारी सामाजिक बोध है, वह प्रेमचन्द की किसी भी नायिका में नहीं है। 'गबन' के स्थान' पर प्रस्तुत उपन्यास का नामकरण यदि 'जालपा' कर दिया जाये, तो अधिक उचित होगा। दो कथानकों को

मिला दिये जाने के कारण 'गबन' नामकरण म जो अपूर्णता प्रतीत होने लगती है उसे दूर करने के लिए 'गबन' का अर्थ 'गुणों का गबन'[१८] आदि करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुत उपन्यास का विकाससूत्र जालपा के चरित्र विकास के साथ जुडा हुआ है। जालपा ही प्रयाग और कलकत्ते के कथाविकास की सूत्र-धारिणी है।

'गबन' उपन्यास का तीसरा प्रमुख पात्र देवीदीन है, जो पताका कथानक का नायक है। वह खटिक नामक निम्न जाति का व्यक्ति है, पर उसका चरित्र इस बात का प्रतीक है कि आत्मा की उच्चता जाति पर निर्भर नही है। शोषित समाज का व्यक्ति होने के कारण वह समाजशोषकों के रूप से भलीभांति परिचित है। वह इस बात को जानता है कि पाप का धन पचाने के लिए ही शोषक समाज ने दान धर्म के रक्षक कवच का निर्माण किया है।[१९] वह शोषण प्रक्रिया को समाप्त करने के उद्देश्य से ही स्वदेशी का समर्थन करता है। स्वदेशी की खातिर उसके दो जवान बेटों की बलि चढ गई है। इसके बाद से उसके घर मे विदेशी दियासलाई तक नही आती। विलायती शराबें पीकर विलायत का घर भरने वाले स्वदेशी आन्दोलन के नेताओं की पोल से वह खूब अच्छी तरह से परिचित है। ये ढोंगी नेता ही अगर स्वराज्य के रहेंगे, तो वे अपने भोगविलास के लिए साधारण जनता पीसकर पी जाएँगे,[२०] इसे उसने अपनी पैनी दृष्टि से सन् १९३० म ही देख लिया है। वकील, अफसर और पुलिस वाले स्वराज्य की लूट करेंगे, इस बात की आशका व्यक्त की है। देवीदीन के स्वराज्य विषयक चितन म स्वय लेखक का ही चितन व्यक्त हुआ है। देवीदीन के धन से ही अन्त म प्रयाग के पास नैनी खरीदी गई है, जिस पर उसका एव रमानाथ का समस्त परिवार ही नही, अपितु निराश्रित रतन एव समाज से बहिष्कृत जोहरा भी रहते हैं।

देवीदीन हँसोड प्रकृति का व्यक्ति है। अपने बेटों और बहुओं को खोने के दुःख को भुलाकर उसके व्यक्तित्व को स्वस्थ एव सहज बनाये रखने मे उसकी इस प्रकृति ने भी कवच का काम किया है। "जो दूसरों का गला काटे उसको जहर दे देना भी पाप नही है"[२१]—कहने वाला देवीदीन कच्चे दिल के रमा के प्रति कठोर हो नही पाता, क्योंकि पुत्रहीन हो जाने की स्थिति ने उसकी कठोरता को गला दिया है। पुत्रतुल्य रमानाथ के प्रति उसकी ममता बढ़ पडी है। वह उसकी असहाय दशा मे अकारण ही सहायक बन जाता है। पुत्रहीनता ने उसके हृदय की विशालता को और भी अधिक बढा दिया है। उदात्तीकरण ने उसके व्यक्तित्व को और भी अधिक समाजोपयोगी बना दिया है। उसकी अकारण ममता का सहारा पाने वाला रमानाथ उसके सम्बन्ध मे कहता है कि—"तुमने ऐसे गाढे समय मे बाँह पकडी जब मै बीच धार मे बहा जा रहा था।"[२२]

जग्गो और देवीदीन में गहरा प्रेम है। जग्गो का देवीदीन के पियक्कड़पन पर उलाहने देना निःशब्द प्रेमधारा का ही परिवर्तित होकर अभिव्यक्त हुआ रूप है। नेक और परदुःखकातर देवीदीन इस उपन्यास का अविस्मरणीय पात्र है।

रमानाथ, जालपा और देवीदीन, इन तीन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त जग्गो, जोहरा और रतन, ये तीन पात्र द्वितीय स्तर के प्रमुख पात्र हैं। जग्गो का बुढ़ापे में भी गहनों से मन नहीं भरा है। वह साग-सब्जी की दुकान चलाती है और घर की व्यवस्था का भार उसी पर है। बेटों को खोने के कारण उसके दिल को गहरा आघात पहुँचा है। उसके अतृप्त वात्सल्य ने अपने बेटों की लकड़ी की बनी मुदगर की जोड़ी में जीवन डाल दिया है। वह रमानाथ के मुखबिर बनने के दुष्कर्म से चिढ़ कर कहती है कि—"अगर तुम मेरे लड़के होते तो तुम्हें जहर दे देती।"[२९] किन्तु इसके बावजूद उसका मातृवात्सल्य रमानाथ के लिए तड़प उठता है।

रतन की कथा उपन्यास में प्रकरी कथा के रूप में आई है। माता-पिता की सुखद छाया से वंचित रतन का विवाह एक वृद्ध वकील से कर दिया गया है। उसे पति की जीवितावस्था में वैवाहिक सुख नहीं मिल पाया है और पति की मृत्यु के बाद हिन्दू समाज की संयुक्त परिवार के उत्तराधिकार के नियमों के कारण वैभव से भी वंचित हो जाना पड़ा है। पति की जीवितावस्था में वह अपनी वैवाहिक सुख की अतृप्ति वैभवलालसा में बहला लेती है किन्तु वैधव्य की विपन्नावस्था में उसके पास सिवाय रोने के और कोई सहारा नहीं रहा है। विवाहसुख की क्षतिपूर्ति के रूप में उसका मन जालपा की ओर आकृष्ट हुआ है और वह संतति के अभाव के दुःख को पड़ोस के बच्चों के साथ खेलकर यत्किंचित् मात्रा में कम कर पाती है। गबन की घटना के बाद रमानाथ के लापता हो जाने के बाद जालपा के प्रति उसका सहज बहिनापा प्रकट हुआ है। वह उसके साथ गेहूँ पीसते हुए, चक्की का गीत गाते हुए, जीवन के श्रमजन्य आनन्द में अपने दुःख को डुबो देती है। मानिनी होने के कारण भतीजे के पास दीन होकर रहने के स्थान पर मजदूरी करके जीवन-निर्वाह करना उसे अधिक पसन्द है। पीड़ा को भोगकर पराई पीड़ा को समझने की शक्ति उसमें आ गई है। जालपा को उसके जितना सहानुभूति का सहारा किसी अन्य से नहीं मिला है। मरणनिकट पहुँचे हुए अपने वृद्ध पति से वसीयत के रूप में अपने लिए कुछ न लिखा लेना उसके हृदय की उच्चता का प्रमाण है।

जोहरा एक वेश्या है, जिसे पुलिस वालों ने रमानाथ को विवेकविमुख बनाए रखने के लिए नियुक्त किया है; किन्तु जोहरा का प्रेम पाने के लिए लालायित मन रमानाथ की सरलता से आकृष्ट हो जाता है। किसी के प्रति अपने प्रेम को समर्पित करने की इच्छा ने रमानाथ को 'अनुरागरत्न' का रूप दे दिया है। उसका पाक प्रेम ईर्ष्या के कलंक से सर्वथा मुक्त है, इसीलिये वह रमानाथ को सन्मार्ग पर लाने के

लिए जालपा की सर्वतोभावेन सहायता करती है। उसे रमा पर तरस आता है। इसीलिऐ वह समझती है कि रमानाथ को मरहम की जरूरत है, जंजीरो की नही। काजल की कोठरी मे रहकर भी उसका हृदय निष्कलक बना हुआ है इसीलिए रमानाथ को अधकारवत् समझी गई एक वेश्या की ओर से प्रकाश मिला है। उसका निष्कपट प्रेम रमानाथ को जालपा के हाथो सौंप कर और भी अधिक उदात्त एव व्यापक रूप मे प्रकट हुआ है। इसी उदात्तता एव व्यापकता के कारण वह अपने जीवन को धोखे मे डालकर बहके हुए अन्जान व्यक्ति को बचाने के लिए उसे विवश कर देता है और वह इसी प्रयत्न मे बह जाती है। जोहरा के उपकार के कारण कृतज्ञ रमानाथ कहता है कि—'*तुमने उस वक्त मुझे समाला, जब मेरे जीवन की टूटी* हुई किश्ती गोते खा रही थी।'[१९] पर दुख यह है कि जोहरा के अतृप्त प्रेम को कोई किनारा न मिल सका। उसका अभिशप्त प्रेम उसे वेश्या से विधवा ही बना सका।

हिन्दी उपन्यास-जगत् के पात्रो मे प्राण फूंकने का सर्वप्रथम श्रेय मुशी प्रेमचद को ही है। जीवन्त बन जाने के कारण उनके पात्र स्वय बोलने लगे हैं। उनकी ओर से लेखक को बोलने की आवश्यकता बहुत कम हो गई है। 'गबन' मे इसी कारण दो तिहाई भाग सवादमय है। *गबन के उत्तरार्ध के कुछ दीर्घ सवादो को अपवादा*-त्मक भाग छोड दें, तो यह दिखाई देता है कि सवाद स्वाभाविक एव छोटे हैं। सवादो की प्रसगानुकूलता के उदाहरण के तौर पर रमानाथ द्वारा गहने लाने पर सोने से पूर्व पति पत्नी के बीच हुए प्रेमालाप को देखा जा सकता है।[२०] दरोगा के सवादो मे 'धरम' आदि शब्दरूप स्वाभाविक रूप मे आये हैं तथा डिप्टी के सवादो मे 'प्राउड लेडी' आदि सहज ही आ गए हैं। टीमल पूर्वी हिन्दी के देख लेव जैसे स्वाभाविक प्रयोग करता है, पर उसके मुख से 'हल्फ से कहता हूं' जैसे वाक्य प्रयोग खटकते हैं। सवादो मे ही नही, अपितु वर्णनो म भी छोटे-छोटे वाक्यो का प्राय प्रयोग हुआ है।

प्रेमचन्द ने बोल-चाल मे प्रयुक्त होने वाले उर्दू अग्रेजी आदि के शब्दो का प्रयोग करने में सकोच नही किया है। गबन की भाषा म उर्दू का प्रभाव कुछ अधिक ही है, क्योंकि यह कायस्थ परिवार की कहानी है। कायस्थ समाज मुस्लिम सस्कृति से बहुत अधिक प्रभावित रहा है। उनमें उर्दू के अध्ययन का शौक भी पर्याप्त है। इसीलिए 'गबन' जैसे अनिवार्य शब्दो के अतिरिक्त 'पाकीजा' जैसे अल्पप्रचलित उर्दू शब्दो का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग हुआ है। अदालत के प्रसग मे तो 'मुखबिर' जैसे उर्दू शब्दो का आना अनिवार्य ही था। 'गबन' मे डॉक्टर कमलकिशोर गोयनका के अनुसार १७० अग्रेजी शब्दो का प्रयोग हुआ है। इस्पेक्टर, डाक्टर आदि शब्द हिन्दी मे प्रचलित हैं। भाषा की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द की भाषा मे

'हिन्दीपन' पूर्णतः है। हिन्दी का प्रवाही रूप मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से व्यक्त हुआ है। 'मियाँ की जूती मियाँ के सिर'; 'साँड के सौ खेल' आदि प्रयोग उन्होंने किए हैं। हिन्दी में मुहावरों की शक्ति को सबसे अधिक प्रेमचन्द ने ही पहचाना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'दौगड़ा'; 'लवडिया' आदि ठेठ हिन्दी के सहज प्रयोग भी किए हैं। उनके पात्रों के नाम भी हिन्दी भाषी प्रदेश में पाये जाने वाले बहुप्रचलित नाम हैं। इसीलिए उन्हें एक लेखक ने 'नामसंस्कार' का सर्वश्रेष्ठ पुरोहित[९] कहा है।

'गबन' के एक-तिहाई आत्मकलेवकत्व के भाग में प्रेमचन्द के वर्णन-विवरण का सामर्थ्य दिखाई देता है। इतिवृत्त की रोचकता को देखने के लिए उदाहरण के रूप में दीनदयाल के परिचय को लिया जा सकता है, जिसमें जमींदार के कारिंदे की महत्ता पर व्यंग्य करते हुए वे लिखते हैं कि दीनदयाल किसान न होते हुये भी खेती करते थे और अफसर न होते हुए भी शासन करते थे।[१०] विरोधाभासयुक्त इस वर्णन द्वारा परिस्थिति के शोषक रूप पर विदारक प्रकाश डाला है। प्रेमचन्द की भाषा में अनायास उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का समावेश हुआ है। विशेषतः प्रकरणगत अर्थान्तरन्यास के रूप में प्रयुक्त सूक्तियों के कारण प्रेमचन्द की भाषा शैली अत्यधिक सुन्दर एवं प्रभावशाली बन गई है। "प्रेम अपने उच्चतम स्थान पर पहुँच कर देवत्व से मिल जाता है"[११]; "मनोव्यथा साँप की भाँति अन्दर घुट कर असह्य हो जाती है"[१२] जैसी सूक्तियाँ उपन्यास में सर्वत्र हैं। संवाद, भाषा और शैली की दृष्टि से 'गबन' सफल उपन्यास है।

उपन्यासकला के तत्त्व के रूप में देशकाल पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। देशकाल संबद्ध युगीन चेतना के रूप में प्रारम्भ में विचार किया गया है। स्वदेशी, स्वराज्य, पुलिस के हथकंडे आदि से सम्बद्ध समस्याओं का उपन्यास पर प्रभाव स्पष्ट है। देशकालविषयक दूसरा स्वरूप उस देश और काल से संबद्ध है, जिसमें उपन्यास जगत् की घटनाएँ घटित होती हैं। यद्यपि गबन उपन्यास की कथा का आद्यन्त काल तेरह वर्षों का है, तथापि 'सात वर्ष कट गए' और 'तीन साल गुजर गए' कह कर उपन्यास में दस वर्षों के काल को उल्लिखित मात्र कर दिया गया है। वस्तुतः सम्पूर्ण उपन्यास केवल ६२ दिनों की कहानी है और ये दिन दो वर्ष दो मास के काल में बिखरे हुए हैं। उपन्यास का घटनास्थल स्थूलतः पूर्वार्ध में प्रयाग है और उत्तरार्ध में कलकत्ता। अन्तिम परिच्छेद में इन दो नगरों के अतिरिक्त प्रयाग के समीपस्थ अनाम स्थान पर रमानाथ आदि जाकर रहते हैं। देश और काल के चित्रण की ओर लेखक ने ध्यान नहीं दिया है, क्योंकि लेखक का उद्देश्य चरित्रों के माध्यम से सामाजिक समस्याओं को उद्घाटित करना रहा है।

प्रस्तुत निबन्ध के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उपन्यास

की प्रमुख समस्या विशोषणा से सम्बद्ध है । इसी समस्या से सम्बन्धित जमींदारी व्यवस्था के अन्यायपूर्ण शोषण, पूँजीवादी वर्ग द्वारा शोषण से प्राप्त धन को पचाने के लिये दान-धर्म का आश्रय, निम्न मध्यमवर्ग को मिलने वाला अपर्याप्त वेतन, अल्प वेतन के कारण निम्न वर्गों मे कर्ज लेने की प्रवृत्ति या रिश्वत लेने की मजबूरी आदि मुख्य समस्या से सम्बद्ध उपांगों का प्रसगत स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है । आर्थिक विपन्नता से उत्पन्न हीनता को छिपाने के लिये प्रदर्शनप्रियता का प्रसार निम्न मध्यमवर्ग के लिए अत्यन्त ही अपायकारक सिद्ध हुआ है । अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से वृद्धिगत हुई वैभवलालसा ने इस प्रदर्शनप्रियता को अत्यधिक सीमा तक बढ़ा दिया है, जिसके परिणामस्वरूप गबन की घटनाएँ समाज में आम हो गई हैं । चादर देख पाँव न फैलाने के कारण रमानाथ का विपत्तिचक्र में फँसना पड़ा । लेखक ने विशो-षणा के क्षेत्र की ही अर्थशोषण से सम्बद्ध विदेशी शासन की समस्या को उपन्यास के उत्तरार्ध का विषय बनाया है । स्वदेशी और स्वराज्य की आवश्यकता शोषण से मुक्ति पाने के लिये है ।

'गबन' उपन्यास में स्त्रियों से सम्बद्ध समस्याएँ भी बहुत बड़े अंश में अर्थ से सहज ही जुड़ी हुई हैं । अर्थोत्पादन की दृष्टि से परतन्त्र मध्यम वर्ग की स्त्रियों का आभूषण लालसा से ग्रस्त होना स्वाभाविक ही है । दहेज न दे सकने की विव-शता के कारण रतन जैसी मुग्धा स्त्रियों का वृद्धों के पल्ले में पड़ना आश्चर्य की बात नहीं है । संयुक्त परिवार के उत्तराधिकार सम्बन्धी अन्यायकारक कानून के कारण विधवा स्त्री का दुर्दशाग्रस्त बनना भी आर्थिक समस्या का ही अंग है । समाज में वेश्या समस्या भी मूलतः आर्थिक है । लेखक ने इस दृष्टि से उस ओर संकेत नहीं किया है । इसके अतिरिक्त रूढ़िगत विचारों के कारण कठिन बनी हुई वेश्याओं की समस्या का समाधानकारक उत्तर देने से लेखक ने अपने को बचा लिया है । वेश्या व्यवसाय से विरक्त होकर सन्मार्ग पर चलने के लिए दृढ़ संकल्प जोहरा के लिए लेखक ने समाज में स्थान दिलाने के लिए कुछ नहीं किया है । वह समस्या से कन्नी काट कर–जोहरा को विधवा दिखाकर निकल जाता है । संभवतः जोहरा को समाज में यथोचित स्थान दिलाने में असमर्थ होकर ही उसने जोहरा को बाढ़ के पानी में बहाकर छुटकारा पा लिया है ।

मुंशी प्रेमचन्द शोषितों के लेखक हैं । समाज में शोषित वर्ग के समान घर-घर में शोषित व्यक्ति भी हैं । समाज का तथाकथित बरीयअर्धांग (Better half) इतरअर्धांग के अत्याचारों के कारण युगों-युगों से अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य है । इस अभिशप्त जीवन से मुक्ति पाने के लिए पुरुषों द्वारा संचालित स्त्री आन्दो-लना की अपेक्षा स्वयं अस्मितासम्पन्न स्त्रियों के द्वारा अपने पैरों पर खड़े होने के प्रयत्न कहीं अधिक महत्व के हैं, स्थायी उपाय हैं । आत्मनिर्भरता के अभाव में प्राप्त

सुख-सुविधाएँ पुरुषों की सद्भावना और दया पर आश्रित हैं। सब प्रकार की सुविधाओं के मिलने पर भी यह स्थिति अस्मिताहीन दयनीयता की स्थिति हैं। किसी का साधन बन कर जीने की स्थिति है। सुखसुविधाओं पर लात मार कर अपने ही कष्ट और श्रम पर निर्भर होने पर ही इस स्थिति से मुक्त बना जा सकता है। बिना मरे स्वर्ग कैसे पाया जा सकता है? जालपा ने अपने क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के द्वारा यही संदेश दिया है। विभिन्न दोषों के बावजूद 'गबन' की महत्ता इसी बात में है। प्रेमचन्द के सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य मे जालपा का महत्त्व इसी कारण है। इस दृष्टि से वह प्रेमचन्द के उपन्यास संसार की अद्वितीय नारी है। कोख के अँधेरे से कौमार, यौवन और वार्धक्य मे क्रमशः पिता, पति, और पुत्र से रक्षा पाने के लिये परमुखापेक्षिणी बन कर मृत्यु के अंधकार में डूब जाने वाली नारी के लिए एकमात्र प्रकाश का दीपक जालपा का आत्ममर्यादा से प्रदीप्त जीवन ही है। नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय।

टिप्पणियाँ

१. साहित्य का उद्देश्य (प्र. संस्करण)—ले० प्रेमचन्द, पृ० ९४
२. गबन, पृ० १२१
३. प्रेमचन्द (द्वि० संस्करण)—ले० श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, पृ० ४५
४. हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग (प्र० संस्करण), पृ० ३७७
५. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन, पृ० ६५
६. प्रेमचन्द और उनका युग (१८३७ ई० का संस्करण), पृ० ७३
७. गबन, पृ० २७
८. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० ३६
९. प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ४८४]
१०. साहित्य का उद्देश्य, पृ० ४५
११. गबन, पृ० १२८
१२. गबन, पृ० ३१५
१३. गबन, पृ० २५५
१४. गबन, पृ० २९७
१५. प्रेमचन्द के पात्र (प्रथम संस्करण), पृ० १८७
१६. गबन, पृ० २७४
१७. गबन, पृ० २७४
१८. प्रेमचन्द और उनका युग (१९६७ ई० का संस्करण), पृ० ७०
१९. गबन, पृ० १६१
२०. गबन, पृ० ३०८

२१ प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिल्पविधान—ले० डॉ० कमलकिशोर गोयनका, पृष्ठ ४०७
२२ गबन, पृ० १६१
२३ गबन, पृ० १७२
२४ गबन, पृ० २३४
२५ गबन, पृ० १६७
२६ गबन, पृ० २०५
२७ गबन, पृ० २९०
२८ गबन, पृ० २२
२९ प्रेमचन्द के पात्र, पृ० ३२
३० गबन, पृ० २
३१ गबन, पृ० ३०९
३२ गबन, पृ० २८

—

चित्रलेखा : पाप के रहस्य की खोज में

डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे

'ससार मे पाप कुछ भी नही है । मनुष्य अपना स्वामी नही है, वह परिस्थितियो का दास है ।"

"हम न पाप करते है और न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते हैं, जो हमें करना पडता है ।'

"स्त्री शक्ति है । वह सृष्टि है, यदि उसे सचालित करने वाला व्यक्ति योग्य है, वह विनाश है, यदि उसे सचालित करने वाला व्यक्ति अयोग्य है ।"

"कामनाओ की पूर्ति से सम्बन्धित पाप पुण्य विषयक समस्या को 'चित्रलेखा' मे स्पष्ट करने का प्रयत्न श्री भगवतीचरण वर्मा ने किया है ।"

२

चित्रलेखा

पश्चिमी संसार के संपर्क के फलस्वरूप भारत में आधुनिकता का प्रसार प्रारम्भ हुआ। इस आधुनिकता की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा हैं। इन प्रवृत्तियों के कारण ही आधुनिक काल मध्यकाल से पृथक पहचाना जाता है। ज्ञाननिष्ठा या बुद्धि प्रामाण्य की प्रवृत्ति मध्यकाल की शास्त्र प्रामाण्य की प्रवृत्ति की विरोधिनी है। शास्त्रप्रामाण्य श्रद्धा या विश्वास पर बल देता है तथा "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" ही नहीं कहता, अपितु "संशयात्मा विनश्यति"[1] पर भी बल देता है इसके विपरीत बुद्धिप्रामाण्य सात्त्विक संशय को अंधविश्वासों की खाई में गिरने से बचने के लिए अनिवार्य समझता है। शास्त्रवादी और बुद्धिवादी दोनों ही भिन्न-भिन्न रूप में ज्ञान की महिमा को मान्य करते हुए भी कर्म के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न ढंग से विचार करते हैं। शास्त्रवादी के अनुसार ज्ञान संसार की पवित्रतम वस्तु है तथा यह कर्मबन्धनों को भस्मसात् करने का एक मात्र उपाय है। उसके विपरीत बुद्धि-वादियों के अनुसार ज्ञान मनुष्य को अनन्त सम्भावनाओं से परिचित कराता है। अनन्त सम्भावनाओं के परिचय के साथ मनुष्य में अनन्त कामनाएँ जग जाती हैं। इसीलिए ऋग्वेद ने मनुष्य के लिए कहा है कि—"पुरुकामो हि मर्त्यः"[2] अर्थात् मनुष्य बहुकामनावान् है। अनन्त सम्भावनाओं और अनन्त कामनाओं के कारण मनुष्य अपूर्णता की पीड़ा से त्रस्त और व्यस्त हो उठता है। अपूर्णता की पीड़ा से स्पन्दित होकर वह परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने के लिए जुट जाता है। अपूर्णता से पूर्णता की ओर सतत गतिशील रहने के लिए किए गए संघर्ष ने ही मनुष्य को ऐतिहासिक प्राणी कहलाने का अधिकार प्रदान किया है। ऐतिहासिक प्राणी के नाते किए गये संघर्ष ने मानव-संस्कृति को जन्म दिया है।

मनुष्य की कामनाएँ अनन्त हैं। इन कामनाओं को पूर्ण करने के लिए मनुष्य को दो प्रकार की बाधाओं से संघर्ष करना पड़ता है। प्रथम प्रकार की बाधाएँ प्राकृ-

तिक है । प्राकृतिक परिस्थितियों की असुविधाओं को दूर करने के लिए मनुष्य ने सभ्यता का विकास किया है। द्वितीय प्रकार की बाधाएँ सामाजिक है । सामाजिक बाधाओं को कम करने के लिये मनुष्य ने संस्कृति का विकास किया है । सामाजिक क्षेत्र मे एक से अधिक मनुष्यों की समान कामनाओं मे सघर्ष स्वाभाविक है । आहार-निद्रा भय मैथुन आदि के पशुसामान्य धरातल से ऊपर उठ कर सघर्ष को दूर करने वाली संस्कृति का विकास किया जा सकता है । संस्कृति ही पशु और मनुष्य के बीच का भेदक तत्व है । सास्कृतिक सपन्नता के अभाव मे सभ्यता का वैभव मौत का घाट बन कर रह जाता है । सामाजिक सम्बन्धों को समाजधारणा के अनुकूल नियन्त्रित करने के लिए नीतिनियमो का निर्धारण तर्क के आधार पर किया जाता है । समाज का नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों और व्यक्ति समूहो द्वारा निर्धारित नीति नियम विरोधी तर्को के कारण अस्थिर न बने रहे, इसीलिए उन्हे धार्मिक विश्वास का आधार दिया जाता है । इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य चाणक्य ने धर्म को समाज निर्मित बतलाया है । परिस्थितिया के बदलने के साथ नीति-नियमो मे समय-समय पर स्मृतिकारो ने परिवर्तन किया है । इन्ही परिवर्तनो के कारण शास्त्रप्रामाण्य के मानने वाले लोग दिग्भ्रमित बन जाते है । "श्रुतयो विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम्" की स्थिति मे भी मुनिविशेष के शास्त्र को प्रमाण मानकर चलने की परम्परा अधश्रद्ध समाज मे चल पडती है । ज्ञान विज्ञान के प्रसार के साथ यह परम्परा खतरे मे पड जाती है । बड़े-बडे विचारक कर्म और अकर्म, पुण्य और पाप का निर्धारण करते समय चक्कर मे पड जाते हैं । यदि यह कहा जाय कि सज्जनो को पाप-पुण्य का निर्धारण करते समय अन्त करण को प्रमाण मानना चाहिए, तो वह भी ठीक नही कहा जा सकता, क्योकि अन्त करण या अन्तरात्मा समाज द्वारा निर्मित होती है । आचार्य चाणक्य ने इसे भली-भाँति विशद किया है ।

कामनाओ की पूर्ति से सम्बन्धित पाप पुण्य विषयक समस्या को 'चित्रलेखा' मे स्पष्ट करने का प्रयत्न श्री भगवतीचरण वर्मा ने किया है । मनुष्य जीवन मे कामनाएँ अनन्त है । इन कामनाओ को सहज ही दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है । कुछ कामनाएँ अस्तित्वरक्षा से सम्बन्धित हैं तथा कुछ सुरक्षा के बाद जीवन भोग से सम्बन्धित । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हे आनन्द की साधनावस्था और आनन्द की सिद्धावस्था की कामनाएँ माना है । प्रस्तुत उपन्यास मे केवल आनन्द की सिद्धावस्था के काम सम्बन्धो पर ही पापपुण्य की दृष्टि से विचार किया गया है । इसका यह अर्थ नही कि पापपुण्य का एकमेव क्षेत्र काम सम्बन्धित ही है ।

मनुष्य के जीवन मे काम का स्वरूप विचित्र है । उसके सम्बन्ध मे यह धारणा प्रचलित रही है कि उपभोग के द्वारा काम को शान्त नहीं किया जा सकता ।

काम का उपभोग घी की आहुति की तरह कामाग्नि को और भी अधिक भड़का देता है। इसीलिए काम के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही यह धारणा रही है कि जिस प्यास को बुझाया नहीं जा सकता, उसे बुझाने के प्रयत्न में जीवन को क्यों बरबाद किया जाए। क्यों न, सच्चे परलोक सुख को पाने के लिए साधना की जाए। कुमारगिरि इसी मत का समर्थक है। उसकी दृष्टि में 'वासना पाप है', क्योंकि वासना के कारण ही मनुष्य पाप करता है। "वासना के होते हुए ममत्व प्रधान रहता है।"[१] और ममत्व के भ्रांतिकारक आवरण के रहते हुए आनन्द का पाना असम्भव है। कुमारगिरि को यह भी पता है कि "इच्छाओं का दबाना उचित नहीं", किन्तु उसकी यह धारणा है कि इच्छाओं को निर्मूल कर देने के बाद इच्छाओं को दबाने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह वासना के स्थान पर साधना का उपासक है। उसकी दृष्टि में "जीवन की उत्कृष्टता वासना से युद्ध करने में है।"

कुमारगिरि का वासना-विषयक विरागपरक दृष्टिकोण अस्वाभाविक है, क्योंकि यह नकारात्मक है। यदि इस विराग को ईश्वरानुराग का पर्याय भी मान लिया जाए, तो भी वासनाओं का हनन जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के प्रतिकूल है। यदि ईश्वरानुराग को ही अपनाना है, तो भी शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शरीर की क्षुधा स्वाभाविक रूप से यदि शान्त न की जाए, तो वह ईश्वरानुराग में चित्त को केन्द्रित ही नहीं होने देगी। इसीलिए संत कबीर ने कहा है—"कबीर क्षुधा है कूकरी करत भजन में भंग। या को टुकरा डारिकै भजन करो निस्संग।" आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दबाना घातक है। उसके अनुसार साधना के मार्ग पर ही अग्रसर होना हो, तो मनुष्य को जनक की तरह विदेह बनना चाहिए, शृंगी ऋषि नहीं। जनक बनने पर ही वासनामय संसार के बीच रहते हुए भी वह वासनाओं से अनासक्त बना रह सकता है। कुमारगिरि ने जनक बनने की अपेक्षा शृंगी ऋषि बनना चाहा और जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का विरोध करने का फल उसे भुगतना पड़ा। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ अस्वाभाविक रीति से दबा दी जाने पर विकृत रूप में फूट कर बाहर आ जाती है। इसीलिए कुमारगिरि वासना को दबाकर ममत्वहीन बनना चाहते हुए भी ममत्व का बुरी तरह से शिकार हो जाता है। उसकी सारी साधना एक तरह से ममत्व की दासता बन कर रह जाती है। उसकी ममत्व के विस्मरण की बात निस्सार सिद्ध होती है, इसीलिए चित्रलेखा कहती है—"वासना के कीड़े,..............तुम अपने लिए जीवित हो—ममत्व ही तुम्हारा केन्द्र है।"[४]

महाप्रभु रत्नाम्बर की यह बात बिलकुल सत्य है—"मनुष्य में ममत्व प्रधान है।" किन्तु यह बात भी उतनी ही सत्य है कि ममत्व का दूसरों तक विस्तार करके

मनुष्य ने अपने को पशुस्तर से ऊपर उठाया है। ममत्व के विस्तार की क्षमता ने ही मनुष्य को 'मनुष्य' बनाया है। मनुष्य के विविध सम्बन्धो मे ममत्व विस्तार का ही विशेष महत्त्व है। मनुष्य के इन विविध सम्बन्धो मे कामसम्बन्ध का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। काम भावना की स्वस्थ पूर्ति भिन्नलिंगी सहयोगी के अभाव मे असम्भव है। आत्मिक सम्बन्ध कई व्यक्तियो से एक साथ सम्भव है किन्तु भिन्नलिंगी व्यक्तियो का कामसम्बन्ध कई व्यक्तियों के साथ सम्भव होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से अव्यावहारिक हो जाता है। इसका पहला कारण तो यह है कि किसी व्यक्ति के साथ एक साथ दो व्यक्तियो का सम्बन्ध सम्भव नहो है। इसलिए कामसम्बन्ध के क्षेत्र मे प्रतिद्वन्द्विता आ सकती है। इस प्रतिद्वन्द्विता या सघर्ष को दूर करने के लिए समाज ने विवाह-सस्था को विकसित किया है। विवाह के द्वारा स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध को चिरस्थायी बनाकर सघर्ष को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। स्त्री-पुरुष के कामसम्बन्ध की एक अन्य विशेषता यह भी है कि यह सम्बन्ध केवल दो व्यक्तियो तक ही सीमित नही होता, अपितु इसके माध्यम से तीसरे व्यक्ति का भी जन्म हो जाता है, जिसका उत्तरदायित्व निभाने का कार्य कामसम्बन्ध की तरह क्षणिक न होकर दीर्घकालीन हो जाता है। इस दृष्टि से भी वैवाहिक सम्बन्ध की स्थिरता एव सामाजिकता महत्त्वपूर्ण है। मृत्युञ्जय ने इसी दृष्टि से बीजगुप्त से कहा है—"विवाह पुत्रोत्पत्ति के लिए होता है । चित्रलेखा की सन्तान बीजगुप्त की सन्तान न होगी और न वह सन्तान बीजगुप्त की उत्तराधिकारी ही हो सकती है।" इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध के औचित्य पर बीजगुप्त ने कोई उत्तर न दिया। तत्कालीन समाज मे प्रचलित अस्वाभाविक जातिभेद या उच्चनीच के भेदभाव के विरुद्ध बीजगुप्त ने कभी विचार ही नही किया था। वह तो केवल इतना ही जानता था कि उसके प्रेम की अधिकारिणी स्त्री चित्रलेखा के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकती। चित्रलेखा मे शास्त्रानुसार विवाहित न होने पर भी वह अपने और चित्रलेखा के सम्बन्ध को पति-पत्नी के सम्बन्ध के समान ही मानता था। आत्मिक सम्बन्ध के लिए एक और सामाजिक उत्तरदायित्व के लिए दूसरे कामसम्बन्ध की बात वह सोच भी न सकता था। प्रेमोत्तर विवाह या विवाहोत्तर प्रेम के विवाद को छोड भी दिया जाए, तो भी यह निश्चित है कि प्रेम से रहित कामसम्बन्ध निरी पशुता है।

चित्रलेखा के कुमारगिरि के पास जाने के बाद भी बीजगुप्त यशोधरा से विवाह करने मे सकोच करता है। उसे इस बात का विश्वास नही है कि वह विवाह के बाद यशोधरा से प्रेम कर सकेगा या नहीं ? तात्कालिक उद्विग्नता के प्रभाव में यशोधरा से विवाह करके यशोधरा के जीवन को अपने सामाजिक उत्तरदायित्व के निर्वाह का साधन मात्र बनाने की उसकी इच्छा नही थी। इसके अतिरिक्त यशोधरा से उसका विवाह करना इसलिए भी अनुचित था कि यशोधरा श्वेतांक को चाहने

लगी थी। उसने श्वेतांक से यह स्पष्टतः कह दिया था—"मैं आर्य बीजगुप्त से प्रेम नहीं करती।" श्वेतांक भी यशोधरा से प्रेम करने लगा था। ऐसी स्थिति में बीजगुप्त का यशोधरा से विवाह करना अनुचित था। कामसम्बन्ध की पहली शर्त यह है कि सहभोक्ताओं में पारस्परिक सौहार्दपूर्ण सहमति हो और सहभोक्ता अपने सम्बन्ध के भावी सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाने की क्षमता और इच्छा रखते हों। इस दृष्टि से बीजगुप्त और कुमारगिरि के कामसम्बन्धों की तुलना की जा सकती है। बीजगुप्त के कामसम्बन्ध इस प्राथमिक शर्त को सब प्रकार से पूरा करते हैं, किन्तु कुमारगिरि के कामसम्बन्ध के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। कुमारगिरि अपने काम की तृप्ति के लिए चित्रलेखा को धोखे में डालकर उसकी सहमति प्राप्त करता है। परिस्थिति के स्पष्ट होने पर चित्रलेखा कुमारगिरि से इसीलिए कहती है—"नीच और झूठे पशु ! अलग रहो।.... तुमने मुझे धोखा दिया।"

कामसम्बन्ध की दृष्टि से एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि असमय का विराग जीवन की भूल है। यह भूल कुमारगिरि ने की है। इसके विपरीत बीजगुप्त ने जीवन की प्रवृत्तियों का भोग सहजता के साथ किया है, इसलिए वह सहजता से उन प्रवृत्तियों से सम्बन्धित पशुता को त्याग सका है। वह श्वेतांक से कहता है—"मैंने इस वैभव को काफी भोगा है—अब चित्त फिर गया है।"[५] बीजगुप्त उन व्यक्तियों में से नहीं है, जो केवल अपने लिए जीते हैं। केवल अपने लिए जीने वालों की पशुता से वह मुक्त है। वह अपने वैभव को दान में देकर यह सिद्ध करता है कि वह उस स्थिति को भी पार कर चुका है, जिसमें कोई व्यक्ति अपने साथ दूसरों के लिए भी जीता है। वह दूसरों के लिए निजी स्वार्थ का परित्याग करके देवत्व को प्राप्त कर लेता है। वैभव का परित्याग करके अकिंचन बन जाने के बाद भी वह चित्रलेखा के प्रेम को भुला नहीं सका है। वह 'प्रेम और केवल प्रेम' के आधार पर सर्वस्व का परित्याग करके घर से निकल पड़ा है। अकिंचनता के प्रति उसका यह आकर्षण इतना अधिक है कि वह चित्रलेखा के अतुल धनवैभव को भी अपनाने से इनकार कर देता है। बीजगुप्त का यह कार्य स्वच्छन्दतावादी आदर्श से प्रेरित है। धार्मिक परम्परा में प्रशंसित अकिंचनता के आदर्श से अनजाने ही प्रभावित है। इस प्रकार का आदर्श जनसामान्य की पहुँच से परे है तथा वह पापपुण्य की समस्याओं के सुलझाने के लिए व्यवहार्यता के क्षेत्र से परे की वस्तु है। इसे आदर्शवाद की भावुकता ही कहा जा सकता है। डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान ने बीजगुप्त के इस विराग या पलायन को रोमांटिक बोध माना है।

महाप्रभु रत्नाम्बर ने श्वेतांक और विशालदेव को पाप का पता लगाने के लिए बीजगुप्त और कुमारगिरि के पास रखा था। इतना ही नहीं, उन्होंने पाप और पुण्य को पहचानने की कसौटी की ओर श्वेतांक का ध्यान भी आकृष्ट करते हुए

कहा था— 'अच्छी वस्तु वही है जो तुम्हारे वास्ते अच्छी होने के साथ ही दूसरों के वास्ते भी अच्छी हो।'[1] अपने अनुभव के काल में श्वेतांक परिस्थितिवश अपनी स्वामिनी से प्रेम कर बैठा। यदि इसे अपराध मान भी लिया जाए तो उसने जिसके प्रति अपराध किया किया था उससे अपना अपराध कह कर अपने अपराध को धो दिया था। इसके अतिरिक्त सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से अपराध की स्थिति कर्म में ही मानी जा सकती है विचार में नहीं। मनुष्य शरीर के रहते हुए शरीरजन्य कमजोरियों से मुक्त नहीं हो सकता। मानसिक दृष्टि से पूर्ण मनुष्य की कल्पना असम्भव कोटि की बात है इसलिए सामाजिकता की दृष्टि से व्यवहार के क्षेत्र की पूर्णता का ध्यान अवश्य रखा जा सकता है। वह स्वतन्त्र विचार वाला प्राणी है। अपनी विचारशीलता के बल पर वह पशुसुलभ प्रवृत्तियों को समाजहित के अनुकूल नियन्त्रित कर सकता है। परिस्थितिचक्र में पड़कर भी वह चक्कर न खाकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार करके परिस्थितियों पर विजय पा सकता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य या पापपुण्य के विचार के बिना मनुष्य अनगढ़ वासनाओं का पशु मात्र बना रहता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य के आत्मसंशोधन के द्वारा वह अनगढ़ वासनाओं को सुगढ़ संस्कार देता हुआ संस्कृति के विकास में सहायक बनता है। आत्मौपम्य की सामाजिक दृष्टि के बिना यह संशोधन या संस्कार सम्भव नहीं है। वह अपनी सृजनशील चेतना के द्वारा विपरीत परिस्थितियों में अपनी संस्कारशीलता बनाए रखने में समर्थ होता है। इसलिए पापपुण्य का पता लगाने के लिए अपने शिष्यों को विजय वन से निकाल कर समाज के सम्पर्क में रखने वाले महाप्रभु रत्नाम्बर का यह कथन सत्य नहीं है कि— संसार में पाप कुछ भी नहीं है । मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है।' वे आगे यह भी कहते हैं कि—'हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते हैं जो हमें करना पड़ता है।'[2] महाप्रभु के इस कथन से उनके शिष्य कहाँ तक सहमत थे, यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु हमारा सहमत होना असम्भव है। यह ठीक है कि व्यक्ति के चरित्र के कारण सामाजिक परिस्थिति में खोजे जा सकते हैं, किन्तु उससे भी अधिक यह सत्य है कि परिस्थिति ही सब कुछ नहीं होती, बहुत कुछ मनुष्य का स्वतन्त्र कर्तृत्व भी होता है। परिस्थिति के परिवर्तन में व्यक्ति का हाथ होता है। यदि मनुष्य परिस्थितियों का ही दास होता, तो मनुष्येतर भोगयोनियों के समान वह भी संस्कृति का विकास करने में अक्षम ही बना रहता। इसके विपरीत उसने परिस्थिति की मृण्मयता पर अपनी चिन्मयता के सहारे विजय पाकर संस्कृति को विकसित किया है। इसे न पहचान पाना महाप्रभु रत्नाम्बर की सीमा है। खुली आँखों से कुमारगिरि की वासनाकुलता को देख भाल कर भी उसे 'अजित' समझना विशालदेव का बुद्धूपन है। पाप पुण्य का सम्बन्ध अगर सामाजिकता से है, तो सामाजिकता की भावना से सम्पन्न कोई

भी व्यक्ति हमारे इस मत से सहमत होगा ही।

प्रस्तुत उपन्यास मे काम सम्बन्ध विषयक जिस दृष्टिकोण वैविध्य को लेखक ने उपस्थित किया है, उसे उपस्थित करते हुए उन्होंने चित्रलेखा को माध्यम बनाया है और इसीलिए उपन्यास का नामकरण भी उन्होंने 'चित्रलेखा' किया है। चित्रलेखा के चरित्र-चित्रण के प्रसंग में हम उसे स्पष्ट करेंगे।

उपर्युक्त कथ्य को अभिव्यक्त करने के लिए लेखक ने कथानक आदि उपकरणों का बड़ी ही सुन्दरता से उपयोग किया है। 'चित्रलेखा' का कथानक लगभग समान आकार के बाईस परिच्छेदो में विभक्त किया गया है तथा प्रारम्भ और अन्त में 'उपक्रमणिका' और 'उपसहार' के भाग हैं। 'उपक्रमणिका' मे समस्या का उपस्थापन किया गया है तथा 'उपसहार' मे समस्या का समाधान दिया गया है। उपन्यास को उपस्थित करने की शैली नीतिकथा शैली है। बड़ी ही योजनाबद्ध पद्धति के साथ बीजगुप्त और कुमारगिरि से सम्बद्ध कथानकों को क्रमशः उपस्थित किया गया है। उपन्यास मे नाटकीयता का समावेश भी हुआ है। चित्रलेखा का कुमारगिरि के आश्रम में पहुँचना इसी प्रकार का है। कुमारगिरि एकांत में प्रकट रूप से ज्यों ही यह कहता है—"...नर्तकी, तुमने मुझसे पराजय स्वीकार की—यह क्यों ?"; त्यों ही चित्रलेखा का यह कहते हुए प्रवेश होता है कि—"इसलिए कि मैं तुमसे पराजित हुई !" इसी प्रकार उपन्यास का अन्त भी रोमांटिक एवं नाटकीय है। अन्त में बीजगुप्त चित्रलेखा को चूमते हुए कहता है—"हम दोनों कितने सुखी हैं।"

कथानक मे कहीं भी अनावश्यक विस्तार नहीं है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार का दार्शनिक विवाद भी बड़े संयम के साथ उपस्थित किया है। केवल बारहवें परिच्छेद में हिमालय यात्रा से सम्बन्धित प्रसंग में रक्तकुंड के रहस्य की घटना का समावेश निरर्थक-सा प्रतीत होता है। इस आश्चर्यजनक घटना के निरर्थक रूप में समाविष्ट किए जाने पर हमें आश्चर्य ही होता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह उपन्यास अत्यंत सफल है। इस उपन्यास का सबसे अधिक प्रमुख चरित्र चित्रलेखा का है और इसीलिए उसी के नाम पर उपन्यास का नामकरण भी किया गया है। चित्रलेखा के माध्यम से प्रेमविषयक विविध दृष्टिकोणों को लेखक ने उपस्थित किया है। चित्रलेखा विधवा ब्राह्मणी थी। वह अठारह वर्ष की आयु में ही विधवा हो गई थी। उसने पति के ईश्वरीय प्रेम में आत्मबलिदान के सुख का अनुभव किया था। पति की मृत्यु के बाद उसने वैधव्य के संयमपूर्ण जीवन को अपनाया, किन्तु सब ओर से विरक्त बना कर जीवन के अनुराग को केन्द्रित करने वाली सत्ता के अभाव में संयम का नियम टिक न सका। सुन्दर नवयुवक कृष्णादित्य ने उसकी तपस्या भंग कर दी। चित्रलेखा के जीवन का अनुराग कृष्णादित्य में केन्द्रित हो गया। इस बार अनुराग का रूप

आत्मबलिदान का नहीं, अपितु पारस्परिकता का था, जिसमें आत्मविस्मरण के साथ-साथ पिपासा भी थी। कृष्णादित्य के जीवन में से चले जाने के बाद उस एक नर्तकी ने आश्रय दिया और वहाँ रहते हुए वह नर्तकी बन गई।

चित्रलेखा का सौंदर्य अप्रतिम था। जो कोई उसे एक बार देख लेता था, उसके मन में उसे पुन: पुन: देखने की अमिट साध उत्पन्न हो जाती थी। यही साध पाटलिपुत्र के सबसे सुन्दर तथा प्रभावशाली युवक सामंत बीजगुप्त में पैदा हुई। चित्रलेखा भी बीजगुप्त को देखकर स्तब्ध रह गई, वह साक्षात् कृष्णादित्य का प्रतिरूप था। चित्रलेखा ने फिर से अपने जीवन में किसी व्यक्ति के न आने देने का निश्चय किया, किन्तु वह अधिक दिनों तक बीजगुप्त की कृत्रिम रूप से उपेक्षा न कर सकी। उसके जीवन में बीजगुप्त ने प्रवेश किया। इस बार उसके और बीजगुप्त के प्रेम सम्बन्ध में पतिप्रेम का आत्मबलिदान तो था ही नहीं, कृष्णादित्य से किए गए प्रेम का आत्मविस्मरण भी अल्प मात्रा में ही था। उसने इस तीसरे संबंध में प्रेम की मादकता का अनुभव किया। मदिरा की मादकता ने इस सम्बन्ध में अल्पकालिक आत्मविस्मरण को उत्पन्न किया। उसने अनुभव किया कि आत्मविस्मरण प्रकृति से असम्भव है। उसने यह भी अनुभव किया कि प्रेम जीवन का एकमात्र आधार नहीं है। कहने का आशय यह है कि नगर की 'पवित्र नर्तकी' बीजगुप्त की हो गई। बीजगुप्त की होकर भी वह अपवित्र नहीं हुई, वेश्या नहीं बनी।

बीजगुप्त के साथ रहते हुए चित्रलेखा ने अनुभव किया कि साधना आत्मा का हनन है। उसकी दृष्टि में जीवन एक अविकल पिपासा हो गया। वह वासना की मादकता को जीवन का प्रधान अंग समझने लगी। मादकता के आधार यौवन के दुखद अन्त का विचार आते ही वह जीवित मृत्यु के विचार से उद्विग्न हो उठती थी। वह भविष्य की इस उद्विग्नता को वर्तमान के मदिरापात्र में डुबो देने के लिए विवश थी। वह नहीं चाहती थी कि यौवन के उन्माद का सुख समाप्त हो जाए। उसकी दृष्टि में निजी यौवन की मादकता का ही पूरक रूप बीजगुप्त का उन्माद था।

चित्रलेखा ने कभी यह सोचा भी न था कि बीजगुप्त के रहते हुए कोई अन्य व्यक्ति उसके जीवन में आ सकता है, किन्तु आने वाला व्यक्ति आने की तिथि न बताकर अकस्मात् जीवन में आ ही टपका। चित्रलेखा कुमारगिरि की कुटिया में अतिथि के रूप में पहुँची और अनजाने ही उसके सौंदर्य से प्रभावित हो उठी। दूसरी ओर कुमारगिरि ने चित्रलेखा के सौंदर्य में वासना की मस्ती का अहंकार तो देखा ही, किन्तु स्त्री को अंधकार समझने वाले कुमारगिरि ने यह भी देखा कि चित्रलेखा सुन्दरी होने के साथ विदुषी भी है। वह उस नर्तकी के ज्ञान से सहमत न होते हुए भी प्रभावित हुए बिना न रह सका।

चित्रलेखा के हृदय में कुमारगिरि के प्रति आकर्षण की छाया का क्षीण आभास बीजगुप्त ने पा लिया था। चित्रलेखा ने बीजगुप्त को धोखा देते हुए यह कहा—"प्रियतम, कुमारगिरि योगी है और मूर्ख है।" परन्तु चित्रलेखा स्वयं को धोखा न दे सकी। चन्द्रगुप्त के दरबार में कुमारगिरि की आत्मशक्ति के चमत्कार के कारण वह पूरी तरह से कुमारगिरि की ओर आकृष्ट हो गई। इस प्रसंग में चित्रलेखा की आत्मशक्ति का भी हमें परिचय मिलता है। चाणक्य के समान ही वह भी कुमारगिरि के चमत्कार से अप्रभावित बनी रही। इतना ही नहीं उसने अपनी प्रखर मेधा से चाणक्य जैसे तर्ककर्कश व्यक्ति की रक्षा की। इसी के साथ अपने विजयमुकुट को आत्मशक्ति का दुरुपयोग करने के अपराध में दण्डस्वरूप कुमारगिरि के सिर पर रख कर अपनी उदारता से भी उसे पराजित कर दिया। वह कुमारगिरि को पाने के लिए इतनी लालायित हो उठी कि उसने झूठ ही उसके सामने वासना को तिलांजलि देने के लिए दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त की। वासना के आवेश में वह अपनी जिंदगी का सबसे बड़ा झूठ कह गई। कुमारगिरि ने उसके जीवन को बुरी तरह से प्रभावित्त कर दिया था।

कुमारगिरि चित्रलेखा को साधना के मार्ग में दीक्षित न कर सके। चित्रलेखा को दीक्षित नहीं किया जा सकता था, क्योंकि उसका व्यक्तित्व कुमारगिरि के व्यक्तित्व से किसी भी प्रकार नीचा न था। कुमारगिरि की ओर आकृष्ट होने पर चित्रलेखा को अपने मन को धोखा देने के लिए आदर्श के कवच की आवश्यकता महसूस हुई। बीजगुप्त के रहते हुए कुमारगिरि की ओर आकृष्ट होने में जो अनैतिकता का दंश चित्रलेखा के मन में कसक रहा था, उसे दूर करने के लिए मृत्युंजय के घर में उसे बहाना मिल गया। उसने अपने मन को बहलाया कि प्रेम का सच्चा स्वरूप त्याग में ही निखरता है और बीजगुप्त को विवाहित देखने के लिए वह बीजगुप्त से शारीरिक सम्बन्ध मात्र तोड़ रही है, प्रेम के आत्मिक सम्बन्ध को नहीं। दूसरी ओर वह कुमारगिरि को भी धोखा देते हुए कहती है—"आत्मिक सम्बन्ध कई व्यक्तियों से एक साथ सम्भव है।"[८]

चित्रलेखा ने वासना के आवेश में पशुता से प्रेरित होकर बीजगुप्त को छोड़ तो दिया, किन्तु कुमारगिरि की कुटी में पहुँचने के बाद उसने यह अनुभव किया कि वह कुमारगिरि से प्रेम नहीं कर सकती। वह आमोद-प्रमोदमय जीवन के अति-सुख से उत्पीड़ित होकर कुटी के शांत वातावरण में सात्त्विकता का सुख पाने के लिए शायद विकल हो उठी थी, किन्तु वहाँ उसने यह अनुभव किया कि वह बीज-गुप्त को भुला नहीं सकती। बीजगुप्त के विवाहित होने के समाचार से वह अवसन्न हो उठी। अवसाद की जड़ता में वह कुमारगिरि की वासना का शिकार बनने के बाद भी वह बीजगुप्त के सम्बन्ध में जानने के लिए व्याकुल बनी रही। बीजगुप्त के

अविवाहित रहने का समाचार पाकर वह पश्चात्ताप की अग्नि मे झुलस उठी। पश्चात्ताप मे वह जितना ही रोती, उतना ही उसे सतोष मिलता था। बीजगुप्त के अकिंचन होकर नगर से निकलने पर वह भी अकिंचन बनकर निकल पडी। बीजगुप्त ने भी उसे अपनाते हुए यह कहा—"प्रेम के प्रागण मे कोई अपराध ही नही होता।' चित्रलेखा और बीजगुप्त के जीवन का 'प्रेम और केवल प्रेम' ही आधार और ध्येय बना।

चित्रलेखा के काम सम्बन्ध शुद्ध रूप से पशुस्तर के काम सम्बन्ध नही हैं। उसके सम्बन्धो मे वह निष्ठा है, जिसे प्रेम कहा जाता है। उसकी प्रेमविषयक धारणा मे भले परिवर्तन होता हुआ दीखता है, किन्तु निष्ठा का सूत्र सर्वत्र समान है। निष्ठा के आधार के विनष्ट होने पर ही उसने नवीन आधार खोजा नही, अपितु पाया है। उसने प्रेम किया नहीं, अपितु उसका किसी से प्रेम हो गया है। मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। उसकी सामाजिकता के सम्बन्धो मे काम सम्बन्ध का महत्त्व असाधारण है और काम सम्बन्ध का व्यक्तिकेंन्द्रित रूप ही प्रेम कहाता है। चित्रलेखा की दृष्टि मे केवल बीजगुप्त के प्रसग मे शारीरिक सम्बन्ध के पाशवी आकर्षण के कारण वह कुछ दिनों के लिए केन्द्रच्युत हुई है, किन्तु शीघ्र ही उसे अपनी इस पशुता पर पश्चात्ताप होता है। कुमारगिरि से सम्बन्धित केन्द्रच्युति के प्रसग में चित्रलेखा का यह सोचना खटकता है कि उसका और कुमारगिरि का युगयुगातर का सम्बन्ध है। तीन-तीन काम सम्बन्धो और प्रेम सम्बन्धो मे से गुजर जाने के बाद भी चित्रलेखा जैसी तर्ककर्कश स्त्री का अपने और कुमारगिरि के जन्म-जन्मान्तरो मे साथ रहने की बात कहना असगत प्रतीत होता है।

स्त्रीपुरुष के कामसम्बन्धों को निवृत्तिवादी विचारधारा ने सदा ही हेय माना है। उसने वासना को पाप का मूल मान कर हमेशा ही उससे बचने का प्रयत्न किया है। पुरुष प्रधान समाज ने वासना के प्रबल आकर्षण को दूर करने के लिए उतनी प्रबलता के साथ स्त्री की निंदा की है। कुमारगिरि इसी विचारधारा का प्रतिनिधि पात्र है। वह स्त्री को ही साक्षात् अधकार, माया, मोह और वासना का रूप मान कर ज्ञान के आलोकमय ससार मे स्त्री के लिए कोई स्थान नही देना चाहता। निवृत्तिवादी पुरुष के लिए यह दृष्टिकोण स्वाभाविक है, किन्तु प्रवृत्तिवादी स्त्री के लिए इस प्रकार से सोचना ठीक नही कहा जा सकता। पुरुष अगर स्त्री को अबला मानकर विवाह के माध्यम से उसे आश्रय देने का अहकार कर सकता है, किन्तु स्त्री का इस प्रकार से सोचना गलत ही है। चित्रलेखा कुमारगिरि से कहती है—"मैं स्त्री हूँ और तुम पुरुष , मेरा क्षेत्र है वासना और तुम्हारा क्षेत्र है साधना।" यह कथन स्त्री-पुरुष के मौलिक भेद की ओर इगित करता है, जिसे पुरुष प्रधान समाज ने विकसित किया है। इसी प्रकार यह भी कहती है—"स्त्री शक्ति है ! वह

सृष्टि है, यदि उसे संचालित करने वाला व्यक्ति योग्य है, वह विनाश है, यदि उसे संचालित करने वाला व्यक्ति अयोग्य है।[९]" इस कथन में भी पुरुष और स्त्री के संचालक और संचाल्य के भेद पर बल है। इतना ही नहीं, एक स्थान पर तो चित्रलेखा ने यह स्पष्ट कहा है—"स्त्री शासित होने के लिए बनाई गई है…।…पुरुष का प्रेम आधिपत्य जमाना है, स्त्री का प्रेम अपने को पुरुष के हाथ में सौंप देना है।"[१०] चित्रलेखा की यह दृष्टि आधुनिकता की विचारधारा से मेल नहीं खाती। कामविषयक पापपुण्य की समस्या को जिस तर्कसंगतता के साथ उपस्थित किया गया है, उससे यह विसंगत है।

चित्रलेखा के बाद उपन्यास का दूसरा महत्त्वपूर्ण चरित्र बीजगुप्त का है। बीजगुप्त भोगी है, किन्तु उसका भोग व्यक्तित्व का सम्मान करना जानता है। व्यक्तिनिरपेक्ष भोग की कामुकता उसमें कोसों दूर है। वह सौंदर्य का पूजक है, किन्तु उसकी यह पूजा भी व्यक्तिनिरपेक्ष रसिकता मात्र नहीं है। उसने चित्रलेखा को अपनाया है, किन्तु उसके अपनाने में कहीं पापभावना का दंश नहीं है। इसलिए उसे यह कहने में जरा भी संकोच नहीं है कि उसका और चित्रलेखा का सम्बन्ध पतिपत्नी का सा है। उसने इस बात को मादकताजन्य उन्माद में स्वीकार नहीं किया, अपितु पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ होशहवास की स्थिति में स्वीकार किया है। उसकी दृष्टि में उसका और चित्रलेखा का प्रेम सम्बन्ध आत्मिक सम्बन्ध है, इसलिए उन्माद की क्षणिकता से वह मुक्त है। परिणामतः वह स्पष्ट रूप से कहता है—"मेरे प्रेम की अधिकारिणी कोई दूसरी स्त्री नहीं हो सकती।"

बीजगुप्त की दृष्टि में "प्रेम मनुष्य का निर्धारित लक्ष्य है।" प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वह कहता है—"जीवन में आवश्यक है एक दूसरे की आत्मा को अच्छी तरह से जान लेना—एक दूसरे से प्रगाढ़ सहानुभूति और एक दूसरे के अस्तित्व को एक कर देना ही प्रेम है, जीवन का सर्वसुन्दर लक्ष्य है।"[११] वह अपनी ओर से उस लक्ष्य के प्रति पूर्णतः समर्पित है। अपनी प्रेयसी के कुमारगिरि के प्रति आकृष्ट होने का आभास पाकर वह दुःखी हो जाता है। बीजगुप्त की हितकामना की दृष्टि से चित्रलेखा के त्याग को जानकर उसे अपने चित्रलेखाविषयक अविश्वास पर ग्लानि होती है। चित्रलेखा के छोड़कर चले जाने के बाद भी केवल शारीरिक सम्बन्ध के लिए यशोधरा से विवाह करने के लिए उद्यत नहीं होता। उसकी दृष्टि में विवाह और प्रेम का गहरा सम्बन्ध है।

चित्रलेखा से वियुक्त होने के बाद वह अपनी मानसिक पीड़ा को दूर करने के लिए काशीयात्रा की योजना करता है। काशीयात्रा के प्रसंग में हमें उसके चरित्र एवं मस्तिष्क की उच्चता का और भी अधिक प्रखर रूप में ज्ञान होता है। काशीयात्रा से लौटने के बाद अपने जीवन के सूनेपन को दूर करने के लिए यशोधरा से

विवाह करने का विचार करने लगता है। किन्तु उसे अपनी निर्बलता पर दुःख होता है कि वह एक स्त्री से प्रेम करके दूसरी स्त्री से विवाह करने के लिए उद्यत हो रहा है। वह यह भी सोचता है कि अपनी उद्विग्नता को दूर करने के लिए यशोधरा से विवाह कर देने के बाद क्या वह उसे प्रेम कर सकेगा ? इसके अतिरिक्त यशोधरा श्वेताक से प्रेम करने लगी है, इस बात को जानकर भी केवल अपने सुख की आशा पर दूसरों के सुख में बाधक बनना उसके लिये कहाँ तक उचित है। इन विचारों के बाद वह यशोधरा से विवाह करने का विचार अपने मन से निकाल ही नहीं देता अपितु यशोधरा और गुरुभाई श्वेताक के विवाह के लिए अपनी सारी सम्पत्ति का दान भी कर देता है। उसकी इस चारित्रिक उच्चता को देखकर मृत्युंजय उससे कहते हैं—"आप मनुष्य नहीं हैं, देवता हैं।'' भारतवर्ष का सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी उसके सामने मस्तक नमाता है।

सर्वस्व का त्याग करके अकिंचन रूप में नगर से निकल पड़ने पर भी चित्रलेखा को वह भुला नहीं पाता। इसलिए वह चित्रलेखा की बात को टाल नहीं पाता और वह उसका आतिथ्य ग्रहण करने के लिए उसके घर पर रुक जाता है। वह कुमारगिरि की वासना का साधन बन चुकी चित्रलेखा को प्रेम के कारण सहज ही अपना लेता है, क्योंकि 'प्रेम के प्रांगण में कोई अपराध नहीं होता।' प्रेम बीजगुप्त के जीवन का केन्द्रीय तत्त्व है। बीजगुप्त के चरित्र की यह उदारता हमें श्वेताक के प्रसंग में भी दिखाई देती है। वह श्वेताक के चित्रलेखाविषयक अनुचित व्यवहार को इसी चारित्रिक उदारता के कारण क्षमा ही नहीं करता, अपितु सामान्य मनुष्य के लिए स्वाभाविक समझ कर भुला देता है। उसकी यह सरलता व्यवहार के लिए ऊपर से ओढ़ी हुई नहीं, अपितु उसके शील का अंग है।

प्रस्तुत उपन्यास का तीसरा महत्त्वपूर्ण चरित्र कुमारगिरि है। कुमारगिरि योगी है। उसकी दृष्टि में वासना पाप होने के कारण त्याज्य है। संयम नियम से इस पाप से बचा जा सकता है, ऐसा उसका विश्वास ही नहीं, अपितु वह वासनाओं पर विजय पा लेने का दावा भी करता है। इसी दावे के अहंकार के कारण वह विशालदेव से कहता है—"मैं तुम्हें पुण्य का रूप दिखा दूंगा और पुण्य को जानकर तुम पाप का पता लगा सकोगे।" वासना पर विजय पाने का दावा करने वाला यह योगी स्त्री को दीक्षा देने में संकोच करने लगता है। चित्रलेखा के सम्पर्क में उसका हृदय 'साकार' की पुकार मचाने लगता है। उसकी सारी आत्मशक्ति धरी की धरी रह जाती है। आत्मशक्ति के सहारे सत्य का साक्षात्कार कराने की क्षमता प्रदर्शित करने वाला यह योगी असत्य के सहारे चित्रलेखा के शरीर को अपनी वासना का शिकार बना लेता है। असत्य का भंडाफोड़ होने पर चित्रलेखा उससे कहती है—"नीच और झूठे पशु ! वासना के कीड़े ! तुम प्रेम क्या जानो ? तुम अपने

लिए जीवित हो—ममत्व ही तुम्हारा केन्द्र है।"

चित्रलेखा के द्वारा परिस्थितियों ने उसके अभिमान को तोड़ दिया है, किन्तु उसमें इतनी उदारता ही कहाँ है कि वह अपनी पराजय को स्वीकार कर ले और साधना के अस्वाभाविक मार्ग का परित्याग करके अपने अतिरिक्त दूसरों के लिए जीना सीख ले।

चित्रलेखा, बीजगुप्त और कुमारगिरि के अतिरिक्त श्वेतांक और विशालदेव को भुलाया नहीं जा सकता। ये ही वे दो पात्र हैं, जो संसार में पाप का स्वरूप जानने के लिए निकल पड़े हैं। श्वेतांक यथा नाम तथा गुण पात्र है। उसका हृदय संसार की कालिमा से मुक्त अबोध बालक की श्वेतता लिये हुए है। बीजगुप्त के सेवक और गुरुभाई के नाते रहते हुए उसने चित्रलेखा के सम्पर्क में प्रथमतः अज्ञात चाह के कंपन का अनुभव किया। चित्रलेखा के आकर्षण से आविष्ट होकर उसे यहाँ तक अनुभव हुआ कि मानों उसका चित्रलेखा से पारलौकिक सम्बन्ध है। चित्रलेखा के यौवन की मादकता का शिकार बन वह उसके हाथ की मदिरा को अस्वीकार न कर सका। इस प्रसंग में श्वेतांक के अबोध सरल चरित्र की झाँकी हमें मिलती है। वह बीजगुप्त से स्वामिनी से प्रेम करने के अपराध को सरलता से स्वीकार कर लेता है। इस स्वीकृति के बावजूद चित्रलेखा का मादक प्रभाव उस पर छाया ही रहता है। इसी के प्रभाव में अपने स्वामी बीजगुप्त से वह झूठ ही कह देता है कि चित्रलेखा दरबार के बाद चाणक्य के यहाँ आमंत्रित थी। स्वामी को धोखा देना अनुचित था, भले ही स्वामिनी ने उसे इसके लिए प्रेरित किया है। स्वामी के माध्यम से ही स्वामिनी की सत्ता टिकी हुई थी। वह नैतिकता की अपेक्षा मादकता के प्रभाव में झूठ बोलने के लिए विवश हुआ था। इस पाप का दंश उसमें अवश्य था और वह और अधिक पाप करने से बचना चाहता था। श्वेतांक ने यह पाप उस दशा में किया है, जबकि चित्रलेखा ने उससे स्पष्टतः यह कह रखा था कि "तुम्हारे जीवन में मेरा आना असम्भव है।"

चित्रलेखा के बाद श्वेतांक यशोधरा के सम्पर्क में आया। यशोधरा के प्रति वह इतना आकृष्ट हुआ कि उसने यशोधरा से अपना प्रेम निवेदित कर दिया। यशोधरा के द्वारा बीजगुप्त की प्रशंसा सुनकर वह ईर्ष्यावश बीजगुप्त की कमजोरियों की निंदा करने लगता है। ईर्ष्या ने उसके विवेक को ढक लिया था, जिस पर यशोधरा ने हँसते हुए उसे सतर्क करते हुए कहा—"मनुष्य को पहले अपनी कमजोरियों को दूर करने प्रयत्न करना चाहिए।" यशोधरा ने श्वेतांक के बीजगुप्त-विरोध को सहानुभूतिमिश्रित प्रेम से दूर करना चाहा। विरोध के बावजूद बीजगुप्त की उदारता पर श्वेतांक का विश्वास था। इसीलिए उसने यशोधरा के विवाह का प्रस्ताव बीजगुप्त के माध्यम से मृत्युंजय तक पहुँचाया। वह बीजगुप्त की उदारता

के कारण ही सामंत बन कर यशोधरा का जीवन साथी बन सका।

श्वेतांक के समान विशालदेव भी पाप का पता लगाने के लिए कुमारगिरि के आश्रम में रखा गया है। वह वहां प्रारम्भ में ही कुमारगिरि के वासनाविरोधी साधना का विरोध करते हुए कहता है—'कामनाओं का हनन क्या जीवन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं है?' चित्रलेखा के कुमारगिरि के पास आने पर वह आश्चर्यचकित होता है क्योंकि "रहस्य को वह भली-भांति समझता था।" उसने चित्रलेखा का स्वागत करते हुए "कुमारगिरि पर अर्थपूर्ण दृष्टि डाली। विशालदेव के चरित्र की इस भूमिका को देख लेने पर उपसंहार भाग में उसका कुमारगिरि को 'अजित' समझ कर उसकी प्रशंसा करना समझ से परे की बात है। विशालदेव का यह बुद्धूपन लेखक द्वारा आरोपित है चरित्र की संभावनाओं के माध्यम से विकसित नहीं हुआ है।

पापपुण्य की समस्या का उत्तर अपने चरित्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करने वाले इन पात्रों के अतिरिक्त एक अन्य पात्र महत्त्वपूर्ण है। यशोधरा सामंत मृत्युंजय की कन्या है। वह अपने सौंदर्य से चित्रलेखा के सौंदर्याभिमान को नष्ट कर देती है। उसका भोलापन उसकी हरिणी-की सी आंखों से स्पष्टतः झांकता रहता है। वह श्वेतांक से प्रेम करने लगती है तथा अन्त में देवतास्वरूप बीजगुप्त के सहयोग से अपने प्रेमी से विवाहित हो जाती है।

इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त रत्नाकर, चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि कुछ अन्य गौण पात्र भी हैं। इन गौण पात्रों में कुमारगिरि के शिष्य मधुपाल का क्षण भर के लिए आना और फिर सदा के लिए लापता हो जाना विशेष रूप से खटकता है। चाणक्य के तर्ककर्कश सशक्त व्यक्तित्व की झांकी देने में लेखक सफल है।

देश-काल की दृष्टि से 'चित्रलेखा' उपन्यास पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है। इसका उद्देश्य मौर्य-कालीन इतिहास पर प्रकाश डालना नहीं है, अपितु यह पापपुण्य की समस्या को विशिष्ट कोण से उजागर करने वाला उपन्यास है। समस्याप्रधान उपन्यास होने के कारण देशकाल को इसमें गौण रूप में ही स्थान मिला है। इसका देश मुख्यतः पाटलिपुत्र नगर है और पाटलिपुत्र नगर में भी बीजगुप्त एवं कुमारगिरि के निवासस्थान वर्णित हुए हैं। अल्पकाल के लिए पाटलिपुत्र से काशी की यात्रा का भी प्रसंग चित्रित हुआ है। कहीं-कहीं अपवादस्वरूप लेखक का ध्यान प्रकृति की ओर गया है। अर्ध-रात्रि में चित्रलेखा के कुमारगिरि से यहां दीक्षित होने के लिए पहुंचने पर "सौरभ से भरा मधुमास था, कम्पन से भरा मलय था, चांदनी हंस रही थी, तारकावलि मुसकरा रही थी।" निर्जन प्रदेश में रात्रि के गहरे सन्नाटे के वातावरण में योगी और नर्तकी के मिलनकाल की उद्दीपक प्रकृति का वर्णन केवल इतना ही है। इसी

प्रकार काशी प्रस्थान के समय विषमोद्दीपन के रूप में इतना ही कहा गया है—"चतुर्दशी का चाँद पूर्व दिशा के क्षितिज पर जल रहा था और बीजगुप्त के हृदय में एक ज्वाला जल रही थी।"

'चित्रलेखा' उपन्यास की कहानी केवल एक वर्ष की कहानी है। यदि कथा से सम्बन्धित दिनों की गिनती ही करनी हो, तो यह कहा जा सकता है कि उपक्रमणिका और उपसंहार के दिनों को छोड़कर यह केवल इक्कीस दिनों की कहानी है। ये इक्कीस दिन वर्ष के अन्तर्गत फैले हुए हैं। विशेषतः ये दिन मधुमास और ग्रीष्म के दिन हैं। सूर्योदय से सूर्यास्त की अपेक्षा सूर्यास्त से सूर्योदय के काल को ही अधिक अपनाया गया है। केवल तीन-चार परिच्छेदों में ही रात्रि का वर्णन नहीं है। रात्रि में भी अर्धरात्रि के समय का मोह लेखक को विशेष है। संभवतः इसी मोह के कारण महाप्रभु रत्नांबर को श्वेतांक के साथ बीजगुप्त के प्रासाद पर अर्धरात्रि में पहुँचाया है। इसी प्रकार बीजगुप्त के अकिंचन के रूप में प्रस्थान की घटना का काल भी अर्धरात्रि है।

शैली की दृष्टि से उपन्यास की कुछ विशेषताओं की ओर सहज ही ध्यान आकृष्ट हो जाता है। उपन्यास के कथानक की योजना में तुलनात्मकता पर विशेष बल स्वाभाविक ही है। बीजगुप्त और कुमारगिरि की तुलना उपन्यास में सबसे अधिक है। इनके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर यशोधरा और चित्रलेखा, यशोधरा और मृत्युंजय, चित्रलेखा और कुमारगिरि आदि की भी तुलना की गई है। यशोधरा और चित्रलेखा की तुलना करते हुए लेखक ने कहा है—"एक शांति थी, दूसरी उन्माद।" एक अन्य स्थल पर इनकी तुलना कुमारगिरि अपने मन में करते हुए सोचता है—"चित्रलेखा की मादकता भयानक थी—उसका नृत्य उसकी सजीवता की प्रतिमूर्ति। पर साथ ही यशोधरा की शांति अथाह सिंधु की भाँति थी, जिसमें पड़कर मनुष्य अपने को भूल जाता है।"[११] तुलना की यह प्रवृत्ति समतोल वाक्यों की योजना में भी दिखाई देती है। मृत्युंजय के घर पर रात्रि भोज के प्रसंग में चित्रलेखा द्वारा अनुराग के क्षेत्र में ही बने रहने की बात कहने के बाद की परिस्थिति पर टिप्पणी करते हुए लेखक ने कहा है—"बात बनी और बिगड़ गई, मृत्युंजय ने इसका अनुभव किया। बात बिगड़ी और बन गई। बीजगुप्त ने इसका अनुभव किया।" समतोल वाक्यों की इस योजना में विरोधवैचित्र्य का आस्वाद भी महत्त्वपूर्ण है।

'चित्रलेखा' उपन्यास समस्याप्रधान होने के कारण स्थान-स्थान पर विचार गर्भ सूक्तियाँ भी दिखाई देती हैं। "जीवन एक अविकल पिपासा है"; "विराग मृत्यु का द्योतक है"[१२] आदि अनेक सूक्तियाँ उपन्यास के आदि से अन्त तक भरी पड़ी हैं। अनेक स्थानों पर शांति, विराग आदि का स्पष्टीकरण करते हुए 'दूसरा नाम है' शब्दावली का प्रयोग करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, जैसे—"शांति

अकर्मण्यता का दूसरा नाम है", "जिसको साधारण रूप से विराग कहा जाता है, वह केवल अनुराग के केन्द्र को बदलने का दूसरा नाम है"[१३] इत्यादि ।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक मौर्ययुग से सम्बन्धित है । कथानक के इने गिने पात्र ही ऐतिहासिक कहे जा सकते है किन्तु घटनाएँ सभी कल्पित हैं । इसके बावजूद लेखक ने सस्कृतनिष्ठ भाषा के सहारे ऐतिहासिकता का आभास पैदा करने का प्रयत्न किया है । 'देवि', 'वत्स', 'स्वामिन्' आदि सम्बोधन इसी प्रकार के हैं । 'पाटलिपुत्र' 'विश्वपति' आदि व्यक्तिवाचक नाम ऐतिहासिकता के आग्रह के कारण ही दिए गए है । कही कही नामकरण मे अशुद्धियाँ भी है । विश्वपति का निवासस्थान 'कौशल प्रदेश' है । वस्तुत कोसल नाम अधिक ठीक है । इसी प्रकार बीजगुप्त ने हिन्दूकुश पर्वत देखने का उल्लेख किया है । 'हिन्दूकुश' नाम परवर्ती काल मे प्रचलित हुआ है । सस्कृतनिष्ठता के आग्रह के कारण 'सुन्दरी' 'रथारूढा' आदि विशेषण भी खट-कते है । इसी प्रकार 'सोमवार' के स्थान पर 'चन्द्रवार' का प्रयोग करने की आव श्यकता नही है । मुहावरे के तद्भव शब्द को परिवर्तित करके उसे तत्सम रूप देना भी अनुचित है । एक स्थान पर इस प्रकार का अनौचित्य दिखाई देता है, जैसे—"बहुत सम्भव है महासामत यशोधरा का पाणि देने मे इनकार कर दें ।" सस्कृत-निष्ठ भाषा के बीच मे 'गात' शब्द भले ही न खटके किन्तु 'बेर बेर' का प्रयोग अच्छा नही लगता । इसी प्रकार सस्कृतनिष्ठ भाषाशैली मे 'गौर' 'सौगात' 'वास्ते' आदि उर्दू शब्द असगत प्रतीत होते है । उर्दू के प्रभाव से कारागार के प्रसग मे 'चतुर्दशी के चाँद' का वर्णन लेखक ने किया है ।

प्रकृति वर्णन के प्रसग उपन्यास मे अत्यल्प है, किन्तु जो थोडे-से प्रसग हैं वे अत्यत सुन्दर रूप मे वर्णित है, जैसे—'सौरभ से भरा मधुमास था कम्पन से भरा मलय था, चाँदनी हँस रही थी, तारकावलि मुसकरा रही थी ।'[१४] भाषा सौंदर्य को वृद्धिगत करने मे अलकारो का भी उपयोग किया गया है । अलकारो का अनावश्यक आग्रह कही भी नही दिखाई देता । सम्राट चन्द्रगुप्त के दरबार म शृगारगृह से चित्रलेखा के प्रवेश का वर्णन देखिए—"धर्म का नीरस तथा शुष्क वायुमडल पराग से भरे सौंदर्य की मस्ती से विकपित हो उठा, काँपती हुई उषा के धुधलेपन को चीरते हुए मानो प्रातकालीन सूर्य के अरुण प्रकाश ने प्रवेश किया ।"[१५] सभामडप के प्रसग के बाद अर्धरात्रि मे कुमारगिरि और चित्रलेखा के एकात मिलन के अवसर पर अकस्मात् विशालदेव के आगमन के बाद की स्थिति का वर्णन देखिए—"कुमार-गिरि चौक उठा । वह इस प्रकार से चित्रलेखा के पास मे हट गया, जिस प्रकार वह मनुष्य चौक कर हटता है जो सर्पिणी के पास तक उसे बिना देखे हुए पहुँच जाता है और उसी समय जब सर्पिणी उसे डसना चाहती है, कोई दूर पर खडा व्यक्ति उसे सचेत कर देता है ।"[१६] उत्प्रेक्षा और उपमा के इन उदाहरणो के अतिरिक्त

रूपक का भी एक सुन्दर प्रयोग देखिए—यशोधरा की "हँसी की सुरीली झंकार में यौवन से पराजित बचपन ने शरण ली थी।" माननीकरण आदि के भी सुन्दर प्रयोग हमें दिखाई देते हैं। मानवीकरण का उदाहरण इस प्रकार है—"यौवन की उमंग में सौंदर्य किलोलें कर रहा था, आलिंगन के पाश में वासना हँस रही थी।"[१९] पाश में हँसने में विरोधाभास का चमत्कार भी ध्यान देने योग्य है।

भाषा और शैली की दृष्टि से 'चित्रलेखा' को सफल रचना कहा जा सकता है।

टिप्पणियाँ

१. श्रीमद्भगवद्गीता
२. ऋग्वेद, १।१७९।५
३. चित्रलेखा (ग्यारहवाँ संस्करण), पृ० २१
४. चित्रलेखा, पृ० १७६
५. वही, पृ० १८५
६. वही, पृ० १५
७. वही, पृ० १९४
८. वही, पृ० ११६
९. वही, पृ० ५३
१०. वही, पृ० १४७
११. वही, पृ० ११०
१२. वही, पृ० १८४
१३. वही, पृ० ८२
१४. वही, पृ० १४१
१५. वही, पृ० १५१
१६. वही, पृ० ५०
१७. वही, पृ० ४२
१८. वही, पृ० ५६
१९. वही, पृ० ९

गोदान : दो समांतर संदेशो का उपन्यास

डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे

"प्रेमचन्द के साहित्य की कुरेदन जनकरुणा की भावना है।"

"गोदान में साहित्यगत करुणा की धारा उमड़कर सागर हो गई है, परिणामत: आदर्श के किनारे का दर्शन दुर्लभ-सा हो गया है।"

"प्रेमचन्द का गोदान समसामयिक शोषणग्रस्त जन-जीवन का महाकाव्य है।"

"शोषण की व्यवस्था के आमूल परिवर्तन का सन्देश ही गोदान का उद्देश्य है।"

मुंशी प्रेमचन्द ने गोदान उपन्यास में व्यक्ति विकास (मोक्ष) एवं समाज-विकास (धर्म) के अनुकूल अर्थ पुरुषार्थ की व्यवस्था करने का जहाँ सन्देश दिया है, वहाँ काम-पुरुषार्थ-विषयक चिन्तन को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

यह उपन्यास अर्थ एवं काम से सम्बन्धित दुहरे सन्देश का उपन्यास है।

३

गोदान

मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में 'उपन्यास-सम्राट' के रूप में सर्वविदित हैं। उनके साहित्यिक यशोमन्दिर का कलश 'गोदान' है। उनकी सम्पूर्ण साहित्य-सृष्टि 'गोदान' की भूमिका है। उनका 'गोदान' एवं 'गोदान' का पूर्ववर्ती सम्पूर्ण साहित्य अपने समय के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। स्वयं प्रेमचन्द ने यह लिखा है कि—"जब तक करेंट अफेयर से लगाव न रहे, किसी मजमून पर लिखने की तहरीक नहीं होती और मजमून भी मुश्किल से सूझता है।"[1] इसी कारण प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य अपने युग का कलात्मक इतिहास कहा जा सकता है। यह इतिहास इतिहासकार की तटस्थता से नहीं लिखा गया, अपितु संवेदनशील साहित्यकार की 'कुरेदन' और 'तड़पन' के साथ लिखा गया है। साहित्य के सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि—"लेखक जो कुछ लिखता है, अपनी कुरेदन से लिखता है।"

प्रेमचन्द के साहित्य की कुरेदन जनकरुणा की भावना है। इसी भावना के कारण उनका 'वरदान' हो या 'गोदान', सर्वत्र'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' की दृष्टि परिव्याप्त है। इस दृष्टि के अनुसार उन्होंने जहाँ एक ओर यथार्थ के सहारे समाज की करुण दशा का चित्रण किया है, वहाँ दूसरी ओर दु:खविमुक्त आदर्श समाज की झाँकी भी अपने साहित्य में उपस्थित की है। यथार्थ और आदर्श के दो किनारों के बीच उनके साहित्य की धारा प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। 'गोदान' में यह साहित्यगत करुणा की धारा उमड़कर सागर हो गई है, परिणामतः आदर्श के किनारे का दर्शन दुर्लभ-सा हो गया है। वस्तुतः वह कहीं खो नहीं गया, अपितु यथार्थ के तट से देखने वाले की दृष्टि का अंग बन गया है। उसके 'है' में ही 'होना चाहिए' की गूंज विद्यमान है। इसीलिए गोपालकृष्ण कौल ने यह ठीक ही कहा है कि—"गोदान अपने युग का प्रतिबिम्ब भी है और आने वाले युग की प्रसवव्यथा भी।"[2]

प्रेमचन्द का 'गोदान' समसामयिक शोषणग्रस्त जनजीवन का महाकाव्य है। जनजीवन के शोषण की नींव टकाधर्म पर अधिष्ठित पूंजीवादी महाजन-सभ्यता है। इस सभ्यता के विकास का मूल सूत्र वह वणिक्‌बुद्धि है, जो मानवीय करुणा और सहृदयता का लोप कर देती है। इसीलिए रायसाहब का यह कहना बिल्कुल सच है

कि—"संपत्ति और सहृदयता में बैर है।"[1] संपत्ति के चक्कर में पड़कर मनुष्य कोरा स्वार्थी बन जाता है। वह अपनी वणिक्बुद्धि के कौशल से दूसरों को मूर्ख बनाकर धनी बन जाता है।[2] वह येन केन प्रकारेण धनी बनने के लिए दूसरे के जलते हुए घर में हाथ सेकने के मौके की तलाश में ही रहता है। 'संकट की चीज लेना उसके लिए पाप की चीज नहीं रहती। एक बार धनी बन जाने पर वह निन्यानवे के फेर में इस प्रकार फँस जाता है कि उसे हमा-सुमा को पीस कर अपना घर भरने में किसी प्रकार का संकोच नहीं रह जाता। शोषित और शोषक के बीच का अन्याय-पूर्ण अन्तर बढ़ता ही जाता है। कचहरी-अदालत शोषण के इस दुष्ट चक्र को रोक सकने में असमर्थ सिद्ध होते हैं, क्योंकि 'कानून और न्याय उसका है, जिसके पास पैसा है।'[3] सारी न्यायव्यवस्था शोषण की मशीन को तेल पिला कर निर्विघ्न रूप से चलाने का साधन मात्र बन कर रह जाती है।

शोषण की अन्याय्य व्यवस्था के अन्तर्गत 'कानूनी डकैतों' की गतिविधियों को रोक सकने में अक्षम होकर शोषित मनुष्य पहले-पहल आत्मसम्मान खो बैठता है और बाद में मनुष्यता। इसी सत्य को प्रेमचन्द ने अपनी 'कफन' कहानी में बड़े ही सशक्त ढंग से अभिव्यक्त किया है। इस व्यवस्था के कारण आदमी का आदमी रह सकना कठिन है, देवत्व की प्राप्ति तो कल्पना से भी बाहर की बात है। धनकेन्द्रित व्यवस्था के अन्तर्गत 'व्यवसाय व्यवसाय है' का रक्तशोषक सिद्धान्त पनपता है, जिसके अनुसार "इन्सान की कीमत इतनी ही है कि वह एक रुपया कमाने का साधन है।"[4] इस व्यवस्था के कारण इने गिने धनी लोग बहुसंख्य लोगों के श्रम पर मोटे होते चले जाते हैं और 'उपजीवी' या पराश्रयी (parasites) बन कर उनके जीवन-रस को सोखते चले जाते हैं। दूसरों को चूस कर मोटे होने वाले यह भी भूल जाते हैं कि उनका मोटापा 'आत्मा का सर्वनाश'[5] करने वाला पशुता का रोग है। समाज का सच्चा स्वास्थ्य और 'सुख तो जब है कि सभी मोटे हों।'[6] इस मत का यह आशय कदापि नहीं है कि समाज में छोटे-बड़े का भेद नहीं रहना चाहिए। प्रेमचन्द यह स्वीकार करते हैं कि—"संसार में छोटे-बड़े हमेशा रहेंगे और उन्हें हमेशा रहना चाहिए। किन्तु इस छोटे-बड़े के भेद का आधार शोषण नहीं होगा। बुद्धि, चरित्र, रूप, प्रतिभा, बल आदि की असमानता अनिवार्य है, किन्तु धन की ऐसी विषमता नहीं होनी चाहिए, जिसके कारण शोषण हो सके। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि बुद्धि आदि की विषमता व्यक्ति की मृत्यु के साथ समाप्त हो जाती है, जब कि धन की विषमता वंश-परम्परा से बढ़ती ही चली जाती है और शोषण के अनर्थ का आधार बनती है।[7] धनकेन्द्रित व्यवस्था में मेहता जैसा धन की लालसा से रहित व्यक्ति भी भावी जीवन के योगक्षेम के प्रत्याभूत (Guaranteed) न होने के कारण ऊँचा वेतन लेने के लिए विवश है।[8]

दूसरे के संकट से लाभ उठाने का पाठ पढ़ाने वाली शोषण केन्द्रित पूंजीवादी व्यवस्था का विषाक्त प्रभाव इस से सहज ही जाना जा सकता है कि शोषण के कोल्हू मे गुजर कर पिसने का अनुभव पाने वाले व्यक्ति भी मौका पाकर दूसरों को पीसने के लिए निस्संकोच उद्यत हो जाते थे। विपाक्त व्यवस्था के कारण "गाँव वालों को लेन-देन का कुछ ऐसा शौक था कि जिसके पास दस-बीस रुपए जमा हो जाते, वही महाजन बन बैठता था। एक समय होरी ने भी महाजनी की थी।"[११] इसी प्रकार गोबर जिस प्रकार की महाजनी को 'खून चूसने' के समान समझता है, वही गोबर स्वयं 'एक आना रुपया सूद' की महाजनी करता है।

होरी और गोबर जैसे किसान और मजदूर ही नहीं, अपितु रायसाहब और खन्ना जैसे जमींदार और उद्योगपति भी पूंजीवादी व्यवस्था के कारण दो-रुखी जिन्दगी जीने को विवश हैं। 'व्यवस्था का गुलाम' या 'परिस्थितियों का शिकार' होने के कारण, आत्मबल का क्षय करने वाली सम्पत्ति को पैरों की बेड़ी मानते हुए भी रायसाहब 'अपनी जरूरतों से हैरान' होकर 'भाले की नोक पर' अपने आसामियों से उनकी 'आहों का दावानल' भड़काने वाली वसूली करते हैं। वे यह ईमानदारी के साथ चाहते हैं कि "शोषक वर्ग को शासन और नीति के बल से अपना स्वार्थ छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया जाए।"[१२] इतना ही नहीं, वे होरी से यहाँ तक कहते हैं कि—"हमारे मुँह की रोटी कोई छीन ले, तो उसके गले में उँगली डालकर निकालना हमारा धर्म हो जाता है।"[१३] इस प्रकार के प्रसंगों में रायसाहब के सम्बन्ध में मीठी बोली बोलकर शिकार करने वाले शेर की बात कही जा सकती है, किन्तु वह बहुलांश में ही सत्य है, सर्वांश में नहीं। वे जमींदार वर्ग का पूर्णतः प्रतिनिधित्व नहीं करते। वे विचारों की यात्रा में अपने पूर्वजों और समसामयिक जमींदारों से आगे हैं। भोग-विलास की बेहयाई उनमें नहीं थी। "उनके मन के ऊँचे संस्कारों का ध्वंस न हुआ था। पर-पीड़ा, मक्कारी, निर्लज्जता और अत्याचार को वह ताल्लुकेदारी की शोभा और रोब-दाब का नाम देकर अपनी आत्मा को सन्तुष्ट न कर सकते थे, और यही उनकी सबसे बड़ी हार थी।"[१४]

रायसाहब के समान ही उद्योगपति खन्ना भी 'ऊँची मनोवृत्तियों' से शून्य नहीं थे। वे भी इसी कारण स्वयं स्वीकार करते हैं कि—"मैंने अपने सिद्धान्तों की कितनी हत्या की है।"[१५] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने व्यक्तियों के विरुद्ध नहीं, अपितु जनजीवन का शोषण करने वाली व्यवस्था के प्रति पाठकों के मन में घृणा पैदा करने का प्रयत्न किया है। 'घृणा का विज्ञान' ('द साइंस ऑफ हेट्रेड') लिखने वाले शोलोखोव के समान प्रेमचन्द की यह धारणा है कि—"दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचण्ड घृणा हो, उतनी ही कल्याणकारी होगी।"

प्रेमचन्द ने शोषण की विषम व्यवस्था को बनाए रखने में मदद पहुँचाने

वाले बिरादरी, मर्यादा, धर्म आदि सभी तत्त्वों पर बेरहमी से प्रहार किया है। बिरादरी का आतंक भारतीय समाज की नस-नस में समाया हुआ था। इसी आतंक के अंकुश के नीचे होरी बिरादरी की आड़ में सारा अनाज डाँड के रूप में झोंक रहा था। किन्तु डाँड के बहाने माल मारना चाहने वाले पिशाच पंचों की लालसा से परिचित धनिया ने कहा कि— हमें नहीं रहना है बिरादरी में। बिरादरी में रहकर हमारी मुकुत न हो जायगी। अब भी अपने पसीने की कमाई खाते हैं, तब भी अपने पसीने की कमाई खायेंगे।"[१६] किन्तु धनिया की बात सुनी नहीं गई। भोगप्रधान सामन्ती समाजव्यवस्था में स्त्री की बात मानी ही कब गई है। सामन्ती समाज-व्यवस्था के प्रभाव के कारण ही जमीन-जायदाद आदि मर्यादा की अधिष्ठान बन गई थी। मजदूरी से भी बदतर स्थिति में पहुँचने के बाद भी छोटे-छोटे किसान जमीन का मोह छोड़ नहीं पाते। होरी नौकरी और मजदूरी की अपेक्षा खेती में अधिक मर्यादा का अनुभव करता है। वह 'पूस की रात' के हल्कू के समान मर्यादा के इस बोझ को उतार कर अपने-आप को हलका नहीं कर पाया था। इसी मर्यादा की रक्षा के लिए उसने अपनी जिन्दगी की सबसे गहरी चोट सह ली, वह लड़की बेचने की ग्लानि के अथाह गड्ढे में जा गिरा।

धनाधिष्ठित शोषण-व्यवस्था को बरकरार बनाए रखने में धर्म का हाथ सबसे अधिक रहा है। एक ओर पाप का धन पचाने के लिए धनी लोग भजन-पूजन और दान-धर्म करते हैं, तो दूसरी ओर शोषितों के असन्तोष को उभरने न देने के लिए यह प्रचारित किया जाता है कि—"छोटे-बड़े भगवान के घर से बनकर आते हैं।" इसी कारण गरीब अपने मुँह की रोटी को छिनते देखकर भी चुपचाप सह लेते हैं। इस सहिष्णुता को वे देवतापन समझने लगते हैं। वे यह समझ ही नहीं पाते कि शोषण के "पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है।" इसीलिए ऐसे लोगों को देखकर मेहता ने कहा—"काश ये आदमी ज्यादा और देवता कम होते, तो यों ठुकराये न जाते।"[१७] उनका धर्मातिमापन ही सारी दुर्गति का कारण है।

धर्म के नाम पर ही समाज में जन्मगत जाति व्यवस्था के सहारे ब्राह्मण वर्ग रोटी खाता रहा है। 'रामनाम की खेती' करते हुए 'तिलक मुद्रा का जाल' फैला कर 'मुफ्त का माल' उड़ाना इनका एक मात्र काम है। धर्म के शोषण की जड़ें इतनी गहरी हैं कि जमींदारी के मिट जाने के बाद भी जजमानी की जमींदारी मिट सकना आसान नहीं है। धर्म की मुफ्तखोरी का ही एक रूप सन्यास है, जिसे मेहता ने 'भीख माँगने का सम्कृत रूप' कहा है।[१८] धर्म के नाम पर मुफ्तखोरी करने वाले ब्राह्मण के महाजन बनने पर यह अतिरिक्त लाभ है कि उसकी साहूकारी को डुबाने का साहस कोई नहीं कर पाता, क्योंकि ब्राह्मण का पैसा कैसे पच सकता है? इसके अतिरिक्त पूजा-पाठ और चौके-चूल्हे को पकड़े रहने पर क्या मजाल है कि वह भ्रष्ट

आचरण के बावजूद भ्रष्ट हो सके ! रोटियाँ ढाल बन कर हर अधर्म से उसकी रक्षा करती हैं । मातादीन और सिलिया का प्रसंग धर्म के इस रूप पर करारा व्यंग है । दातादीन जैसा निर्दय साहूकार, जिसने होरी के जीवन को भरपूर चूसा था, होरी की मृत्यु के बाद पुरोहित के नाते उसका परलोक सुधारने के बहाने गोदान के पैसे पा जाता है । परलोक बनाने के नाम पर लोक को बिगाड़ने वाले धर्म के स्वरूप को देखकर ही मेहता नास्तिक बन गये हैं । उन्हें धर्म और ईश्वर की कल्पना का एक ही उद्देश्य प्रतीत होता है कि वह 'मानवजीवन की एकता' का साधन बन सके ।

उपर्युक्त विवेचन से 'गोदान' के वर्जनशील उद्देश्य का परिचय मिलता है । शोषणग्रस्त समसामयिक जनजीवन का ऐसा चित्रण दुर्लभ है । वे इस चित्रण के द्वारा मानवता की भावना को जगा कर शोषणरहित समाजवादी संस्कृति के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा देते हैं । गाय बन कर शोषण को सहने के लिए विवश करने वाली आस्थाओं का यह गोदान है । 'गोदान' का यह उद्देश्य उपन्यास में आदि से अंत तक परोक्ष रूप में इस प्रकार सरल और अनायास ढंग से भरा है कि वह सहज ही पाठकों के मन में पैठ जाता है ।

प्रेमचन्द ने जनजीवन के शोषणग्रस्त रूप का चित्रण करने के लिये उसके विविध अंगों को 'गोदान' में स्थान दिया है । जनजीवन का प्रवाह गाँव और शहर की दो धाराओं में बहता हुआ दीखता है । इन धाराओं में ग्रामजीवन की धारा अधिक महत्त्वपूर्ण है । 'गोदान' में इस धारा की प्रमुखता को देखकर गोपाल कृष्ण कौल ने 'गोदान' को "भारतीय ग्रामदेवता की करुण आत्म-पुकार" माना है ।[१९] वस्तुतः सत्य यह है कि यह गाँव और शहर, दोनों के अंचलों में रहने वाले समाज-देवता की कहानी है । यह बात दूसरी है कि इन दोनों कहानियों का अन्तःसंबन्ध यथोचित रूप में स्थापित नहीं हो सका है । इसीलिये श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने यह कहा है कि "'गोदान' उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खण्डों में रहने वाले दो परिवारों के समान हैं, जिनका एक दूसरे के जीवनक्रम से बहुत कम सम्पर्क ह ।"[२०] गाँव और शहर की कहानियों के यथोचित संबन्ध के अभाव के कारण श्री जैनेन्द्रकुमार को भी यह शिकायत है कि—"शहर ने आकर पुस्तक के गाँव को चमकाया नहीं है, बल्कि कहीं कुछ बिखरने और ढकने का प्रयास किया है ।"[२१] इस कथन से यह ध्वनित-सा होता है कि शहरी कथा की सार्थकता गाँव की विषमताग्रस्त कथा को उभारने में है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है । शहर और गाँव, दोनों का जनजीवन विषमताग्रस्त है, इस जनजीवन की विषमता को उभारने का भार जमींदार और मिलमालिक से सम्बन्धित कथाभागों पर है । वस्तुतः शहर और गाँव के कथानकों का ऊपर से तो क्या, भीतर से भी ठीक तरह से जुड़ा

हुआ न होने का मुख्य दोष है । यदि यह मान भी लिया जाय कि शिथिलशिल्प उपन्यासों के पक्षधर थे,[१२] तो भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि शहरी कथा पारसी थियेटर के नाटक के समान ऊटक नाटक अधिक है नाटक कम (डॉ० बच्चन सिंह) ।[१३] इसी कथा में पहलवानों और परियों के अखाड़ों में 'सारी दिलचस्पी रखने वाले मिर्जा खुर्शेद की 'बूढ़ी कबड्डी' की सनक दिखाई देती है । वस्तुतः इस प्रसंग में गरीबों की मेहनत पर पनपने वाली पूँजीवादी व्यवस्था का वह पहलू उजागर किया जा सकता था, जिसमें पूँजीवाद की भाट में अपनी जवानी को भस्म कर डालने वाले मजदूर की फटेहाल विवश बुढ़ापे की जिन्दगी उभर कर सामने आ जाती । इसी शहरी कथा में मिर्जा साहब वेश्याओं की गम्भीर समस्या को नाटक मंडली बनाकर उतने ही उथले ढंग से सुलझाते हुए दिखाई देते हैं ।

शहरी कथा ग्रामीण कथा के निकट आकर भी ग्रामजीवन से दूर ही रही है । धनुषयज्ञ का नाटक देखने के स्थान पर शहरी मण्डली पठान के नाटक में ही अटक कर रह गई थी । शहरियों की 'जवांमर्दी की परीक्षा' लेने वाले इस नाटक में मालती का 'मनचलेपन का आनन्द' भी आपातत अस्वाभाविक प्रतीत होता है । इसी प्रकार शिकारकथा का प्रसंग भी रोजमर्रा के जीवन की स्वाभाविकताओं से वंचित है । मेहता का मालती को कन्धे पर बैठाना, मिर्जा द्वारा गरीब जंगली आदमियों के साथ भील गाते दिन बिता देना ऐसी ही बातें हैं । शहर के प्रसंगों में लम्बे-लम्बे वादविवाद भी खटकते हैं । वीमंस लीग में दिये गये मेहता के भाषण की चर्चा का अनावश्यक विस्तार दस पृष्ठों में किया गया है । शहरियों से सम्बन्धित उपन्यास का लगभग ४० प्रतिशत भाग जनजीवन को सही ढंग से चित्रित करने में अधिक सफल नहीं है । यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'कलम' का मजदूर काम की तलाश में शहर की चकाचौंध में भटकने वाले मजदूरों की समस्या को उस क्षमता के साथ उपस्थित नहीं कर सका है, जिस क्षमता से उसने ग्रामीण किसानों की समस्या को उपस्थित किया है । यही स्थिति मध्यमवर्ग के चित्रण के सम्बन्ध में है ।

'गोदान' में प्रेमचन्द की दृष्टि मुख्यतः कृषकवर्ग की समस्या पर रही है और उस समस्या को उन्होंने सफल अभिव्यक्ति भी दी है । इसीलिए इस उपन्यास को कृषक जीवन का महाकाव्य भी कहा जाता है । धनसत्ता के शासन के अन्तर्गत जनता का यह प्रमुख अंग विभिन्न रूपों में यंत्रणा का शिकार बना हुआ है । किसान को तो जैसे अपना 'नरम चारा' समझ रखा है । सरकारी नौकर हुक्कामों के तलवे चाटने और अधीनों का खून चूसने में प्रसिद्ध हैं । थानेदार तो जैसे उसका दामाद है । गंडासिंह को तो यह घमंड है कि 'उसका मारा पानी भी नहीं मांगता', फिर फिर भला उसके अत्याचार के विरुद्ध बेचारा किसान न्याय कहाँ से माँग सकता है ।

इसी प्रकार सरकार के सबसे छोटे नौकर पटवारी को भी यह अहंकार होता है कि वह जमींदार या महाजन का नौकर न होकर उस सरकार बहादुर का नौकर है कि 'जिसके राज में सूरज कभी नहीं डूबता' और जो जमींदार और महाजन दोनों का मालिक है। अगर किसान उसे नजराना और दस्तूरी न दे तो उसका गाँव में रहना मुश्किल। पटवारी केवल सरकारी नौकरी ही नहीं करता, अपितु नौकरी की बदौलत महाजनी भी करने लगता है। पटेश्वरी ऐसे ही पटवारी हैं।

सरकारी नौकरों के अतिरिक्त शोषण जमींदार का शोषण भी अव्याहत चलता ही रहता है। उसके शोषण के अमर्यादित रूप को देखकर मेहता ने उसे 'समाज का शाप' कहा है और ओंकारनाथ ने 'कानूनी डकैत।' वह किसान से लगान ही वसूल नहीं करता, उसे समय-समय पर शगुन और बेगार के लिए भी विवश कर देता है। चाहे किसान एक-एक कौड़ी को दाँतों से पकड़ें, मगर उसका लगान बेबाक होना मुश्किल हो जाता है। अगर बेबाक हो भी जाय, तो जमींदार का कारिंदा लगान की रसीद नहीं देता और बीच-बीच मे साल भर किसी न किसी बहाने से कुछ न कुछ वसूल करता ही रहता। यही कारण है कि वेतन के रूप मे प्रतिमास दस रुपये पाने वाले नोखेराम की साल की ऊपर की आमदनी हजार रुपये है। कारिंदे से डरते रहने में ही किसान की कुशल है। जल में रहकर मगर से बैर कैसे किया जा सकता है।

हुक्काम और जमींदार के अतिरिक्त महाजनों का शोषण भी किसान की दुर्दशा का बहुत बड़ा कारण है। होरी की दृष्टि से ही विचार किया जाय, तो उसका जमींदार तो एक ही है; किन्तु महाजन तो 'तीन-तीन ही नहीं, अनेक हैं। उस पर दुलारी सहुआइन, दातादीन और मँगरू के अतिरिक्त बिसेसर साह और झींगुरीसिंह का भी कर्ज है। कर्ज भी ऐसा वैसा नहीं, एक आना रुपए सूद का कर्ज है। कर्ज देते समय झींगुरीसिंह तो पक्का कागज लिखाते थे, नजराना अलग लेते थे, दस्तूरी अलग और स्टाम की लिखाई अलग। पच्चीस रुपए का कागज लिखो, तो मुश्किल से सत्रह रुपये हाथ लगते थे, क्योंकि वे एक साल का ब्याज भी पेशगी काट लेते थे। होली की नकल में झींगुरी का रूप भरे गिरधर ने जब दस रुपये का दस्तावेज लिखा कर नजराना, तहरीर, कागज, दस्तूरी और सूद के रुपये काट कर किसान के हाथ पाँच ही रुपये पकड़ाए, तो रहे सहे पाँचों रुपयों को लौटाते हुए वह किसान कहता है कि—"सरकार, एक रुपया छोटी ठकुराइन का नजराना है, एक रुपया बड़ी ठकुराइन का। एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने को, एक बड़ी ठकुराइन के पान खाने को। बाकी बचा एक, वह आपकी क्रियाकरम के लिए।"[२८] कैसा करारा व्यंग्य है! इसी झींगुरीसिंह के रिनियाँ कितने ही लोग थे। इनमें से शोभा भी एक है, जो यह चाहता है कि किसी तरह से झींगुरी को हैजा हो जाय, जिसके कारण

रूखी रोटी भी मयस्सर नहीं है। वह निराश होकर कहता है कि—"न जाने इन महाजनों से कभी गला छूटेगा कि नहीं।" इसी प्रकार झींगुरी ने गिरधर की ऊख का सारे का सारा पैसा ले लिया चबैने के लिए भी कुछ न छोड़ा। केवल इकन्नी बच गई थी, जिसे उसने मुंह में छिपा लिया था। उसने अपना गम गलत करने के लिए उस इकन्नी की ताड़ी पी, लेकिन इकन्नी की ताड़ी से नशा क्या होगा केवल नशे के स्वांग में वह झूठमूठ झूम सकता है।

होरी झींगुरी का कर्जदार तो था ही लेकिन वह 'काले सांप' दातादीन का भी कर्जदार था, जिसने केवल बोआई के लिए उसे कर्ज देकर आधी फसल का स्वामित्व पा लिया था। इतने पर भी इस बेईमान बुड्ढे का पेट नहीं भरा। उसने बीज और मजदूरी का कुछ ऐसा ब्यौरा बताया कि होरी के हाथ एक-चौथाई से अनाज न लगा। मंगरू साह तो होरी को यह धमकी देता है कि—"यह न समझना कि तुम मेरे रुपये हजम कर जाओगे। मैं तुम्हारे मुर्दे से भी वसूल कर लूंगा।" वह धमकी ही नहीं देता, अपितु होरी की ऊख का नीलाम भी करवा देता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि किसानों के लिये "कर्ज वह मेहमान है जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।"[१४] उनकी कमाई का बड़ा भाग महाजनों का कर्ज चुकाने में ही खर्च हो जाता है। इतना ही नहीं यही एक चीज है जिसे वे वसीयत में अपने बेटों को दे जाते हैं। 'गोदान' में कर्जविषयक समस्या के विस्तार को देखकर डॉक्टर रामविलास शर्मा ने कर्ज की समस्या को ही 'गोदान' की केन्द्रीय समस्या मान लिया है।[१५]

इस प्रकार स्पष्ट है कि हाकिम, जमींदार, महाजन आदि अनेक मालिकों की मूकी गुलामी करते हुए बैल की तरह जुते रहने में ही किसान का जीवन समाप्त हो जाता है। गालियाँ सुनना तो उसके लिए साधारण सी बात है। वे तो जैसे कृषक जीवन का प्रसाद ही हैं। जमींदार उसे मुसक बंधवा के पिटवाता है और महाजन लात-जूतों से बात करता है। किसान विपन्नता के जाल से छुटकारा पाने के लिए जितना ही फड़फड़ाता है, उतना ही वह जकड़ता चला जाता है। इस गुलामी के जीवन से उसे पेंशन तभी मिलती है, जब कि यमराज का बुलावा आ जाता है। शोषकों की जिन्दगी के रास्तों को तैयार करने में ही उसका जीवन समाप्त हो जाता है। उसे अपनी जिन्दगी में दूध घी अंजन लगाने तक नहीं मिलता। इसलिए साठे पर पाठे की बात तो दूर, साठे तक पहुँचने की नौबत ही नहीं आ पाती। दवा-दारू के अभाव में उसके बच्चे आँखों के आगे देखते-देखते ही मर जाते हैं। होरी ऐसा ही किसान है। गऊ की लालसा उसके जीवन की सबसे बड़ी साध है, किन्तु वह भी पूरी नहीं हो पाती। पूरी होने की बात तो दूर, यह लालसा ही उसके लिए अभिशाप बन गई।

शोषण के इस अन्याय को दूर करने में शिक्षा भी सहायक न हो सकी। शोषकों के बच्चे लिख-पढ़कर शोषण की मशीन को अधिक कारगर रूप में चलाने लगते हैं। अन्याय के विरुद्ध न्यायव्यवस्था भी लाचार है, क्योंकि महँगा न्याय पैसे वालों के साथ है। पंचायतों की तो बात ही बेकार है, क्योंकि पंच मुख रक्तशोषक पिशाच हैं। सम्पादकों से आशा लगाना भी व्यर्थ है, क्योंकि ओंकारनाथ जैसे संपादकों को रायसाहब खरीद लेते हैं। रही प्रजातंत्र की बात, किन्तु वहाँ भी हमें यह दिखाई देता है कि 'वोट नए युग का मायाजाल' है। नोटों के सहारे वोटों को खरीदनें वाले व्यापारी और जमींदार ही प्रजातंत्र के मालिक बन जाते हैं और जनता को अपनी कार का पेट्रोल समझने लगते हैं। जब तक दौलत का राज्य बदस्तूर चलता रहेगा, तब तक सभी उपाय विषवृक्ष की पत्तियाँ तोड़ने के समान निरर्थक बनकर रह जायेंगे। जब तक शोषण के इस वृक्ष की जड़ों पर कुल्हाड़े न चलेंगे, तब तक कुछ न हो सकेगा। इसके लिए रक्तशोषक भेड़ियों के आगे भेड़ें बनने से काम नहीं चलेगा। देवतापन की जड़ता को झटक कर आदमी बनना पड़ेगा। शोषण की व्यवस्था के आमूल परिवर्तन का संदेश ही गोदान का उद्देश्य है।

ग्रामीण कथा में भी हमें यह दिखाई देता है कि प्रेमचन्द ने भूमिहीन कृषि-मजदूरों पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं किया है। उनके होरी ने यह कहा है कि—"मजूर बन जाय, तो किसान हो जाता है। किसान बिगड़ जाय, तो मजूर हो जाता है।" सामान्यतः गाँव के भूमिहीन कृषि-मजदूरों के सम्बन्ध में इतना ही सत्य नहीं है। गाँव का कृषिमजदूर प्रायः नीच जाति का होता है, जिसके सम्बन्ध में सामान्य धारणा यह है कि "नीच जात लतियाये अच्छा।" नीच जाति के इन लोगों को जब-तब बेगारी करनी पड़ती है। इनकी बहू-बेटियों की इज्जत बहुधा ही लूटी जाती रही है। दिग्विजयसिंह जैसे जमींदार ही नीच जाति की बहू-बेटियों पर डोरे नहीं डालते, अपितु गौरी महतो जैसे लोग भी चमारिनों से फँसे रहते हैं। पटवारी का लड़का रमेसरी तो इन पर गिद्ध की तरह टूट पड़ता है। मातादीन ने तो चमारिन को अपने घर बैठा लिया था। चमारों ने अपने समय की दृष्टि से बड़े साहस के साथ मातादीन के मुँह में हड्डी का टुकड़ा डालकर भ्रष्ट कर दिया था। इतना सब होने के बावजूद यह सत्य है कि नीच जाति के मजदूरों के आर्थिक शोषण की उपेक्षा हो गई है।

मुंशी प्रेमचन्द ने 'गोदान' उपन्यास में व्यक्तिविकास (मोक्ष) एवं समाज-विकास (धर्म) के अनुकूल अर्थ पुरुषार्थ की व्यवस्था करने का जहाँ संदेश दिया है, वहाँ काम-पुरुषार्थ-विषयक चिंतन को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उपन्यास को पढ़कर यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि यह उपन्यास अर्थ एवं काम से सम्बन्धित दुहरे संदेश का उपन्यास है। काम एवं प्रेमविषयक संपूर्ण चर्चा शहरी कथानक का

भाग बनकर आई है। अस्तित्वरक्षा की चिंता से सर्वथा मुक्त धनी व्यक्ति मुक्तभोग के सिद्धांत को स्वभावत ही मानने लगते हैं, क्योंकि आवश्यकता से अधिक धन व्यक्ति को हमेशा विलासिता की ओर मोडता है। विलासिता मे बाधक वैवाहिक बन्धनो को तोडने की प्रवृत्ति ऐसे व्यक्ति मे पाई जाती है, क्योंकि बन्धनो को तोड-कर ही छूटे सांड की तरह दूसरो के खेतो में मुंह मारने की सुविधा मिल सकती है। मुक्तभोग का समर्थन करने वाले ऐसे व्यक्तियो मे से खन्ना भी एक हैं। वे तो यहां तक कहने का दुस्साहस करते हैं कि—"जो रमणी से प्रेम नही कर सकता, उसके देश प्रेम में मुझे विश्वास नहीं।" मुक्तभोग के सिद्धात का समर्थन मिस्टर मेहता ने भी किया है, किन्तु उनके समर्थन की नीव विलासिता मे नही है। वे विवाह को आत्मा के विकास मे बाधक मानते हुए कहते है कि—"विवाह तो आत्मा को और जीवन को पिंजरे मे बन्द कर देता है।"[१७] वे व्यक्ति की दृष्टि मे अविवाहित जीवन को श्रेष्ठ समझते हुए भी समाज की दृष्टि मे विवाहित जीवन को श्रेष्ठ मानते हैं। उनकी दृष्टि मे विवाह वह सामाजिक समझौता है, जिसके करने के पहले व्यक्ति स्वाधीन होता है, किन्तु समझौता हो जाने के बाद उसके हाथ कट जाते हैं। उनके अनुसार व्याह तो आत्मसमर्पण है। आत्मसमर्पण के अभाव म प्रेम ऐयाशी मात्र होता है।

मिस्टर मेहता स्त्रियो का क्षेत्र पुरुषो से बिल्कुल अलग मानते है। उनका कहना है कि स्त्री अपनी कुर्बानी से अपने को बिलकुल मिटाकर पति की आत्मा का अश बन जाती है, किन्तु पुरुष मे यह सामर्थ्य नही है। वह अपने को मिटायेगा, तो शून्य हो जाएगा। मेहता स्त्री को इतना ऊंचा उठा हुआ (या शून्य बना हुआ) देखना चाहते है कि पति के मारने पर भी उसमे प्रतिहिंसा की भावना न जागे और उसकी आंखो के सामने ही पति अगर किसी दूसरी स्त्री से प्यार करे, तो भी उसमें ईर्ष्या का लवलेश न आए। स्त्री की इस गरिमा को पश्चिमी सस्कृति के प्रभाव म स्त्री भूलती जा रही है, इस बात का मेहता को बडा दुःख है। पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव मे विद्या और अधिकार की बात करने वाली स्त्री से उनका कहना है कि—"आपकी विद्या और आपका अधिकार सृष्टि और पालन मे है।"[१८] 'सृष्टि' और 'पालन' शब्दो पर चढे हुए बडप्पन के आवरण को हटाकर उनकी असलियत को समझा जाए, तो हमे यह दिखाई देता है कि पुरुष के लिए उत्तराधिकारी पैदा करने और उसे पाल-पोस कर बडा करने की बात उनमे छिपी हुई है। आज के जमाने मे पशुबल के आधार पर स्त्री को उसके अधिकारो से वंचित नही किया जा सकता, इसलिए इस छलबल का सहारा लेने के लिए पुरुष विवश है और वह स्त्री से कहने लगा है कि उसके लिए "त्याग ही सबसे बडा अधिकार है।"[१९] उसके इस त्याग का अधिकार क्षेत्र घर की चारदिवारी है। वह अपने पति के आश्रय मे रम

अधिकार को भोगे। मालती जैसी नए युग की देवी भी मेहता की इस बात को कोरी फिलासफी समझती है कि सुशिक्षित स्त्री मर्द का आश्रय न चाह कर मर्द के साथ कंधा मिलाकर चलना चाहती है। स्त्री का आश्रित बने रहने के लिए उसमें श्रद्धा की आवश्यकता है। इस श्रद्धा के कारण वह पुरुष से श्रेष्ठ है, क्योंकि वह श्रद्धा, त्याग आदि का दान करके 'देवता' बनती है, पुरुष तो 'देवता' मात्र है।[१०] नारी तुम केवल श्रद्धा हो"[११] कहकर उसके अधिकारों को छीन लेने का कैसा सफाई-दार ढंग है! नारी को घर की चारदिवारी तक सीमित रखने में लज्जा का भी बड़ा भारी उपयोग है। प्रसाद के समान प्रेमचन्द ने स्त्री के लिए लज्जा को महत्त्व-पूर्ण मानते हुए कहा है कि वह "स्त्री का सबसे बड़ा आकर्षण है।"[१२]

मुंशी प्रेमचन्द ने मेहता के माध्यम से स्त्री की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—"स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है, जितना प्रकाश अँधेरे से।" वे इस प्रकाश से केवल घर को प्रकाशित करना चाहते हैं। घर से बाहर निकाल कर स्त्री को सामाजिक दायित्व का बोध कराने वाली उच्च शिक्षा के वे समर्थक नहीं हैं। उन्होंने मुंशी अहमदअली खाँ की इस बात का 'पूरी तरह समर्थन' किया है कि स्त्री-शिक्षा इस सीमा तक ही हो, जिससे स्त्रियाँ "दो-चार हर्फ...अपने रिश्ते-कुनबे वालों को अपनी जरूरत के बारे में लिख पढ़ सकें, घर का रोज का खर्च लिख लें, बच्चों को मामूली किताबें पढ़ा सकें..."[१३] प्रेमचन्द ने अपनी इसी धारणा के कारण ही संभवतः अपनी बेटी को पढ़ाया-लिखाया नहीं था।

मेहता ने व्यक्तिविकास की दृष्टि से अविवाहित जीवन को श्रेष्ठ माना है। उनके अनुसार विवाह आत्मविकास में बाधक है। मालती ने भी तितली से देवी बनने के बाद विवाह को 'असीम के निकट' पहुँच सकने की दृष्टि से बाधक माना है। यद्यपि वह यह भी स्वीकार करती है कि पूर्णता के लिए पारिवारिक प्रेम का महत्त्व है, किन्तु उसे अपनी आत्मा की दृढ़ता पर विश्वास नहीं है। वह यह सोचती है कि गृहस्थी की बेड़ियाँ पैरों में डालकर सम्भवतः विकास के पथ पर चल नहीं सकेगी। इसलिए वह मेहता के साथ केवल मित्र बनकर रहने का ही निर्णय करती है।[१४] मालती का यह निर्णय मानव की सहज प्रवृत्तियों के अनुकूल नहीं है। वस्तुतः उसका यह निर्णय प्रेमचन्द के अन्तर्मन में प्रभावशाली ढंग से छिपी निवृत्तिवादी विचारधारा से प्रभावित है।

अविवाहित न रह सकने की स्थिति में अगर विवाह करना ही पड़े, तो भी प्रेमचन्द महात्मा गाँधी के समान ब्रह्मचर्य पर बल देते रहे हैं। उन्होंने इसी कारण कृत्रिम संततिनिरोध को भोगलिप्सा के लिए वृद्धिकारक माना है और संततिनिरोध के लिए ब्रह्मचर्य के 'मंगलमय उपाय' पर बल दिया है।[१५] वैवाहिक जीवन में भी उन्होंने स्त्री के कामपावित्र्य पर अत्यधिक बल दिया है। मिर्जा खुर्शेद तो असमत

(सतीत्व) को 'हिन्दुस्तानी तहज़ीब की आत्मा' ही मानते हैं।[१४] कामपावित्र्यविषयक धारणा के कारण ही उन्होंने यह कहा है कि—"पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं, तो वह महात्मा बन जाता है। नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं, तो वह कुल्टा हो जाती है।"[१५] इस उक्ति का 'कुल्टा' शब्द स्पष्टतः कामपावित्र्य की ओर संकेत कर रहा है। इसी प्रकार भारत में कामपवित्र व्यक्ति के 'महात्मा' बनने में देर नहीं लगती, इस बात को हर कोई जानता ही है। कामपावित्र्यविषयक इस धारणा के कारण ही उन्होंने विधवाविवाह का विरोध किया है। उन्होंने 'प्रेमा' उपन्यास का 'प्रतिज्ञा' में परिवर्तन करते समय इस मत को ही पुष्ट किया है। इसीलिए डॉक्टर रघुवीरसिंह को लिखे पत्र में यह मत व्यक्त किया है कि—"मैंने विधवा का विवाह करके हिन्दू नारी को आदर्श से गिरा दिया था। उस वक्त जवानी की उम्र थी और सुधार की प्रवृत्ति ज़ोरों पर थी।"[१६]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'गोदान' की अर्थविषयक दृष्टि सामाजिकता की चेतना से अनुप्राणित है, किन्तु कामविषयक दृष्टि में सामाजिकताविरोधी निवृत्तिवादी विचारधारा की भरपूर झलक है। व्यक्तिविकास की दृष्टि से विचार करने वाले निवृत्तिवादी विचारकों ने निष्कामता की सिद्धि को अत्यन्त महत्त्व दिया है। काम की स्वस्थ पूर्ति दूसरे सहभोक्ता के बिना असम्भव है और दूसरे के सहयोग की स्थिति सामाजिकता की स्थिति है तथा वह भावी सामाजिक दायित्व की भूमिका भी है।

अर्थ एवं कामविषय इन उद्देश्यों पर संक्षेप में विचार कर लेने के बाद यह स्पष्ट है कि दोनों की चिन्तनधाराओं का मूल उत्स एक नहीं है और न ही दोनों धाराएँ गंगा और यमुना की तरह किसी एक स्थान पर सहयोगी रूप में मिलकर सामाजिक दृष्टि से किसी संगम-तीर्थ का निर्माण करती हैं। प्रायः आलोचकों ने 'गोदान' पर यह आक्षेप किया है कि इस उपन्यास में ग्रामीण एवं शहरी कथाएँ परस्पर मिलकर नीरक्षीर की तरह एकरस नहीं हो सकी हैं। ये दोनों कथाएँ नीर-क्षीर की तरह भले ही एकरस न हो सकी हों, किन्तु वे खिचड़ी के मूँग-चावल या उड़द-चावल की तरह अवश्य इस रूप में मिल गई हैं कि सामाजिक स्वास्थ्य के लिए वे पथ्यकर या पौष्टिक हो गई हैं। इसके विपरीत शहरी कथानक में समाविष्ट कामविषयक चर्चा उपन्यास की मूलधारा से पृथक् बहती हुई प्रतीत होती है तथा बहुत कुछ ऊपर से चस्पाँ की हुई लगती है। उपन्यास के अर्थ एवं कामविषयक संदेश परस्पर न मिलने वाले समान्तर संदेश हैं।

टिप्पणियाँ

१. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, प्रथम भाग, पृ० ५०

२. हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ कथात्मक प्रयोग, पृ० ६३
३. गोदान (प्रथम संस्करण), पृ० ७४
४. "धनी कौन होता है, ···· वही जो अपने कौशल से दूसरों को बेवकूफ बना सकता है।"—गोदान, पृ० ४३४
५. गोदान, पृ० ४१२
६. विविध प्रसंग (प्रथम भाग), पृ० २६४
७. गोदान पृ० ४३४
८. वही, पृ० ६०८
९. वही, पृ० ८९
१०. वही, पृ० ८८
११. वही, पृ० १६६
१२. वही, पृ० ८६
१३. वही, पृ० १७
१४. वही, पृ० ५८९
१५. वही, पृ० ४९२
१६. वही पृ० २१२
१७. वही, पृ० ५२२
१८. वही, पृ० २७३
१९. हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ कथात्मक प्रयोग, पृ० ५६
२०. आधुनिक साहित्य, पृ० १९९
२१. प्रेमचन्द : एक कृती व्यक्तित्व, पृ० १६६
२२. "यह आवश्यक नहीं कि वे सब घटनाएँ और विचार एक ही केन्द्र पर आकर मिलें।"—कुछ विचार, पृ० ४
२३. गोदान, सम्पादक-राजेन्द्र गुरु, पृ० १३३
२४. गोदान, पृ० ३६५
२५. वही, पृ० १६९
२६. प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० १०१
२७. गोदान, पृ० ९७
२८. वही, पृ० २७०
२९. वही, पृ० ३२५
३०. वही, पृ० २६४
३१. कामायनी, लज्जा सर्ग
३२. गोदान, पृ० ३००

३३ विविध प्रसंग (प्रथम भाग), पृ० ५६
३४ गोदान, पृ० ५७६
३५ विविध प्रसंग (तृतीय भाग), पृ० २५१
३६ गोदान, पृ० ५५४
३७ गोदान, पृ० २४४
३८ प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिल्पविधान—ले० डॉ० कमलकिशोर गोयनका, पृ० ५४५

सुनीता : बाहर के प्रति घर की पुकार

डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे

जैनेन्द्रकुमार काम और प्रेम के साहित्यकार हैं।

"पत्नी सामाजिकता है और प्रेयसी दिव्यता है।"

"घर में बाहर के प्रति पुकार है, यही पुकार 'सुनीता' का विषय है।"

"आदमी अपने में अपने को पूरा नहीं पाता। दूसरे की अपेक्षा उसे है ही।"

"घरबार बसाकर तो आदमी अपने को ह्रस्व करता है।"

छोटे-से कथानक को व्यवस्थित ढंग से उपस्थित करने के कारण डा० इन्द्रनाथ मदान ने कहा है कि 'जैनेन्द्र के पास कथानक थोड़े होते हैं, किन्तु उनकी 'परोसने की कुशलता' ही उन्हें महत्त्वपूर्ण बना देती है।"

४

सुनीता

जिस वर्ष उपन्यास सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' प्रकाशित हुआ, उसी वर्ष जैनेन्द्रकुमार का 'सुनीता' उपन्यास भी प्रकाशित हुआ। 'गोदान' ने अपनी व्यापक यथार्थवादी सामाजिक चेतना के कारण ख्याति अर्जित की तथा 'सुनीता' ने गहन अचेतन के सम्भावित यथार्थ की व्यक्तिवादी चेतना के कारण। 'गोदान' की चेतना मे अर्थ और काम दोनो के लिए भरपूर स्थान है, किन्तु 'सुनीता' की चेतना अर्थ के प्रति उदासीन है तथा काम के प्रति सजग है। जैनेन्द्र-कुमार काम और प्रेम के साहित्यकार है। काम और प्रेम की दृष्टि से भी 'गोदान' और 'सुनीता' की चेतना मे भेद है। 'गोदान' का काम सामाजिक चेतना मे नियन्त्रित होने के कारण विवाह मे आस्थावान् है, किन्तु 'सुनीता' का काम विवाह को 'निवाहने योग्य संस्था' मानते हुए भी प्रेम को अधिक महत्त्व देता है। 'सुनीता' ही नही, अपितु जैनेन्द्र के सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य की केन्द्रीय संवेदना प्रेम ही है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'पत्नी सामाजिकता है' और 'प्रेयसी दिव्यता है।' वे यह मानते है कि "प्रेम गगनविहारी है, मुक्त होकर ही वह है।"[1] उनके अनुसार प्रेम बाँधकर भी खोलता है। इसके विपरीत विवाह की आबद्धता मे केवल निर्वाह की बात ही रह जाती है। प्रायः ईर्ष्या के पहरे मे रखकर ही विवाह की सुरक्षा की जाती है। ऐसी स्थिति मे घर और बाहर की समस्या खड़ी हो जाती है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने 'घर और बाहर' उपन्यास मे बाहर के आक्रमण से घर की रक्षा का सदेश दिया है। जैनेन्द्र को घर और बाहर का विरोध मान्य नही है। वे कहते है—"असल मे 'घर' और 'बाहर' मे परस्पर सम्मुखता ही मै देखता हूँ। उनमे कोई सिद्धान्तगत पारस्परिक विरोध देखकर नही चल पाता।"[2] इसलिए वे घर और बाहर के द्वैत को मिटा देना चाहते है। उनके अनुसार "भीतर का बाहर के साथ नाता अनिवार्य है।"[3] इसीलिए उन्होने 'बाहर' को निरे आक्रामक के रूप मे 'घर' के भीतर प्रविष्ट नही किया है। उनकी दृष्टि मे "घर मे बाहर के प्रति पुकार है।" यही पुकार 'सुनीता' का विषय है। उन्होने यह स्पष्ट किया है

कि बाहर के कारण घर की निरानन्दता घटती है।

समाजशास्त्र के अनुसार दो सम्बन्धित व्यक्तियों का युग्मक समाज की सबसे छोटी इकाई होती है। इस प्रकार की इकाइयों में युवक और युवती के युग्मक का महत्त्व सबसे अधिक है। यह इकाई सृजनशील होने के कारण सामाजिक विकास एवं नैरन्तर्य के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी है। इस इकाई की स्थिरता सामाजिक स्वास्थ्य एवं शांति के लिए आवश्यक है। इस स्थिरता की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए विवाह संस्था को विकसित किया गया है। स्वस्थ विवाह संस्था के कारण 'भूत का डेरा' भी 'घर के अपनेपन के कारण स्वर्ग के समान आनन्ददायक बन जाता है। किन्तु विवाह संस्था की स्थिरता के लिए अगर पति और पत्नी के युगल में से कोई एक व्यक्ति को घर की चारदिवारी की घुटन अनुभव करे, तो विवाह संस्था घर को निरानन्द बना डालती है। बाहर के सहज संपर्क के अभाव में श्रीकांत और सुनीता का दाम्पत्य-जीवन घर में घिरा रहने के कारण जड़ता से आच्छन्न हो गया था। इसी कारण एक ओर श्रीकांत यह सोचने लगा था कि उसे 'गिरस्तिन पत्नी' के अतिरिक्त कुछ और भी चाहिए' तथा दूसरी ओर 'वैचित्र्य के प्रति जिज्ञासु' सुनीता विश्ववैचित्र्य के लिए आतुर हो उठती है।' उसका मन पति के यमनियमादि के पालन करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध उद्विग्न हो उठता है। वह सोचने लगती है कि वह अपने पति को अपने में बाँधकर क्या नहीं रख पाती।

घर की पत्र पुष्पहीन ऋतु को बदल कर बसन्त ऋतु की बहार लाने के लिए श्रीकांत ने दशहरे की छुट्टियों में दिल्ली से दूर प्रयाग के कुंभ मेले में जाने का कार्य-क्रम बनाया। प्रयाग के कुंभ-मेले में चौदह वर्ष बाद उसे दूर से हरिप्रसन्न दिखाई दिया, किन्तु भीड़ के कारण भेंट न हो सकी। यह वही हरिप्रसन्न है, जो यह समझता है कि—"घर बार बसा कर आदमी अपने को हरण कर लेता है।"' श्रीकांत और सुनीता के दाम्पत्य जीवन के लिए हरिप्रसन्न बाहर का प्रतीक है। इस बाहर के सम्पर्क से दाम्पत्य जीवन की सफलता का स्वाद प्राप्त करने का निश्चय श्रीकांत करता है। बाहर की खुली दुनिया के सम्पर्क में ही दो के एक हो रहने की महत्ता का अनुभव किया जा सकता है। इस प्रसंग में कठिनाई यह है कि माया को मरीचिका समझने वाले और जाया को जिंदगी जाया करने का कारण समझने वाले हरिप्रसन्न में घर का आकर्षण किस प्रकार पैदा किया जाए। हरिप्रसन्न को घर की ओर आकृष्ट करने के लिए श्रीकांत अपनी पत्नी का उपयोग करता है। वह हरिप्रसन्न को लिखे पत्र में यह कहता है कि—"आदमी अपने में आप का पूरा नहीं पाता। दूसरे की अपेक्षा उसे है ही।" इतना ही नहीं, अपने इस पत्र के साथ भाभी का परिचय देने हुए अपनी पत्नी की शादी से ठीक पहले की गजब की तस्वीर भेजने की योजना बनाता है। वह इस तस्वीर के सम्बन्ध में पत्र

में यह लिखता है कि—"अपनी भाभी की तस्वीर देखो, और कहो, तुम्हें स्त्री से छुट्टी चाहिए ?" श्रीकांत भाभी की तस्वीर के आकर्षण की भूमिका बनाने केसाथ हरिप्रसन्न से घर पर आने के लिए अनुरोध करता है और लिखता है कि—"मुझसे ज्यादा अपनी भाभी का अनुरोध समझो ।"[७] अपने पति की इस योजना में सुनीता सहर्ष शामिल हो जाती है ।

श्रीकांत और सुनीता की इस घर और बाहर को परस्पर पूरक बनाने की योजना के बाद एक दिन सहज ही हरिप्रसन्न दिल्ली में ही श्रीकांत से मिलता है । श्रीकांत हरिप्रसन्न को घर लिवा लाता है और हरिप्रसन्न के घर आने और घर में कुछ काल रहने के बाद घर का सारा मौसम ही बदल जाता है । उसके कुछ काल घर में रह जाने के कारण श्रीकांत और सुनीता, दोनों कुछ भर आते हैं । श्रीकांत ने यह अनुभव किया कि इधर कुछ वर्षों से इतने सहज रूप में सुनीता से वह कभी कोई बात नहीं कह पाया है, जितने सहज रूप में हरिप्रसन्न के घर में आने के बाद वह अनायास कहने लगा है । दूसरी ओर सुनीता ने भी यह अनुभव किया कि यमनियमादि को ही सब कुछ समझने वाला उसका पति सरस हो उठा है । पिछले पाँच-छह वर्षों से जिसने कभी सिनेमा का नाम भी नहीं लिया था, वह 'राजरानी मीरा' को देखने के लिए सोत्साह आग्रह कर रहा है । इतना ही नहीं, स्वयं अपने में ही वह सुखद परिवर्तन का अनुभव करने लगी है । उसने वर्षों से भूली हुई सितार के तारों को फिर से छेड़ना शुरू कर दिया है । ऐसा लगता है कि जैसे वर्षों से जो भीतर रुका पड़ा था, वह हरिप्रसन्न के सम्पर्क में आते ही सितार के सुरों में बज उठा है ।

बाहर के आनन्दोद्दीपक सम्पर्क को श्रीकांत ने यहीं तक सीमित नहीं रहने दिया । वह हरिप्रसन्न और सुनीता के देवर-भाभीपन के नाते में और भी अधिक प्रगाढ़ रंग भर स्वयं रंगारंग होना चाहता है । इसीलिए अदालत के काम से लाहौर जाते समय वह हरिप्रसन्न से जहाँ यह कहता है कि—"मेरे पीछे अपनी भाभी को जरा भी कम अपनी न समझना"; वहाँ वह सुनीता से हरिप्रसन्न को पूरी तरह प्रसन्न रखने के लिए कहता है । इतना ही नहीं, वह लाहौर से अदालत का काम समाप्त होने के बाद भी जानबूझ कर जल्दी नहीं लौटता । इसीलिए वह लाहौर से भेजे पत्र में सुनीता को लिखता है कि—"अदालत का काम खत्म हुआ समझो । फिर भी मैं रहने के लिए यहाँ चार-पाँच रोज रहूँगा ।" वह अपने पत्र में यह भी लिखता है कि—"इन कुछ दिनों के लिए मेरे ख्याल को अपने से बिलकुल दूर कर देना ।··· तुम इन दिनों के लिए अपने को उसकी (हरिप्रसन्न की) इच्छा के नीचे छोड़ देना । यह समझना कि मैं नहीं हूँ,···इस भाँति निषिद्ध कर्म भी कोई नहीं रहेगा ।"[८]

श्रीकांत की ओर से उकसाए जाने के बाद सुनीता हरिप्रसन्न से कहती है

कि—"हरी, मेरे प्रेम की सौगन्ध, तुम अपने को मारोगे नहीं।" वह हरिप्रसन्न के कहने पर 'रणदेवी' 'मायारानी' बनकर अपनी माया के आकर्षण से दल के युवकों के उल्लास को जगाने के लिए उद्यत हो जाती है। रात की मीठी चाँदनी में गुदगुदी सर्दी की बयार में हरिप्रसन्न सुनीता को समूची पाने के लिए व्याकुल हो उठता है। वह अपनी जंघा के सहारे लेटी हुई सुनीता से कहता है कि—"मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।" इस पर सुनीता कहती है—"इनकार कब करती हूँ। मुझे मत कर्म करो। मुझे ले लो।" वह इतना कहकर ही नहीं रुक जाती अपितु अपने को पूरी तरह से निर्वसन कर लेती है। उसको नग्न देखकर हरिप्रसन्न के भीतर उमड़ता हुआ लावा लज्जा के कारण जहाँ का तहाँ जम जाता है। उपन्यास के इस प्रसंग के कारण जगदीश पाण्डे ने जैनेन्द्र को चीरहरण का कथाकार कह डाला है तथा कुछ अन्य आलोचकों ने इस 'साड़ी जम्पर उतारवाद' की कड़ी आलोचना की है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सुनीता की नग्नता दमित वासना का विस्फोट न होकर नैतिक तर्क के रूप में उपस्थित की गई है। वह निर्वसन होकर भी इसीलिए नग्न नहीं हुई। इसके पीछे सुनीता की हरिप्रसन्न के प्रति सघन सहानुभूति विद्यमान है। इसलिए इस प्रसंग में अश्लीलता की भावना नहीं है। स्वयं जैनेन्द्रकुमार का कहना है कि—'जहाँ छल है, वहाँ अश्लीलता है। जहाँ हमारा सम्बन्ध सघन सहानुभूति का है, वहाँ अश्लीलता रह ही नहीं जाती। वेदना प्रधान है जहाँ वहाँ अश्लीलता है ही नहीं।'[९] इन तर्कों के बावजूद इस प्रसंग के इलकेपन से इनकार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए यह वर्णन देखिए—"सुनीता अपने शरीर पर आहिस्ता आहिस्ता फिरते हुए इस पुरुष के हाथ का स्पर्श अनुभव करने लगी। कुछ देर तो वह यूँ ही पड़ी रही, फिर आँख खोलकर मानो बूझ कर उसने कहा—'हरि बाबू ?"

जैनेन्द्र ने नग्नता के तर्क को शायद सबल बनाने के लिए हरिप्रसन्न में लज्जा का आविर्भाव दिखाया है तथा सुनीता बाद में हरिप्रसन्न के चरणों की रज लेती हुई प्रदर्शित की गई है। यदि तर्क देकर सुनीता ने हरिप्रसन्न को सच्ची दृष्टि प्रदान की है, तो हरिप्रसन्न को सुनीता के चरणों की रज लेनी चाहिए थी। इस प्रसंग के बाद श्रीकान्त ने सुनीता को अपने आलिंगन में बाँध लेना चाहा, तो 'नववधू जैसा भाव' सुनीता में आ गया। "ब्रीड़ा की लाली की विमलता को देखकर श्रीकान्त के भीतर फूटता हुआ सन्देह एकदम अपनी ही लज्जा में गलकर खो गया।"[१०] आलिंगन में आबद्ध सुनीता ने व्याज ब्रीड़ा के भाव से कहा "हटो हटो।' उपन्यास नववधू की इस विमल ब्रीड़ा के साथ समाप्त हुआ है। बाहर के सम्पर्क के कारण श्रीकान्त और सुनीता का दाम्पत्यजीवन जो अकारण ही निरानन्द सा बन गया था, वह नव-विवाहितों के दाम्पत्य के समान उल्लास और आनन्द से भर ही उठा है।

प्रस्तुत उपन्यास के प्रारम्भिक भाग में लेखक ने श्रीकान्त और सुनीता के

दाम्पत्यजीवन की निरानन्दता के सम्बन्ध में यह कहा है कि इस निरानन्दता का कोई कारण स्पष्टतः नहीं दिखाई पड़ता। निरानन्दता का कारण भले ही स्वयं श्रीकांत को न मालूम हो, किन्तु अचेतन मन के विशेषज्ञों से वह छिपा नहीं है। मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो किसी स्त्री के प्रति तब तक आकर्षण का अनुभव नहीं कर पाते, जब तक कि उसका किसी अन्य पुरुष से लगाव न हो। संभवतः परकीया प्रेम के रसोल्लास में यह बात ही हो। इसी को मनोविज्ञान ने तृतीय आहत पक्ष की आवश्यकता के रूप में प्रतिपादित किया है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए श्रीकांत को चौदह वर्ष बाद हरिप्रसन्न की याद आई है। वह हरिप्रसन्न को प्रतिमास तीस रुपए अपने घर पर रहने के लिए देने को उद्यत है, जिससे कि स्वकीया में ही परकीया का रसोल्लास अनुभव किया जा सके। सम्भवतः विवाह को 'निबाहने योग्य संस्था' मानने के कारण शुद्ध परकीया प्रेम के मार्ग पर चलने का साहस उसमें नहीं है। इसके अतिरिक्त नैतिकता की दृष्टि से स्वकीया के सतीत्व को खंडित देखने का साहस उसके चेतन मन में नहीं है। इसीलिए व्रीड़ा की लाली की विमलता का विचार वह छोड़ नहीं सका है। कहने का आशय यह है कि स्वकीया को सतीत्व की दृष्टि से शुद्ध रखकर भी परकीया बनाकर भोगने का आनन्द श्रीकांत पाना चाहता है। मनोविज्ञान की शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि श्रीकांत उन व्यक्तियों में से है, जो तृतीय आहत पक्ष के बिना कामविषयक आकर्षण अनुभव नहीं कर पाता।

तृतीय आहत पक्ष की आवश्यकता सम्भवतः व्यक्ति के विकृत अहं की तुष्टि से सम्बन्धित है। जिस प्रकार कुछ छोटे बच्चे मिठाई खाने का पूरा आनन्द तब तक नहीं उठा पाते, जब तक कि वे अन्य बच्चों को मिठाई दिखा कर चिढ़ा न लें। कुछ ऐसे भी बच्चे होते हैं, जो अपने हिस्से की मिठाई खाने में उतने प्रसन्न नहीं होते, जितना कि दूसरों से छीनकर मिठाई खाने में। ऐसी ही कुछ बात कामविषयक तुष्टि की दृष्टि से भी कही जा सकती है। इस प्रकार की तुष्टि में तृतीय आहत पक्ष की आवश्यकता पड़ती है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने घर और बाहर की विरोधिता का निराकरण करके उन्हें परस्परोपकारक रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। इस उद्देश्य की पूर्ति का एक पक्ष बाहर के माध्यम से घर को उल्लासमय बनाना है, तो दूसरा पक्ष घर के माध्यम से बाहर को रसोन्मुख बनाना है। बाहर को घर की महत्ता की ओर आकृष्ट करना है। घर से विमुख जीवन सहज जीवन नहीं कहा जा सकता। पुरुष और स्त्री अपने आप में अधूरे हैं, वे दूसरे की सापेक्षता में ही पूर्णता प्राप्त कर पाते हैं। "घरबार बनाकर तो आदमी अपने को ह्रस्व करता है"—यह हरिप्रसन्न का दृष्टिकोण श्रीकांत की दृष्टि में अनुचित है। हरिप्रसन्न क्रांतिकारी है और प्रायः

प्रातिकारी इसी दृष्टिकोण के कायल होते है। इस प्रकार के दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति मे गाँठ पड जाती है। हरिप्रसन्न के चित्त मे इसी प्रकार की गाँठ है जिसे खोलकर उसे सहज बनाने के लिए श्रीकान्त ने सुनीता को उपलक्ष्य बनाया है। वह सुनीता से यह स्पष्ट कहता है कि—'तुम्हारी ही राह से मैं उसे दुनिया मे लाने की सोचता हूँ।'[११] सुनीता भी हरिप्रसन्न के प्रति सकरुण होकर कहती है कि—'बेचारे को कोई भी नही मिली।' इसलिए वह अपने पति का सहयोग देने के लिए सहर्ष तैयार हो जाती है। श्रीकान्त और सुनीता अपने इस अभीष्ट को प्राप्त करने के लिए 'हरिप्रसन्न के प्रति सब कुछ' करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। सुनीता इसीलिए निर्वसनता के नैतिक तर्क से भी हरिप्रसन्न को दुनिया मे लाने का प्रयत्न करती है। अन्त मे श्रीकान्त अपनी पत्नी से यह कहता है कि "गाँठ उसके (हरिप्रसन्न) भीतर से खींच निकालने म उपलक्ष्य तुम बनो।"[१२] श्रीकान्त की यह बात सचाई का अपलाप है। सुनीता के सपर्क मे रहकर हरिप्रसन्न का काम उभडकर बाहर निकल पडता है और वह समूची सुनीता को पाने की माँग पेश करता है। सुनीता ने भले ही यह कहा हो कि मैं इनकार कब करती हूँ, किन्तु निर्वसन होने के बाद भी पर-कीयापन का वगर उसकी नग्न देह को आवृत किए हुए था। उसने अपने को सहज रूप से निर्वसन नही किया। सहज ढग से निर्वसन होती तो बॉडी की 'फ टन' का उल्लेख किया ही न जाता। सुनीता की निर्वसन देह को देखने की चेतना उसमे नही थी लज्जा ने उसकी चेतना को जमा दिया था। इस लज्जा के कारण ही वह सुनीता के लिए अज्ञेय हो उठा है, परिणामत हम सुनीता को हरिप्रसन्न की शरण ले जाते हुए देखते हैं। स्पष्ट है कि हरिप्रसन्न की गाँठ खुली नही, अपितु पहले से भी अधिक मजबूत बन गई है। यदि वह खुल गई होती, तो उसे हम किसी जीवनसगिनी से प्रतिबद्ध पाते। हाँ, इतना अवश्य सिद्ध हुआ है कि श्रीकान्त ने हरिप्रसन्न के निमित्त से सुनीता को अपने और भी अधिक निकट अनुभव किया।[११] अपने दाम्पत्यजीवन मे रुके हुए बहाव को फिर से गतिशील बनाने के लिए हरिप्रसन्न को साधन मात्र बनाया है। परोपकार करने के नाम पर अपने स्वार्थ को ही सिद्ध किया है। सभी प्रकार के सम्बन्धो मे 'आशिक समर्पण के अतिरिक्त' 'आशिक स्वार्थ' वाला अश भी होता है। श्रीकान्त और सुनीता के दाम्पत्यसम्बन्ध के स्वार्थांश को सतुष्ट करने मे हरिप्रसन्न निमित्त मात्र बना है।

घर और बाहर के सम्बन्ध के कथ्य को अभिव्यक्त करने के लिए कथानक आदि का लेखक ने उपयोग मात्र किया है, उन पर बल नही दिया है। कथानक आदि उपकरण उक्त कथ्य के लिए पूर्णत समर्पित है। उपकरण विषयक शिल्प को जैनेन्द्र के उपन्यासो मे अधिक महत्त्व नही भी नही दिया गया है। जैनेन्द्र का मत है कि—'शिल्प इतना महत्त्व नही है। कारीगरी को किसी तरह छोटी चीज नही

समझा जा सकता । लेकिन उससे किनारे बनते हैं । नदी का पानी नहीं बनता ।"[१४]

'सुनीता' का कथानक यद्यपि बयालीस परिच्छेदों में विभक्त है, किन्तु घटनाओं के आटोप का सर्वथा अभाव है । स्वयं लेखक ने 'प्रस्तावना' में यह स्पष्ट कर दिया है कि "कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं है ।" इसीलिए उपन्यास का कथानक कुतूहलतत्त्व के प्रति उदासीन है । घटना के बाद घटना को क्षिप्र गति से बढ़ने वाला 'फिर क्या हुआ ?' का कुतूहल उपन्यास में अत्यन्त गौण है । डॉक्टर नगेंद्र का यह कहना पूर्णतः सत्य है कि—"जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में कहानी केवल निमित्त मात्र होती है ।"[१५] यह निमित्त मात्र कहानी भी मंडूकप्लुति से कुछ कहते हुए और बहुत कुछ अनकहा रखते हुए आगे बढ़ती है । वस्तुतः उनके उपन्यासों के कथानक रूपरेखात्मक होते हैं । उनमें दोहरे-तिहरे कथानक के लिए स्थान प्रायः नहीं होता । 'सुनीता' का कथानक अत्यन्त सरल एवं घटनाविहीन-सा है । इस कथानक में नाटकीय विडंबना (ड्रामेटिक आयरनी) का उदाहरण भी देखा जा सकता है । उपन्यास के प्रारम्भिक भाग में "मुझे कौन कामदेव बनना है"—कहने वाला हरिप्रसन्न उपन्यास के अन्त में कामदेव ही बन-सा जाता है और वह प्रेम के नाम पर 'काम की लाली' से सम्पन्न सुनीता से समूचे काम की तृप्ति पाना चाहता है । छोटे-से कथानक को व्यवस्थित ढंग से उपस्थित करने के कारण डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान ने कहा है कि जैनेन्द्र के पास 'पकवान थोड़े' होते हैं, किन्तु उनकी 'परसने की कुशलता' ही उन्हें महत्त्वपूर्ण बना देती है ।[१६]

जिस प्रकार 'सुनीता' में इनी-गिनी दो-एक घटनाएँ हैं, उसी प्रकार पात्रों की संख्या भी अत्यल्प है । यहाँ उल्लेखनीय पात्र केवल साढ़े तीन हैं—श्रीकांत, सुनीता, हरिप्रसन्न और आधा पात्र सत्या है । इनके अतिरिक्त सुनीता के मैके के लोग एवं चन्द्रसेन आदि केवल मुँह दिखाने भर को उपन्यास के मंच पर आते हैं । हम यहां केवल साढ़े तीन पात्रों के सम्बन्ध में ही संक्षिप्त रूप से चर्चा करेंगे ।

श्रीकांत हरिप्रसन्न का बचपन का मित्र है । यद्यपि दोनों के स्वभावों में बहुत बड़ा अन्तर है, किन्तु दोनों का सौहार्द अटूट है । हरिप्रसन्न का सर्वप्रमुख गुण सार्वजनिकता या परार्थतत्परता है । इसके विपरीत श्रीकांत में सार्वजनिकता का अभाव है । हरिप्रसन्न सामाजिक कार्य के लिए अविवाहित बना रहता है तथा श्रीकांत का विवाह सुनीता से हो जाता है । विवाह हुए कुछ वर्ष बीत चुके हैं, किन्तु वह अभी तक निःसंतान है । संतान की उसे चिन्ता नहीं है, किन्तु घर के वातावरण की निष्कारण जड़ता से वह चिंतित है । इस निष्कारण जड़ता का निराकरण करने के लिए वह हरिप्रसन्न को साधन बनाता है, किन्तु बचपन के मित्र को साधन बनाते समय उसका मन किसी-न-किसी रूप में संकोच का अनुभव करता है, सम्भवतः इसीलिए हरिप्रसन्न के मन की गांठ को खोलने का बहाना उसके मन ने ढूंढ लिया

है । वह स्वयं एक स्थान पर यह स्वीकार करता है कि—"मैं, परमार्थ का कायल नहीं । मुझे तो मेरा अपना हित ही इसमें दीखता है ।"[13] अपने स्वार्थ के लिए घर को बाहर के सम्पर्क में समय वह सब कुछ को उद्यत है, क्योंकि वह स्वभाव से ही "आधा मन देना नहीं जानता । वह सुनीता को इतनी छूट दे देता है कि उसके लिए कोई कर्म निषिद्ध नहीं रह पाता । इसके बावजूद सामाजिक नीतिसंस्कारों से वह सर्वथा मुक्त नहीं हो पाया है । हरिप्रसन्न के साथ सुनीता को मोटर में बैठकर रात को बाहर जाते देखकर वह उद्विग्न हो उठता है और बाद में सुनीता की क्रीडा की लाली में चारित्रिक विमलता का प्रमाण पाकर वह आश्वस्त हो जाता है । इस प्रकार तृतीय आहृत पक्ष की आवश्यकता अनुभव करने वाला उसका अवचेतन जहाँ सन्तुष्ट होता है, वहाँ नीतिसंस्कार से युक्त उसका चेतन मन भी अनाहत बना रहता है । विवाह संस्था की सतीत्व की धारणा का निर्वाह हो जाता है ।

श्रीकांत के समान ही सुनीता भी घर की जडता के बोझ से मुक्त होना चाहती है, इसलिए वह अपने पति की योजना में सहभागी होने के लिए सहर्ष उद्यत हो जाती है । उसमें बचपन से ही आवारगी में एक प्रकार का आकर्षण रहा है, इसीलिए वह पति के प्रति समर्पित रहते हुए भी हरिप्रसन्न के साथ रात में भी जंगल में जाने में संकोच नहीं करती । उसका मन बचपन से ही 'वैचित्र्य के प्रति जिज्ञासु और सामर्थ्य के प्रति उन्मुख' रहा है । गृहिणी सुनीता में छिपा बालिका सुनीता का रूप उभर कर सामने आया । इस प्रसंग में वह पति के प्रति पूर्णतः समर्पित होने के कारण पति की इच्छा को पूर्ण करने के लिए प्रतिबद्ध है । इसी प्रतिबद्धता के कारण वह हरिप्रसन्न को दुनियाँ में लाने के लिए निमित्त बनने के लिए निःसंकोच तैयार हो जाती है । वह हरिप्रसन्न को अपने मनोमुग्धकर सन्नद्ध रूप के द्वारा आकृष्ट ही नहीं करती, अपितु हरिप्रसन्न द्वारा अपनी बाहु को चूमे जाने और अपनी कनपटी के नीचे लिए जाने पर कुछ भी नहीं कहती । इतना ही नहीं, अपने प्रेम की सौगंध देकर हरिप्रसन्न से अपने आप को न मारने के लिये कहती है । 'मरो मत, कर्म करो'[14] कह कर वह समूची लिये जाने के लिये निर्वसन तक हो जाती है । मनोविज्ञान की दृष्टि से वस्तुतः यह दाम्पत्य सम्बन्ध के स्पर्धा से सम्बन्धित है या तृतीय आहृत पक्ष की आवश्यकता की पूर्ति करने वाली घटना है । स्पष्टतः सुनीता और श्रीकांत 'घर' के परस्पर पूरक अर्धांग हैं ।

प्रस्तुत उपन्यास में हरिप्रसन्न बाहर का प्रतीक है । वह 'परार्थतत्पर' होने के कारण विवाह को व्यक्तित्व के स्वच्छन्द विकास में बाधक समझता है । इसलिए सुनीता का यह कहना कि 'बेचारे को कोई भी नहीं मिली"—संगत नहीं है । वस्तुतः उसने घर बसाने का प्रयत्न ही नहीं किया है । वह सुनीता से इसीलिए कहता है कि—"मेरे साथ ब्याह वह करे, जो मुझे छोडकर किसी दिन भी चल देने की हिम्मत रखे,

क्योंकि कौन कौन जानता है कि मैं उसे किसी दिन छोड़ कर नहीं चल पड़ सकता ।" वह आज और कल के बीच नये-दबे गृहस्थजीवन से जानबूझ कर बचा रहा है। यद्यपि गृहस्थ जीवन से बचे रहने का उसका तर्क सामाजिक दृष्टि से प्रेरित है, किन्तु गृहस्थजीवन के अभाव में काम की सहज प्रवृत्ति की अतृप्ति के कारण कुंठा का आ जाना स्वाभाविक है। कुंठाग्रस्त व्यक्ति हिंसा के मार्ग पर अगर मुड़ जाय, तो उसे स्वाभाविक ही समझना चाहिए। हरिप्रसन्न भी केवल अहिंसक सत्याग्रही ही नहीं बना रहा, किन्तु हिंसक क्रान्ति के मार्ग पर भी वह मुड़ गया है। यह बात दूसरी है कि उपन्यास में उसका क्रान्तिकारी रूप बिल्कुल उभर नहीं सका है। 'मायारानी' के आकर्षण के कारण वह क्रान्ति के संगठन को रसमय बनाने में ही जुट गया है, अतः संपूर्ण प्रसंग में क्रान्ति का उत्साह या साहस कहीं नहीं है। उसका सुनीता को 'रणदेवी' बनाने का आदर्श उसका रतिदेवी बनाने में ही पर्यवसित हो कर रह गया।

हरिप्रसन्न के मन में कामकुंठा कहीं गहरे में विद्यमान थी, परिणामतः क्रान्तिकारिता का आवरण हटने में कोई कठिनाई नहीं हुई। देवरभाभीपन के स्वरूप पर विचार करते-करते सुनीता की किवाड़ पर पड़ी थपथपाहट को सुनते ही उसके मन में खलबली मच जाती है। वह शेली की पुस्तक में लिखे 'सुनीता' को 'श्रीमती सुनीता देवी' कर देता है। इतना ही नहीं, वह सुनीता की तस्वीर को भी सुधारता है। सुनीता के नाम और तस्वीर में किये गये ये परिवर्तन उसके परिवर्तमान मन के बहिरंग सूचक हैं। इसके साथ ही 'मुझे कौन कामदेव बनना है' कहने वाला हरिप्रसन्न बाद में बिना किसी के अनुरोध के अपनी दाढ़ी-मूंछ साफ करा देता है। वह इतना आगे बढ़ जाता है कि सुनीता की कलाई को पकड़ कर अपने पास बिठा लेता है। उसके भीतर कुछ काला-काला फन-सा घुमड़ने लगता है। इसी घुमड़न के प्रभाव में वह रात के एकान्त में कॉम्पोजिशन नग्न पुरुष का चित्र खींचता है, जिसे दिखाने के लिए प्रातः जब वह गड़बड़ में सुनीता के पास पहुँचा, तो सद्यःस्नाता सुनीता को देख कर स्तिमित नमित रह जाता है। इसके बाद सुनीता के बाहु को रात के एकांत में चूम लेता है तथा उसके हाथ को कनपटी के नीचे लेकर लेट रहता है। वह मन ही मन सुनीता की जाँघ का तकिया पाने की कामना में डूब जाता है तथा अन्त में मानों उसी कामना की पूर्ति के लिए रसीले सदेश की योजना बनाता है। सुनीता के प्रति उसका सम्पूर्ण व्यवहार उसे समूची पाने की अभिलाषा से प्रेरित है। किन्तु इस सम्पूर्ण व्यवहार को लज्जा ने चरमसीमा पर पहुँचते ही एकाएक रोक दिया है। हरिप्रसन्न की कुंठा कम होने के स्थान पर बढ़ी ही होगी, यह निश्चित है।

उपर्युक्त तीन पात्रों के अतिरिक्त सत्या का स्थान भी उपन्यास में है। उपन्यास में सत्या का प्रवेश ट्यूशन आदि के बहाने हरिप्रसन्न को 'घर' में रोक लेने के लिए,

हुआ है। सुनीता ने इसीलिए हरिप्रसन्न से कहा है कि—'मैं समझती हूँ कि वह (माया) सृजन भी कर सकती है।"[15] इस वाक्य ने जो सम्भावनाएँ सूचित की थी वे पूर्ण नहीं हो सकी हैं। माया हरिप्रसन्न को अपने अनुकूल नहीं कर सकी, इसके विपरीत हरिप्रसन्न और सुनीता के सम्बन्ध को देखकर वह हरिप्रसन्न की विरोधिनी ही बन जाती है, किन्तु भीजी को बचाने के प्रयत्न में इस सम्बन्ध की बात नहीं करती। सत्या के प्रसंग में उसके क्रान्तिकारी युवक चन्द्रसेन से परिचित होने की भी जानकारी मिलती है, किन्तु यह सम्भावनापूर्ण जानकारी भी कच्चा ही रह जाती है।

'सुनीता' का देशकाल क्षैतिजिक नहीं लम्बात्मक है। देशकालगत विस्तार की अपेक्षा मानसिक ससार की गहराई ही उपन्यास में है। इसीलिए जैनेन्द्र के उपन्यासों में प्राकृतिक वर्णनों का अभाव सा होता है। 'सुनीता' के सरस सदेश के प्रसंग में प्रकृति का वर्णन थोड़ा-सा दीख पड़ता है। बयार में गुलाबी सर्दी का अनुभव, चाँद की चाँदनी का मीठापन आदि ने रात के एकांत को मादक बना दिया है। इस प्रकार के प्रकृतिवर्णन के प्रसंग उपन्यास में अपवादात्मक रूप में ही पाठक का ध्यान अपनी ओर खींचते हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की भाषा-शैली विशिष्ट होती है। उसकी पहली विशेषता निजीपन है। जैनेन्द्र ने हिन्दी को दार्शनिक चिन्तन के अनुकूल बनाने में विशेष योग दिया है। ऊपर से सरल-सी प्रतीत होने वाली भाषा में वक्रता सहज रूप से समाविष्ट रहती है। इसीलिए प्रभाकर माचवे ने लिखा है कि—"जैनेन्द्र ऐसी सुलझन हैं, जो पहेली से भी अधिक गूढ़ हो। वे इतने सरल हैं कि उनकी सरलता भी वक्र लगे।"[16] चिन्तनेतर प्रसंगों में भी भाषागत सरल वक्रता दिखाई देती है, जैसे—"प्रशान्तता अशान्त हुई।"

। जैनेन्द्र की भाषा का एक प्रमुख गुण समाहार शक्ति है। वे गिनती के शब्दों में अपनी बात कह देते हैं। सरल छोटे वाक्यों में व्यंजना भरने में कुशल हैं। जैनेन्द्र का विश्वास है कि—"भाषा कह कर इतना नहीं कहती, जितना अनकहा छोड़कर कहती है।" उनकी मान्यता है कि—"भाषा गूंगी होती है, तभी वह कह पाती है।" यही कारण है कि जैनेन्द्र की भाषा में रिक्तता भरपूर होती है। कम शब्दों में अधिक कहने की प्रवृत्ति के कारण उनकी भाषा में सूक्तियाँ भरपूर पाई जाती हैं। "रुकना सदा मौत है, जीवन नाम चलने का है", "दूरी ही निकटता को सत्य बनाती है"—जैसे सूक्तिवाक्य उनके उपन्यासों में जहाँ-तहाँ पाये जाते हैं।

जैनेन्द्र की भाषा-शैली में अलंकारों का आग्रहपूर्वक प्रयोग नहीं हुआ है। प्रायः अलंकार अनायास ही आ गए हैं। 'गर्व यही सर्व होगा' जैसे शब्दालंकार के प्रयोग लगभग अपवाद रूप में ही हैं। अर्थालंकारों के प्रयोग में भी प्रायः अनायासता

दिखाई देती है। दृष्टांत का एक उदाहरण देखिए—"हरिप्रसन्न अपना मन थामे था, जैसे कि बदहवास घोड़े को कोई जोर से लगाम खींच कर थामे हो।" एक सर्वथा नई उपमा का रूप देखिये—"वह अर्धविराम के चिन्ह की भाँति वहाँ बैठा था।"

यद्यपि जैनेन्द्र की भाषा प्रायः बोलचाल की भाषा है, किन्तु बीच-बीच में चावल के कंकर के समान कठिन शब्द जहाँ-तहाँ बिखरे दिखाई देते हैं। बोलचाल की भाषा के आग्रह के कारण गिरगितन, गल, बयार, विथा, आदि म्वर तद्भव शब्दों का प्रयोग एक ओर और हुआ है, तो दूसरी ओर कृपानुजीवी, उत्क्रुद्ध, जगद्-वाल आदि शब्द भी दीख पड़ते हैं। उर्दू के सरल शब्दों के साथ 'मौकूफ' तरद्दुत आदि अप्रचलित शब्द भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी के 'सिस्टम' आदि शब्द ही नहीं, अपितु एकाध स्थल पर रोमन लिपि में Who possed is little so much the less possed जैसे पूर्ण वाक्य भी प्रयुक्त हुआ है। भाषागत इन दोषों के कारण डॉक्टर नगेन्द्र ने यह ठीक ही कहा है—"अभिव्यक्ति के दो अंग हैं—उक्ति और भाषा। उक्ति कला है और भाषा शास्त्र है। जैनेन्द्र जी उक्ति के माहिर हैं। वक्रता पर ऐसा अधिकार कदाचित् ही किसी गद्य लेखक का हो—शायद निराला का है। परन्तु भाषावाला अंग जैनेन्द्र जी का कच्चा है।"[११]

जैनेन्द्र की भाषा का कच्चापन स्थान-स्थान पर प्रकट हुआ है। 'तुम देश-देश में भटका किये हो'; 'बहस में जीता किये हो'; 'बहुत कुछ है, जो होना माँगता है,' आदि ढंग के अटपटे वाक्य उनकी भाषा में पाए जाते हैं। 'निष्पुत्रा' में निरर्थक संस्कृत भाषा का लिंगविधान है, तो 'अपने पराजय' में लिंगविपर्ययविषयक दोष है। 'ईतिप्ठ होकर' 'आयत्त करो' जैसे हिन्दी की प्रकृति के अननुकूल प्रयोग भी किए गए हैं। 'पन्द्रह रुपये मुझे अभी चाहेंगे' का प्रयोग चिंतनीय है। 'निर्वंवा' जैसे समास खटकते हैं। 'आवें' आदि प्रयोग भी न हों, तो अच्छा है। भाषागत इन दोषों के बावजूद जैनेन्द्र की अभिव्यक्तिक्षमता अद्वितीय है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

टिप्पणियाँ

१. कल्याणी, पृ०
२. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ११६
३. कल्याणी, पृ०
४. सुनीता, पृ० १७
५. वही, पृ० १६०
६. वही, पृ० ६०
७. वही, पृ० १०
८. वही, पृ० १४०

९ जैनेन्द्र और उनके उपन्यास—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृ० २३
१०, सुनीता, पृ० १८९
११ वही, पृ० १४
१२ वही, पृ० १९०
१३ वही, पृ० १३३
१४ साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ३२२
१५ आस्था के चरण, पृ० ६२१
१६ आज का हिन्दी उपन्यास, पृ० २३
१७ सुनीता, पृ० १४
१८ वही, पृ० १८४
१९ वही, पृ० ६२
२० साहित्य का श्रेय और प्रेय (प्रस्तावना), पृ० १२
२१ जैनेन्द्र और उनके उपन्यास, पृ० १११

कल्याणी : एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास

डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे

"द्वन्द्व के माने हैं दो के बीच का अनिर्वाह। यह दो के, अथवा अनेक के, बीच एकता का अभाव ही हमारी समस्या है।"

—'कल्याणी'

"आदमी के भीतर की व्यथा ही सच है। उसे सँजोने रहना चाहिए। वह व्यथा ही शक्ति है।"

—'कल्याणी'

"कल्याणी का यह जीवन-चरित्र नहीं है। उनके व्यक्तित्व को चारों ओर से लेकर विश्लेषण द्वारा पुनर्निर्माण करने की मेरी इच्छा नहीं है। यह तो बस कहानी है जिसमे संवेदन हुआ तो मैंने भर पाया। सहानुभूति से आगे मुझे क्या चाहिये? पात्र यदि चाहिये तो उसी को टिकाने के लिए। चरित्र लिखने की मेरी ताब नहीं। बस कुछ याद की बातें कहता हूँ कि कहीं हमारा चित्त छू जाय और रस का स्रोत खुल आये।"

—'कल्याणी'

"सब मिलाकर मन यह मानता है कि यह मानवात्मा (कल्याणी) विकास-पथ पर है।"

—'कल्याणी'

५
कल्याणी

उपन्यास का इतिहास पाठक की दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व के निकट से निकटतर पहुँचने का इतिहास है। इसी बात में उसका 'उपन्यासत्व' निहित है। हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक काल में देवकीनन्दन खत्री ने मनोरंजन के उद्देश्य को सामने रखकर कुतूहलवृत्ति को तृप्त करने वाले उपन्यास लिखे। इन उपन्यासों में अद्भुतरम्य रहस्यमय कल्पना-संसार का चमत्कार है। देवकीनन्दन खत्री के बाद मुंशी प्रेमचन्द ने उपन्यास के लिए मनोरंजन मात्र के उद्देश्य को अपर्याप्त मानकर उपयोगितावादी दृष्टि को अनिवार्य माना। उन्होंने साहित्य को दीपक के समान मार्गदर्शक मानकर सामाजिक जीवन पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की है। गांधीवादी आदर्शभावना पर बल देने के बावजूद उनके उपन्यासों की आधारभूमि यथार्थवादी है। इसीलिए उनके उपन्यासों में मानवचरित्र के यथार्थ चित्र भरपूर रूप से भरे पड़े हैं। उपन्यास साहित्य में मानव की प्रतिष्ठा का श्रेय उन्हीं को है। चरित्रप्रधान होते हुए भी प्रेमचन्द के उपन्यास कथानक की सरसता में यत्किंचित् भी पीछे नहीं हैं। इसी कारण डॉक्टर देवराज उपाध्याय ने उन्हें कथासौन्दर्य का विशेषज्ञ कहा है।[1]

मुंशी प्रेमचन्द ने अपने सामाजिक उपन्यासों में मानव की प्रतिष्ठा तो अवश्य की, किन्तु मानवचरित्र के मूल स्रोतों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उनके उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं की व्यापकता है किन्तु व्यक्तित्व की गहराइयों का गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं है। इसलिए उनके उपन्यास गांधीवाद के बहिर्मुखी व्यवहारपक्ष को जितना उपस्थित करने में सफल हैं, उतना उसके अन्तर्मुखी अध्यात्मपक्ष को प्रकाशित करने में नहीं। इस पक्ष को उजागर करने का श्रेय जैनेन्द्रकुमार को है। वे हिन्दी के प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं की दृष्टि से विचार करने पर जैनेन्द्र को गेस्टाल्टवादी कहा जा सकता है। यह सम्पूर्णतावादी विचारधारा भारतीय अद्वैतवाद के समान जीवन की अखंडता को सत्य मानकर खंडता या अपूर्णता को मिथ्या मानती है। जीवन की पूर्णता आनन्दमय है तथा अपूर्णता दुःखदायक। गांधीवाद के अनुसार पूर्णता की प्राप्ति का साधन

प्रेम या अहिंसा है। गांधीवाद की अहिंसा विषयक धारणा जैनधर्म के समान आत्मपीडन की समर्थक है। आत्मपीडन-सिद्धान्त को ही जैनेन्द्र ने ब्रह्मचर्य भी कहा है और इस ब्रह्मचर्य के विरोधी अहचर्य (आत्मरति) का खण्डन किया है।[1] अहिंसानुकूल आत्मपीडन का सर्वोत्तम साधन कामदमन ही हो सकता है क्योंकि कामवृत्ति ही जीवन की प्रबलतम प्रवृत्ति है। जैनेन्द्र के अनुसार 'प्रेम में कामना नहीं हो सकती, उसमें इतनी अपूर्णता ही नहीं हो सकती।'[2] जैनेन्द्र के इस विश्वास के विपरीत आधुनिक मनोविज्ञान प्रेम की घनिष्ठता के लिए इंद्रिय सम्बन्ध की महत्ता का प्रतिपादन करता है। वह दमनशील नैतिकता का विरोधी है। पुरुषप्रधान समाज में परम्परागत विवाहव्यवस्था की दमनशील नैतिकता का शिकार स्त्रियों को ही प्राय बनना पड़ा है। इस पारम्परिक नैतिक दृष्टि के कारण ही मनु ने 'न स्त्री स्वातन्त्र्य महति' का फतवा दे दिया है। स्वातन्त्र्य के छिन जाने के बावजूद स्त्रियाँ जवान होती रहीं और जवानी के सपनों में रंग भरती रहीं। अपने रंगीन सपनों से मायाविष्ट बनकर वे दुनिया की दृष्टि से कुपथ पर पाँव बढ़ाती रही हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर बिहारी ने कहा है कि—'किते न अवगुन जग करत नै वै चढ़ती बार।'[3] रंगीन सपनों के आवेश में अवगुण करने वाली चढ़ती उमर को दबाने के लिए किये गये प्रयत्नों के कारण स्त्री के दमित व्यक्तित्व ने अनबूझ पहेली का रूप ग्रहण कर लिया। परिणामत समाज में 'स्त्रियश्चरित्रं देवो न जानाति, कुतो मनुष्य' की उक्ति प्रचलित हो गई। प्रस्तुत उपन्यास में पहेली बने हुए कल्याणी के व्यक्तित्व को बूझने का प्रयत्न लेखक ने किया है। मेरे सामने 'कल्याणी' उपन्यास का चौथा संस्करण है, जिसके आवरण-पृष्ठ पर वक्षदर्शक (स्टेथस्कोप) का चित्र है। हम यह देखना है कि लेखक ने उपन्यासरूपी वक्षदर्शक द्वारा डॉक्टर कल्याणी असरानी की हृदय की धड़कनों को सुनकर जो निदान उपस्थित किया है, वह कहाँ तक तर्कसंगत है? यद्यपि लेखक के दृष्टिकोण के अनुसार 'तर्क सच्चाई को नहीं लपेट पाता'[4] तथापि सत्य के निकट तक पहुँचने के लिए हमारे पास तर्क के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय भी तो नहीं है। यह ठीक है कि तार्किक के 'प्रश्न में आग्रह' होता है और 'वह अस्वीकृति की पद्धति है',[5] किन्तु तर्क और प्रश्न की पद्धति का परित्याग करके केवल श्रद्धा का सहारा लेने पर तो वह चिंतन की गति ही अवरुद्ध हो जाती है, जो रचना के मर्म तक पहुँचा सकती है। जब तर्कानुसन्धान के बिना धर्म का ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता, तब उसके बिना व्यक्तित्व का विश्लेषण कैसे सम्भव है?

'कल्याणी' उपन्यास के कथानक आदि अंगों पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि यह मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। इस तथ्य को हृदयंगम कर लेने पर ही इसके स्वरूप को भली भाँति समझा जा सकता है। यह 'सामाजिक

उपन्यास' नहीं है, जैसा कि उपन्यास के प्रारम्भ में शीर्षक के नीचे वंधनी में लिख दिया गया है। उपन्यास में वहिर्मुखी सामाजिक समस्या की अपेक्षा अन्तर्मुखी व्यक्ति-समस्या को उपस्थित किया गया है। पारमार्थिक रूप से परिस्थिति और व्यक्ति, ये दो भिन्न सत्ताएँ न भी हों, तो भी व्यवहारतः उनमें भेद अवश्य है। इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध सघन होता है। "व्यक्तिचरित्र के कारण तात्कालिक समाज स्थिति में खोजे जा सकते हैं।"[६] तथापि उपन्यास में देश-काल से सम्बन्धित सामाजिक परिस्थितियों का अत्यन्त गौण रूप में उल्लेख हुआ है। दो-तिहाई से अधिक उपन्यास पढ़ लेने के बाद कहीं यह ज्ञात हो पाता है कि कथानक का घटनास्थल दिल्ली शहर है, जिसकी खूबसूरती पत्थर की और गुरूर की है[७] और जहां रुपये वालों के हाथों में रुपया मेहनत से नहीं आता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लेखक को देश-काल-परिस्थिति से सम्बद्ध सामाजिक समस्याओं से कुछ लेना-देना नहीं है।

प्रस्तुत उपन्यास की कथा उड़िया कवयित्री डॉ० कुंतलकुमारी के देहान्त की घटना से तात्कालिक रूप में प्रेरित होकर लिखी गई है।[८] मनोवैज्ञानिक उपन्यास होने के कारण लेखक ने इस उपन्यास को देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों के समान घटनानन्दन उपन्यास बनाने का प्रयत्न नहीं किया है। डॉक्टर देवराज उपाध्याय ने यह ठीक ही कहा है कि जैनेन्द्र को पोथी बांचने का ज्ञान कम है। 'कल्याणी' उपन्यास के लेखक वकील साहब ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि उन्हें कहानी में रंग भरना नहीं आता।[९] इस प्रसंग में वस्तुस्थिति यह है कि कथानक उपन्यास का स्थूल अंश होता है। कथानक के स्थूल दिलचस्प, पर अनावश्यक अंशों को लेखक ने सतर्कतापूर्वक दूर ही रखा है, क्योंकि कहानी सुनाना जैनेन्द्र के उपन्यासों का उद्देश्य ही नहीं होता।[१०] इसके अतिरिक्त लेखक को यह भली-भांति मालूम है कि घटनाओं के स्थूल कुतूहलजनक रहस्यों की अपेक्षा अवचेतन के सूक्ष्म रहस्य कहीं अधिक वैचित्र्य-पूर्ण होते हैं। इसीलिए वे स्थूल घटनाओं का वर्णन-विवरण देने के स्थान पर सूक्ष्म मानसिक प्रतिक्रियाओं के विश्लेषण में अधिक रमे हैं। इसके अतिरिक्त क्रियारत रूप की अपेक्षा अनुचिन्तनरत रूप ही मानव व्यक्तित्व का सच्चा स्वरूप होता है। अतः मनोवैज्ञानिक उपन्यास के कथानक में वाहरी वस्तुनिष्ठ घटनाओं के स्थान पर आन्तरिक मानसिक अनुभूतियों और विचारों को महत्त्व दिया जाता है।

आजतक 'अनुज्झितार्थ सम्बन्ध' कथा प्रबन्ध की प्रशंसा की जाती रही है, किन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में वाहरी कथासौष्ठव की प्रायः उपेक्षा कर दी जाती है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में "जगह-जगह कहानी में तार की कड़ियां तोड़ दी हैं।"[११] कल्याणी के समान वे 'चार में तीन हिस्से बात अनकही' रखकर 'सिर्फ एक हिस्सा' कहते हैं।[१२] परिणामतः पाठक को कथाभाग की कड़ियां जोड़ने का काम

स्वय करना पडता है । कहने का तात्पर्य यह है कि उनके उपन्यासो का पाठक 'अधे धृतराष्ट्र' के समान निष्क्रिय गृहीता ही नही होता, अपितु स्रष्टा भी होता है। डॉक्टर देवराज उपाध्याय ने इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया है कि इस प्रकार के उपन्यासो मे पाठक की याचकता का भाव कम हो जाता है और वह स्वोपार्जित रस का आस्वादन करके विशिष्ट आनन्द का भोक्ता बनता है।" कथा-की कडियाँ अनजुडी रखने के पीछे गेस्टाल्ट के सम्पूर्णतावादी सिद्धान्त का भी बहुत बडा हाथ है, क्योकि टूटी कडियो की अपूर्णता के पीछे से पूर्णता की विद्युद्दीप्ति अपूर्णता के अधकार को तडित्वेग से दूर देती है।

लेखक ने 'कल्याणी' उपन्यास मे कथासूत्रो को न केवल अनजुडा रखा है अपितु उपन्यास म समाविष्ट की गई घटनाओ को घटित रूप मे न दिखा कर कथित रूप मे उपस्थित किया है। किसी भी घटना का महत्त्व घटित होने म उतना नहीं है, जितना कि उस घटना के प्रति व्यक्त हुई मानसिक प्रतिक्रिया म है। कल्याणी और पादसाहब के सम्बन्ध, कल्याणी के घर स गायब हो जाने और पति के द्वारा पीटे जाने आदि की घटनाएँ जिन्दादिल प्राध्यापक श्रीधर ने वकीलसाहब को सुनाई हैं। जिस प्रकार नए-से नए काट के कपडे उसके शरीर पर रहत हैं, उसी प्रकार नए-से-नए मजाक की बातें उसकी जीभ पर रहती हैं। यद्यपि वकीलसाहब ने उसे बेमैल मन का ग्रन्थिहीन व्यक्ति बतलाया है," तथापि उसम छिप कर रहस्य दर्शन की वृत्ति आवश्यकता से अधिक है। न जाने लेखक ने उसे दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक क्यो बनाया है ? कही श्रीधर के माध्यम से दार्शनिक जैनेन्द्र की यह रहस्यदर्शनवृत्ति (Voyeurism) ही तो व्यक्त नही हुई है ! वैसे प्रत्येक साहित्यकार मे रहस्यदर्शन की वृत्ति होती ही है।

कथानक की शृखलाओ को तोडने के बावजूद मार्मिक स्थलो के चयन म जैनेन्द्र कुशल हैं। उन्होने उपन्यास का आरम्भ ही कल्याणी की मृत्यु के मादद्दीप्त स्मरण के द्वारा किया है। इस प्रकार अन्त म आरम्भ की गई कल्याणी की कहानी पाठक का मन अपनी ओर बरबस खीच लेती है। पाठक उस अभागिनी नारी की बदकिस्मती से करुण हो उठता है, जिसका पति अपनी पत्नी की मृत्यु के दो चार रोज बीतते-न बीतते पुनर्विवाह की चहल-पहल मे मग्न हो जाता है। मादद्दीप्त स्मरण के अग रूप म विगत घटनाओ का सिंहावलोकन घटनाओ की स्थूलता स कथा को मुक्त करके कथानक म आन्तरिक दृष्टि का समावेश करता है। यादो की गहराई म डुबकी लगाने वाला लेखक कथा के उपसहार तक पहुँचने से पहले चौदहवें और सोलहवें परिच्छेदो मे चिन्तन के बहाने मानो साँस लेने के लिए कुछ क्षण सतह पर आ जाता है। सिंहावलोकन की पद्धति से कथा को उपस्थित करने का यह तन्त्र मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की खास विशेषता है।

अन्य पुरुष में कही गई कहानी की अविश्वसनीयता से बचने के लिए कल्याणी की कहानी आत्मकथात्मक शैली में कही गई है। उपन्यास का 'प्रारम्भिक' भी कहानी की विश्वसनीयता को पुष्ट बनाने के लिए ही लिखा गया है। इस प्रकार कथा को आसन्नलेखकत्व से मुक्त करके आत्मनिष्ठ रूप में कथा उपस्थित करने की पद्धति मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की बहुप्रचलित पद्धति है।

प्रस्तुत उपन्यास के कथानक में कालविपर्यय-पद्धति का भी सहारा लिया गया है। कल्याणी के जीवन का पूर्ववृत्त कालविपर्यय की पद्धति से सम्पूर्ण उपन्यास में आठ-दस स्थानों पर विकीर्ण रूप से दिया गया है। कल्याणी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर छाए हुए प्रीमियर के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण दो-तिहाई उपन्यास पढ़ लेने के बाद ही हो पाता है। कल्याणी के पति की विवाह से पूर्व कल्याणी को पाने के लिए की गई कारगुजारी की जानकारी तो लगभग उपन्यास के अन्त में ही होती है। पूर्ववृत्त की इन जानकारियों को पाने के बाद कथा में पूर्वकथित प्रसंगों में नया अर्थ भर जाता है। उपन्यास को बार-बार पढ़ने पर उसके गूढ़-से-गूढ़तर अर्थ उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्पष्ट होते चले जाते हैं। इस प्रकार उपन्यास घटना-प्रधान उपन्यास के समान केवल एक बार पढ़ कर कुतूहलवृत्ति को शान्त करने का साधनमात्र न रहकर पुनः-पुनः पढ़ने के लिए प्रेरित करने लगता है। उपन्यास पढ़कर समाप्त कर दिए जाने के बाद भी पाठक का मन गतिशील या चिन्तनशील बना रहता है। यह सत्य ही उपन्यास की श्रेष्ठता का निर्विवाद प्रमाण कहा जा सकता है। इसीलिए मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा जाता है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास केवल एक बार पढ़ने मात्र के लिए नहीं होते, अपितु वे पुनः-पुनः पढ़कर चिन्तन करने के लिए होते हैं।[१५]

उपन्यास में क्रान्तिकारी ब्रजनाल से सम्बन्धित सात-आठ पृष्ठ हैं। वह यूगुरु के नाम से छिपकर सातेक दिन कल्याणी के घर टिका था, जिसके कारण पुलिस ने कल्याणी के घर की तलाशी ली तथा उसको कुछ देर हिरासत में रख कर छोड़ भी दिया। यह प्रसंग उपन्यास की मूल कथाधारा में विशेष उपयोगी नहीं है। लेखक ने अपनी हिंसा एवं अहिंसा-विषयक धारणाओं का प्रतिपादन करने के लिए इस प्रसंग के बहाने स्थान निकाल लिया है, जिसका विश्लेषण आगे किया जाएगा।

क्रान्तिकारी ब्रजपाल के अनावश्यक प्रसंग की चर्चा के साथ ही एक अन्य आवश्यक प्रसंग की ओर ध्यान चला जाता है, जिसको उपन्यास में स्थान नहीं मिल सका है। कल्याणी अपने गर्भस्थ बच्चे के लिए जी रही है, पर अपनी विभा और प्रभा नाम की जीवित लड़कियों के सम्बन्ध में उतनी चिन्तित नहीं है। इनका उल्लेख छोटी और बड़ी के नाम से किया गया है। पता नहीं कि इनमें से कौन-सी छोटी है और कौन-सी बड़ी है? बड़ी सदा की रोगिणी है और वह अधिक दिन जीवित नहीं

रहने वाली है। प्रकृति से कविहृदय कल्याणी का उसकी उपेक्षा करना असंगत है, जब कि वह पाल के प्रसंग में स्नेह के बल का आवेशपूर्वक प्रतिपादन करती है। इन लड़कियों के सम्बन्ध में यह भी नहीं कहा जा सकता कि इनकी ओर उनके पिता का पूरा ध्यान है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो कल्याणी अपनी मृत्यु के बाद छोटी को अपने घर रख लेने के लिए वकील साहब से कहती ही नहीं।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से उपन्यास पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि इस उपन्यास में इने गिने ही पात्र हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कम पात्रों में ही काम चल जाता है, क्योंकि पात्रों के अधिक हो जाने पर चरित्र चित्रण में गहराई नहीं आ पाती। 'कल्याणी' उपन्यास में कल्याणी से लेकर डोरी (कल्याणी का नौकर) तक सब मिलाकर कुल पन्द्रह पात्र हैं। इन पात्रों में कल्याणी डाक्टर असरानी और वकीलसाहब ही प्रमुख हैं। ये ही उपन्यास के आदि से अन्त तक दीख पड़ते हैं। इनमें से डॉक्टर असरानी का महत्त्व कल्याणी के चरित्र की गुत्थियों को समझने में सहायक पात्र के रूप में हैं। कल्याणी से असम्बन्धित पहलू का उनके चरित्र में कहीं कोई उल्लेख नहीं है। उपन्यास के बाईस परिच्छेदों में से ग्यारह परिच्छेदों में उन्हें स्थान मिला है। वकीलसाहब का स्थान उपन्यास में आद्यन्त होते हुए भी इस पात्र की योजना विश्वसनीयतापूर्वक आत्मकथाशैली में कल्याणी की कहानी कहने के लिए है। यह पात्र कल्याणी के लिए अभिभावक के समान है और विश्वस्त होने के नाते मानसिक गुबार को व्यक्त करने के लिए थोड़े-बहुत आधार बनाकर इस पात्र को उपस्थित किया गया है। विश्लेषण द्वारा पुनर्निर्माण करके कल्याणी का जीवन-चरित्र उपस्थित करने की भी लेखक की इच्छा नहीं है। इसीलिए उसने कहा है कि—'चरित्र लिखने की मेरी ताब नहीं।'" केवल संवेदन और सहानुभूति को टिकाने के लिए उसे पात्र की आवश्यकता है। कल्याणी ऐसा ही पात्र है। इस पात्र की प्रमुखता के कारण ही उसके नाम पर उपन्यास का नामकरण किया गया है।

किसी भी मनुष्य के व्यक्तित्व में तह पर-तहें होती हैं। कल्याणी के व्यक्तित्व में भी अनेक तहें हैं। व्यक्तित्व की इन तहों को खोलकर उनका स्वरूप समझने के लिए प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं का महत्त्व कुंजी की तरह होता है। कल्याणी उच्च-मध्यमवर्ग में जनमी, पली और बड़ी हुई है। आभिजात्य के शील और संस्कार उसके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग हैं। उसका व्यक्तित्व परिष्कृत है। विलायत जाकर उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की है। वहीं पर ही उसका एक युवक से परिचय हुआ, जो प्रगाढ़ दशा तक पहुँचा। कॉलेज की पढ़ाई के इन दिनों में उसके मन में सपने झूमने लगे। इसी काल के स्वप्नमय वातावरण में उसका प्रकृत कविहृदय कविताओं के माध्यम से व्यक्त होने लगा। जब वह कॉलेज में पढ़ती थी, तभी उसकी पहली

कविता-पुस्तक भी प्रकाशित हुई । फिर एक कम्पीटीशन में प्रथम भी आई थी । विवाह से पूर्व वह प्रान्तभर की रत्न थी और अच्छे से अच्छा वैवाहिक सम्बन्ध उनके लिए सुलभ था । कल्याणी के जीवन के इस पूर्ववृत का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि उसके जीवन में जीवन और मरण की प्रवृत्तियों का स्वस्थ संतुलन था । फ्रायड ने अपने प्रवृत्तियों के ध्रुवीकरण के सिद्धांत में इन प्रवृत्तियों की महत्ता का प्रतिपादन किया है । ये प्रवृत्तियाँ जीवन की काम-मूलक मूलशक्ति (लिबिडो) की अंगभूत प्रवृत्तियों के रूप में विद्यमान होती हैं । यदि इन प्रवृत्तियों का स्वस्थ सन्तुलन जीवन में हो तो व्यक्तित्व के विकास को अवरुद्ध करने वाली ग्रन्थियों से मुक्त रहता है । कल्याणी का पूर्वजीवन ग्रन्थियों से मुक्त स्वस्थ व्यक्ति का जीवन प्रतीत होता है ।

किसी ने कहा है कि मर्द का पहला पालतू जानवर स्त्री है । स्त्रीविषयक इस सामन्तीय दृष्टिकोण के कारण स्त्री को भी धन विशेष के रूप में देखा जाने लगा । कन्या पराया धन बन गई, इसलिए कन्यादान के द्वारा उसे अपने असली मालिक (पति) को सौंपने का विधान प्रचलित हुआ । इस कारण पत्नी होने से पूर्व स्त्री केवल कन्या होती थी; परन्तु कल्याणी निरी कन्या न थी, वह तो डॉक्टर थी । पढ़ाई-लिखाई के कारण उसका निजत्व विकसित हो गया था । डॉक्टर असरानी ने उसके इस निजत्व की उपेक्षा करके उसे अपनी पत्नी के रूप में पाने के लिए क्या नहीं किया ? केवल उसके निजत्व का विचार ही तो नहीं किया था । उन्होंने अपनी भावी पत्नी के विषय में झूठे लांछनों का प्रचार किया, जिससे कि उसका कुलीन विवाह असम्भव हो जाये । इसी कारण कल्याणी बड़ी उम्र तक कुँवारी बनी रही । वह चाहती तो अपने प्रेमकार बैरिस्टर (प्रीमियर) से विवाह कर सकती थी, किन्तु उसने अपने को खींचे रखा और अपने प्रेमी को निराश कर दिया । अपने प्रेमी से विवाह करने से इनकार करने के पीछे सम्भवतः कल्याणी की यह सद्भावना रही होगी कि अपने बदनाम व्यक्तित्व के सम्पर्क से प्रेमी को क्यों सामाजिक दृष्टि से हीन बनाया जाये । इस कारण "दिया हुआ भी नहीं दिया जा सका और लेने वाला अपना लेने का दावा भूल गया ।"[१७] डॉक्टर असरानी का उपाय कारगर सिद्ध हुआ और कल्याणी डॉक्टर के जाल पत्नी के रूप में जा गिरी । कल्याणी को पाने का डॉक्टर असरानी का मनोरथ पूरा हुआ, पर क्या सचमुच ही वह कल्याणी को हृदय से पा सका ? कल्याणी की देह उसे अवश्य मिली, पर उसका स्नेह क्या असरानी को मिल सका ? कृपापूर्वक स्वीकार करके कल्याणी के उद्धार करने का उनका अहंकार पति-पत्नी के बीच में द्वन्द्व का कारण बन गया ।

डॉक्टर असरानी कल्याणी को अपना मातहत बनाकर रखना चाहते थे, जैसा कि उन्होंने कल्याणी को लिखे गये अपने पत्र में उल्लेख किया है । पर वह कैसे

सम्भव था; क्योंकि एक तो कल्याणी अविकसित व्यक्तित्व की स्त्री मात्र नहीं थी तथा दूसरी बात यह है कि परम्परानुसार मातहत पत्नी बनकर रहने के लिए जिस आर्थिक निराधारता की परिस्थिति की आवश्यकता है कल्याणी उस परिस्थिति से मुक्त थी। वह शास्त्रानुमोदित 'भार्या' नहीं थी, बल्कि 'भर्त्री' थी। इसके विपरीत डॉक्टर असरानी को ही चाहें तो 'भर्ता' के स्थान पर 'भार्य' कहा जा सकता है। घर का सारा धन कल्याणी का ही है। यह धन या तो उसे अपने विवाह में पिता की ओर से मिला है या कल्याणी का कमाया हुआ है। उसे मनचाही आमदनी है। इसलिए 'इकॉनमिक डिपेन्डेन्स'" का तो सवाल ही नहीं है जैसा कि घर से कुछ दिन गायब रहने के बाद पति द्वारा खबर लिए जाने पर एक सवेंजिक नेता ने गलती से कह डाला है। स्त्रियों के सम्बन्ध में जैसा कि कहा जाता है—"पीछा भारी न हो तो आगा सहारा नहीं देता"—यह कल्याणी के लिए पूरी तरह गैर-लागू है, क्योंकि न तो कल्याणी का पीछा हल्का है और न ही उसे आगे के सहारे की ही आवश्यकता है।

वर्तमान अनुकूल तो अतीत पर रहना कठिन हो जाता है। कल्याणी का वर्तमान अननुकूल होने से उसका मन थकित सिन्धु-नौका के खग की तरह अतीत के जहाज की ओर चला ही जाता है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि कल्याणी के पास क्या नहीं है? सब कुछ होने के बावजूद वह इतनी शापग्रस्त क्यों है? उसे कहीं भी सान्त्वना क्यों नहीं मिल सकी? पति ही यदि उसके आक्रोश और तिक्तता के मूल में है तो वह पति का परित्याग क्यों नहीं करती? ऐसा करने पर उसे अपने बच्चों की देखभाल अधिक सुचारु रूप से करने के लिए आवश्यक मानसिक स्वास्थ्य मिल गया होता। न जाने वह कैसी पढ़ी लिखी है? पति के खिलाफ कानून की मदद क्यों नहीं लेती? ऐसी कौन-सी बाधा है जो उसे यह सब करने से रोक रही है? वह यदि चाहे तो उसे पुनर्विवाह करने से भी कौन रोक सकता है? जो काम अकेलेपन को खाने की औषधि कहा जाता है वह उसके लिए विष क्यों बन गया है? वह पति के प्रति इतनी उन्मन क्या है? उसके मन पर ऐसा कौन-सा बोझ है जो उसे कुचल रहा है? ऐसे एक नहीं, बल्कि अनेक प्रश्न पाठक के मन को बेचैन कर देते हैं। इन सब प्रश्नों का उत्तर खोजते खोजते हमारी दृष्टि कल्याणी के मन में घर बनाकर बसी हुई अपराधभावना (Guilt feeling) पर जाकर रुक जाती है। डॉक्टर असरानी से विवाह कर लेने के बाद कल्याणी के मन में अपने प्रेमी के प्रति समर्पित न होने की बात ने इस अपराधभावना को जन्म दिया है। अपने इन-कार पर वह पश्चात्ताप करने लगी है। एक ओर डाक्टर असरानी के असहृदय व्यवहार ने इसे बढ़ाया है, तो दूसरी ओर कल्याणी के प्रेम की खातिर आजीवन अविवाहित प्रीमियर के आदर्श व्यवहार ने इसे पल्लवित एवं पुष्पित किया है। यह

अपने इस अपराध के लिए खुद को माफ करने के लिए तैयार नहीं है। दंडित होकर ही उसके मन को सांत्वना मिल सकती है। इसीलिए वह अपने को पुनः-पुनः दुश्चरित्र आदि कहकर दंडित कर रही है। कहीं वह कहती है कि उसका स्त्री के रूप में जन्म लेना ही अपराध है। कहीं पर उसका कहना है कि स्त्री होकर अंग्रेजी पढ़-लिखकर मोटर चलाना क्या शास्त्रानुकूल है? इतना ही नहीं, पत्नी होकर पातिव्रत्यविरोधी डॉक्टरी करना तो बिल्कुल ठीक नही है। इसके अतिरिक्त पति को अपराधी मानने का अपराध तो सतीत्व के एकदम विरुद्ध है, क्योंकि "सती को यह सोचने का अधिकार नहीं है कि पति सदोष हो सकता है।......पति देवता है। स्मरण रहे कि वह देवता अपने आप में नहीं, सतीत्व की महिमा के प्रभाव में ही वह देवता है।"[१९] वह अपने को दुश्चरित्र समझे जाने का विरोध न करके स्वयं यह कहती है कि—"फावड़ा बनने के लिए भी सुई तो चाहिये ही।" [२०] अन्त में तो वह दूसरों के अपराध को अपना ही अपराध मानकर प्रायश्चित्तस्वरूप दंडित होना चाहती है। वह कहती है कि—"मेरे ही कारण डॉक्टर को धन की चाह है और मेरे ही कारण अगर होंगे तो प्रीमियर कर्तव्यच्युत होंगे। ओह, मुझे क्या प्रायश्चित्त काफी होगा?"[२१] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इन सब बातों के पीछे जो अपराध-भावना काम कर रही है, उसे कल्याणी पूर्णतः पहचानती नहीं है। रायसाहब, भटनागर आदि के साथ उसके अनैतिक सम्बन्धों की चर्चा में समाज का ही दोष अधिक है, क्योंकि डॉक्टरी के व्यवसाय में उसे हर किसी से मिलना पड़ता है। संदेहशील पति के लिए यह खुला व्यवहार नागवार हो उठता है। भटनागर को अच्छा आदमी कह देने पर तो उनके मन में पत्नी के सम्बन्ध में गाँठ बैठ जाती है। वे कल्याणी को पुंश्चली समझने लगते हैं। कहने का आशय यह है कि अपने को दंडित करने की अज्ञात प्रेरणा से ही वह सदा ही अपने पर दांतेदार छुरी चला जीवन को मृत्यु से कम विषम नहीं रहने देना चाहती। स्थूल सामाजिक दृष्टि से वह अगर सचमुच ही दुश्चरित्र होती, तो वह अपनी दुश्चरित्रता का प्रचार नहीं करती फिरती। इसीलिए वकील साहब की पत्नी ने कल्याणी की दुश्चरित्र होने की बातों पर विश्वास नहीं किया है।

कल्याणी ने अपने को दंडित करने के लिए जिस अपराधभावना को अपने मन में पोषित किया है, उसी के परिणामस्वरूप वह कहती है—"जितना मुझसे छीना जाता है उतनी मुझ पर कृपा की जाती है। उतना ऋण उतरता है।"[२२] इसी अपराधभावना के परिणामस्वरूप वह सफलताभयाक्रांत (Afraid of success) भी है। इसीलिए वह निरी मामूली-सी बात पर अपनी कविता की कापी फाड़ देती है। वह इसी कारण आरम्भशूर भी है। आरम्भ किए हुए काम को सफलता की सीमा तक वह पहुँचाना नहीं चाहती, क्योंकि सफलता की स्थिति में अपराधभावना

से उत्पन्न दण्डित होने की कामना बाधित होती है। इसी सफलताभय से आक्रान्त होने के कारण वह कहती है कि—"मेरे पेट का बच्चा क्या मेरी सब विडम्बना झेल लेगा ? बच्चा न होगा।"[११] बच्चे का होना भी तो कल्याणी के मातृत्व की सफलता है। इस प्रकार कल्याणी के अवचेतन में अपराधभावना और सफलता के भय की जड़ें दूर तक पहुँची हुई हैं। अपराध की गुरुता कम करने के लिए दण्डित होने की भावना भी उसमें प्रबल रूप में विद्यमान है। डॉक्टर असरानी की पत्नी बनी रहकर दुर्व्यवहार सहन करते रहना भी इसी दण्डित होने के सन्तोष का साधन है। यही कारण है कि कल्याणी घर नहीं छोड़ती और दुतकारी जाने के बावजूद घर में बनी रहती है।

पति-पत्नी के सम्बन्धों की दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि कल्याणी भारतीय पत्नी होने के नाते पति का प्रतिरोध नहीं कर सकती। इसलिए उसके जीवन की मरणप्रवृत्ति का पर आक्रमणावेग अवरुद्ध होकर स्व आक्रमणावेग में परिवर्तित हो जाता है। परिणामतः कल्याणी के चरित्र में मृत्युतत्त्व का आकर्षण उपन्यास के प्रारम्भ से ही दिखाई देने लगता है। "वह जीवन का आरम्भ जैसे नये सिरे से करना चाहती है।"[१२] जीवन उसके लिए दुःख की कविता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वह वकील साहब से कहती है कि—"मैं इस पेट के बच्चे के लिए जीती हूँ।"[१३] उसने अकाल मृत्यु के बाद आत्मा की गति के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया है, वह उसके अकालमृत्यु का वरण करने के चिन्तन से ही सम्बद्ध है। उसे अपने जीवन की दवा मौत ही प्रतीत होती है। इसीलिए वह वकीलसाहब से कहती है कि—"मुझ पर जहाँ मेरा वश नहीं है वहाँ क्या करूँ ? कुछ बताइए कि एकदम जड़ हो जाऊँ। एक दवा है मौत, लेकिन उसके तो आप कायल नहीं मालूम होते हैं।"[१४] उपन्यास के अन्त में प्रीमियर से अपने तपोवन के लिए नकार पाकर वह दुःख से कहती है कि—"एक थे। अब वह गांधी के हैं।"[१५] "उन मेरे गांधी के भक्त की मर्जी यही न है कि मैं अपनी राह पर अकेली रह जाऊँ ? अकेली ! अकेली ! अकेली !!!"[१६] अन्त में कल्याणी ने पुत्र को जन्म दिया और उसके कुछ देर बाद उसके हृदय की गति अचानक बन्द हो गई। अचानक ? यह आकस्मिक मृत्यु कल्याणी द्वारा अपने को दण्डित किये जाने का चरम रूप है। इस प्रकार अपराध-भावना, सफलताभय और मृत्यु का आकर्षण कल्याणी के अवचेतन में प्रवाहित चेतना-धारा के रूप हैं।

कल्याणी के व्यक्तित्व में निहित मरणप्रवृत्ति (Thantos) पर विचार करने के बाद उसमें निहित जीवनप्रवृत्ति (Eros) पर विचार कर लेना भी उपयुक्त होगा। जीवन की विपरीत परिस्थितियों में भी व्यक्ति अगर अपने मन में थोड़ी सी भी लचक न ला सके तो जीना दूभर हो जाता है। कल्याणी अपने पति को

प्रसन्न करने के लिए भरसक प्रयत्न करती है; पर फिर भी मन का कुछ भाग वन ही जाता है, क्योंकि मन सदा स्थूल नैतिकता के राजमार्ग पर ही नहीं चला करता। इसके अतिरिक्त पति ने अपने व्यवहार से उसे अपने ही घर में विराना बना डाला है। वह अपने मन का बोझ उतारे भी, तो कहाँ उतारे। इस स्थिति में भी कल्याणी ने अपने उच्छ्वासों को कविता के माध्यम से निकालने का प्रयत्न किया। उसकी कविता में वर्णित बटोही और कोई नहीं, स्वयं कल्याणी ही है। यह बटोही न जाने कहाँ से बिछुड़कर इस सराय में आ टिका है, जिसमें उसका कुछ नहीं है। कल्याणी का यह प्रयत्न पति की असहृदयता की छाया में पल्लवित न हो सका। इसके बाद उसने आरोग्य भवन के उपयोगी कर्म में अपने मन को भुलावे में रखने का प्रयत्न किया, किन्तु पति के असहयोग के कारण भुलावा अधिक काल तक न चल सका। उसने अपने घर में जगन्नाथ के मन्दिर की स्थापना भी की, किन्तु उसके एक बार खाने और चार बार स्नान करने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी यह धर्म-भावना किसी-न-किसी विवशता से रुग्णरूप में परिवर्तित हो गई है। जीवन की हर प्रवृत्ति मिकदार में हो, तभी उसे स्वस्थ कहा जा सकता है। वह अपने मन को मनाने के विरोध करके विवाहसंस्था का बेहद समर्थन करती है, तो इस समर्थन से भी उसके मानसिक असंतुलन का समर्थन होता है। इसी असन्तुलन की चपेट में आकर वह पहनावे आदि में लाछनातीत आधुनिक होते हुए भी विलायत की संस्कृति की धज्जियाँ उड़ाती है। इन सारे प्रयत्नों के बावजूद उसके मन का तनाव कम होने के स्थान पर बढ़ता ही है। परिणामतः वह हेल्यूसिनेशन के भ्रम में फँस जाती है। अस्वास्थ्यकर मानसिक तनाव का अन्दाज इस बात से सहज ही लगाया जा सकता है कि हेल्यूसिनेशन (Hallucination) की स्थिति इल्यूजन (Illusion) और डिल्यूजन (Delusion) की स्थितियों के बाद आती है। इल्यूजन और डिल्यूजन के भ्रम में बाह्य वस्तु का आधार होता है, किन्तु हेल्यूसिनेशन में भ्रम पूर्णतः विषयी-निष्ठ होता है। कल्याणी के हेल्यूसिनेशन में गला घोंटकर मारी जाने वाली गर्भवती युवती स्वयं कल्याणी ही है। नैतिक मन के दबाव के कारण दमघोंट वातावरण में रहनेवाला कल्याणी का अवचेतन मन सेंसर के प्रहरियों को धोखा देने के लिए परि-वर्तित वेश में व्यक्त हुआ है। कल्याणी ने ईश्वर पर विश्वास करके सच्चाई की राह पर चलना चाहा, किन्तु ईश्वर की राह पर उसे अनीश्वरता (देवलालीकर की उप-स्थिति अर्थात् दमघोंट वातावरण द्वारा पत्नी की हत्या करने वाले पति की उप-स्थिति) मिलती है। इस अनीश्वरता की स्थिति में अगर चारों ओर से अविश्वास ही अविश्वास घेरे हो तो मृत्यु से बचकर जिया ही कैसे जा सकता है। अन्त में कल्याणी का यही तो प्रश्न है कि—"है कोई जिसे मेरी भलाई में भरोसा हो।"[३१] "कोई है.........जो मुझसे स्फूर्ति ले, जिसकी मैं स्वप्न हूँ।.........नहीं है तो जीवन

मेरा क्यों वृथा नहीं है।"[१] प्रीमियर द्वारा तपोवन अर्थात् कल्याणी के स्वप्न को साकार करने से इंकार कर देने पर तो संसार में कहने भर के लिए भी कल्याणी का कोई नहीं रह जाता। वह निपट अकेली रह जाती है। मृत्यु के अतल जल में डूबने से बचाने वाला तिनके का सहारा भी नहीं रहता और वह मरण प्रवृत्ति के आत्मपीडक रूप का शिकार हो जाती है। वह अस्वस्थ प्रकार के दाम्पत्य की वेदी पर बलि हो जाती है। इस बलि के मूल में जो तबियत के फितूर हैं उन्हें कल्याणी के अवचेतन में प्रविष्ट हुए बिना समझा नहीं जा सकता। इन्हें समझ लेने पर, कल्याणी के वक्र एवं ऊबड़-खाबड़ जीवन का परिचय पाने के बाद कल्याणी के चरित्र को कटे छँटे रूप में खरा या खोटा कह सकना क्या संभव है?

कल्याणी के अतिरिक्त उपन्यास के अन्य सब पात्र कल्याणी के व्यक्तित्व को विशद करने के लिए उपलक्ष्यमात्र हैं। डॉक्टर असरानी के लिए ईश्वर भी पैसे का है[२] उनके लिए कल्याणी भी एक इन्वेस्टमेंट है। इसीलिए कल्याणी के प्रेम की मिथ्या उनके लिए भले ही ईर्षणीय हो, लेकिन उनका प्रीमियरपन अभ्यर्थनीय है। कल्याणी के स्नेह संबंध को यह जूए पर लगाना ही है। उपन्यास के तीसरे प्रमुख पात्र वकील साहब हैं। लेखक ने आत्मलेखकत्व से बचने के लिए उपन्यास जगत् में वकीलसाहब के रूप में अवतार ग्रहण किया है। लेखक और वकील साहब की चिन्तन प्रणाली एकदम अभिन्न है।

कथोपकथन की दृष्टि से उपन्यास अत्यन्त सफल है। उपन्यास का ८५ प्रतिशत भाग कथोपकथन के रूप में है। इसलिए उपन्यास में नाटकीय वर्तमानता का समावेश-सा हुआ है। बोलचाल के समान कथोपकथन के वाक्य छोटे छोटे हैं। लेखक स्थानीय होते हुए भी वकीलसाहब में अपनी ही कहने का मन नहीं है। जब-जब उन्हें प्रदीर्घ रूप में अपनी बात कहने की इच्छा हुई है, तब-तब उन्होंने वर्ण-विवरण के प्रसंग में ही उसे कहा है। आवश्यक समझने पर वकीलसाहब ने अपने चिंतन को अभिव्यक्त करने के लिए पृथक् रूप से परिच्छेद ही लिया है। उपन्यास का चौदहवाँ परिच्छेद इसी प्रकार का है। कहने का आशय यह है कि लम्बे-लम्बे अस्वाभाविक कथोपकथन प्रदीर्घ हो गये हैं, वहाँ पर भी वे अस्वाभाविक नहीं बने हैं। इस प्रकार के प्रदीर्घ संवादों में भी वाक्य छोटे-छोटे हैं। जैसे तपोवन के प्रसंग में कल्याणी के दीर्घ संवाद के वाक्य इस प्रकार हैं "क्या आप मेरी तरह हैं? आप स्त्री हैं? आप डाक्टर हैं? आप पर किस्मत का शाप है? क्या रोक है आपको? मैं तो मशीन हूँ। कट-कट कट-कट रुपया बनाती हूँ। हर काम रुपया माँगता है न? यह दुनिया का सच है। ..."[३]

कहीं कहीं कथोपकथन के वाक्य अधूरे रखे गये हैं। कहीं पर चिंतन में तनाव के कारण ऐसा हुआ है, जैसे उपन्यास के अन्तिम अंश में ग्रस्त कल्याणी वकीलसाहब

से कहती है.........मैं क्या करूँ ? नहीं, आप जाइए नहीं । मुझे कहने दीजिए । मेरा त्रास......।"[13] कहीं पर अधूरापन किसी विघ्न आदि के कारण है। एक स्थान पर कल्याणी वकीलसाहब से "मैं एक की भी विश्वास के पात्र नहीं हूँ । मैं—"[14] कहते-कहते रुक जाती है, क्योंकि इसी समय डॉक्टर असरानी के जूतों की खट्-खट् सुनाई दी । कहीं वाक्य का अधूरापन बहुप्रचलित उक्ति को अपूर्ण रखने के कारण है। पाल से चर्चा करते समय वकील साहब कहते हैं—"बहुत सकुचो मत तुमसे इतना बड़ा नहीं हूँ कि—। और प्राप्ते तु षोडशे वर्षे......।' तुम जानते हो । और अब यह नियम भी पुराना हुआ कि बुजुर्ग को बुजुर्ग समझा जाय ।"[15] इस प्रकार की वाक्य-गत अपूर्णताओं के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार की अपूर्णता भी कहीं-कहीं है । कहना चाहें तो इसे टेलीफोनिक अपूर्णता कह सकते हैं । इस अपूर्णता में कथोपकथन के एक पक्ष के प्रश्नों को अध्याहृत ही रखा जाता है और एकतर्फा कथोपकथन को दिया जाता है । नाटकों में इस प्रकार के आकाशभाषित प्रायः देखे जाते हैं । प्रस्तुत उपन्यास में कहीं-कहीं एकतर्फा कथोपकथन है। जैसे उपन्यास के प्रारम्भ में ही वकीलसाहब डॉक्टर असरानी से श्रीधर का परिचय कराते हुए कहते हैं—"आप श्री श्रीधर मेरे मित्र, यहाँ कालिज में लेकचरार हैं ।—जी, गवर्नमेंट कालिज में ।" यहाँ पर "किस कालिज में लेकचरार हैं ?"[16] यह प्रश्न अध्याहृत है ।

कथोपकथन को व्यञ्जक बनाने के लिए बोलने के लहजे के अनुसार प्रश्न-चिह्नों और विस्मयादिबोधक चिह्नों का प्रयोग तो किया ही जाना चाहिये और इस उपन्यास में किया भी गया है, जैसे सर्वतोभावेन निराश कल्याणी कहती है—"......उन मेरे गांधी के भक्त की मर्जी यही न है कि मैं अपनी राह पर अकेली रह जाऊँ ? अकेली ! अकेली !! अकेली !!!"[17] इन चिह्नों के अतिरिक्त भावबोधक, 'उँह', 'ओह' आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । कहीं-कहीं लहजे की मात्रादीर्घता को दिखाकर आश्चर्य आदि को व्यक्त किया गया है । डॉक्टर असरानी के पुनर्विवह का समाचार पाकर वकील साहब कह उठते हैं—"क्या—आ ?"[18] इसी प्रकार वकील साहब के द्वारा कल्याणी से यह पूछे जाने पर कि "यह साहित्यसभा का मानपत्र है न ?"—कल्याणी उत्तर में कहती है—"हाँ—आँ ।"[19] कहने का आशय यह है कि कथोपकथनों में बोलचाल की स्वरभंगिमा का पूर्णतः ध्यान रखा गया है ।

कल्याणी उपन्यास के कथोपकथनों पर उर्दू का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि असरानीदम्पति सिंध के हैं। सिंध में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रचलन काफी अधिक है। इसके अतिरिक्त वकीलसाहब यू० पी० के हैं। वकालत के व्यवसाय में उर्दूबहुलता प्रचलित ही है। प्रीमियर की पार्टी में शरीक होने के लिए कहे जाने पर वकीलसाहब कहते हैं—"मैं अहसानमन्द हूँ लेकिन मेरी शरकत में शक होने की उन्हें वजह मिली है ?"[20] इसी प्रकार प्रीमियर की भेंट में

देने के लिए लाई वस्तुओ की चर्चा के प्रसग मे वकीलसाहब कहते है—"आपकी पसद पर क्या मुझे नुक्ताचीनी की जुरअत है ?"[१] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कथोपकथन की भाषा की तुलना मे वर्णन-विवरण की भाषा पर उर्दू का प्रभाव काफी कम है। कथोपकथन के नाते बोलचाल के 'गिरस्ती' 'किया' आदि शब्दों का लेखक ने सहज रूप मे प्रयोग किया है। कही-कही बोलचाल के अनुकूल विशिष्ट शब्दो को सानुनासिक रूप मे भी रखा है। वकीलसाहब 'पूछते हैं' किन्तु वकीलसाहब की अनपढ़ पत्नी 'पूँछती है।'

मनोवैज्ञानिक उपन्यास होने के कारण प्रस्तुत उपन्यास मे देशकाल का चित्रण उपेक्षित होने के लिए बाध्य है। दो-तिहाई उपन्यास समाप्त हो जाने के बाद यह ज्ञात होता है कि कथा का घटनास्थल दिल्ली है और कल्याणी का तपोवनस्थान दिल्ली से दस बारह मील दूर स्थित है। इसी प्रकार उपन्यास के प्रारम्भ मे ही कथानक के काल के सम्बन्ध मे कहा है—"हाल ही की तो बात है। ऐसा लगता है जैसे कल की हो।—न सही कल की। पर दो ढाई बरस से अधिक नही हुए।"[२] वस्तुत सम्पूर्ण उपन्यास म ३६ दिनो की कहानी है। ये ३६ दिन सम्भवत दो वर्ष से कम समय के लगते हैं। उपन्यास का तीसरा परिच्छेद 'शुरू जाड़े के दिन' का है, किन्तु चौथे परिच्छेद मे रात के समय बिजली के पखे के चलने का उल्लेख है। उपन्यास के दसवें परिच्छेद मे प्रथमत कल्याणी के गर्भवती होने की सूचना मिलती है, अत यहा से उपसहार मे कल्याणी की प्रसूति तक का समय नौ महीनों से अधिक नही कहा जा सकता है। कहने का आशय यह है कि देशकाल के चित्रण मे लेखक की रुचि नही है।

भाषा और शैली की दृष्टि से विचार करने पर पाठक जैनेन्द्र की सामर्थ्य का कायल हो जाता है। कथोपकथन के प्रसग मे कथोपकथन की दृष्टि से विचार किया जा चुका है। जैनेन्द्र की भाषा अत्यन्त व्यञ्जक एव सकेतपूर्ण है। अपूर्ण मे मे सम्पूर्ण के पूर्वास्तित्व के सिद्धान्त को मानने के कारण उन्होंने न केवल घटनाओ को अनकहे रूप मे रखा है, अपितु भावो और विचारो का भी कुछ हिस्सा ही कहा है। वह कुछ हिस्सा भी बोधगम्य छोटे-छोटे वाक्यो मे उपस्थित किया गया है। 'थोरे आखर' और 'अमित अर्थ' से युक्त उनकी शैली नाव के तीर के समान गम्भीर घाव करने मे समर्थ है। कही-कही कहते-कहते ही लेखक रुक जाता है और वाक्य अधूरे रह जाते है। इन अधूरे वाक्यों की मार तो पूर्ण वाक्यो की मार को भी मात कर देती है। प्रीमियर के दिल्ली से अकस्मात वापस चले जाने के प्रसग मे लेखक कहता है कि—"सचमुच मेरी लालसा है कि सब सरल हो जावे, रहस्य कुछ न रहे, और मैं कह सकूँ—'राजनीतिक परिस्थिति।' लेकिन हाय, यही अगर कह कर छुट्टी पा सकता तो ।"[३] इसी प्रकार जब डॉक्टर असरानी वकीलसाहब के सामने

अपने मन की भड़ास निकाल कर चले जाते हैं, तक लेखक कहता है कि—"डॉक्टर मेरे पास से गये तब अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थचित्त थे। लेकिन मेरे चित्त का स्वास्थ्य—।"[४४] इस प्रकार रहस्यमय शैली में रहस्यों को उद्घाटित करके पाठकों के चित्त को अस्वस्थ बनाने की स्वस्थ सामर्थ्य जैनेन्द्र की बड़ी विशेषता है। व्यक्तित्व की तहों के समान लेखक की भाषा में तह पर तहें दिखाई पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में अनिर्वचनीय वाक्यलीला भी पाई जाती है। वे लीलया इस प्रकार के वाक्य लिख जाते हैं—"गांधी की तपस्या लीला है, लीला तपस्या है। सबके रास्ते पर वह सबके साथ है। वह पति हैं, पिता हैं, सब हैं।"[४५] उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर ही सम्भवतः डॉक्टर देवराज उपाध्याय ने भाषाभिव्यक्ति को दृष्टि में रखकर कहा है कि जैनेन्द्र का संस्करण सम्भव नहीं है।

जैनेन्द्र की भाषा उद्धरणों और सूक्तियों से समृद्ध होती है। प्रस्तुत उपन्यास में उद्धृत उद्धरणों में से कुछ इस प्रकार हैं—'त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथाः"—"गतासून-गतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।" उनकी भाषा में सूक्तियाँ तो अनगिनत होती हैं, जिनमें से नमूने के तौर पर कुछ सूक्तियां यहाँ दी जा रही हैं,—"जिन्दगी नाम चलने का है"; "नर के अनादर में कहीं नारायण की पूजा है"; "प्रीति की रीत है आरती, प्रसाद है उसका वियोग"; " 'सत्य अहृस्प नहीं है और जानना सब अहंरूप है"; 'माया की लीला में भी लीलाकार तो सत्य ही है न......?" इत्यादि। प्रायः ये सूक्तियाँ (सामान्य कथन) विशेष का समर्थन करती हैं या कभी-कभी इनके समर्थन में विशेष का वर्णन हुआ है। इसीलिए डॉक्टर देवराज उपाध्याय ने इन्हें प्रकरणगत अर्थान्तरन्यास भी माना है।

जैनेन्द्र का शब्द भण्डार समृद्ध है। उनकी भाषा में बोलचाल की भाषा के शब्द भरे पड़े हैं इसीलिए उर्दू के नफरत, मर्ज, गुल्जार, गुमान आदि प्रचलित शब्दों का व्यवहार जहाँ-तहाँ हुआ है। एहितियातन, जुर्रत, मुम्तहक आदि कुछ क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भी अवश्य हुआ है। इसी प्रकार अंग्रेजी के कालिज, कम्प-टीशन, ट्रेस (ट्रेस), वारफ आदि शब्दों का स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है, किन्तु एक्सकॉड जैसे शब्दों का प्रयोग खटकता है। कहीं-कहीं सविशेषण अंग्रेजी संज्ञाओं का भी प्रयोग किया गया है, जैसे इकॉनमिक डिपेंडेंस, कंपलीट रेस्ट इत्यादि। पुस्तक में रोमन लिपि में कॉम्प्लेक्स (Complex) और रेड रिवोल्यूशनरी (Red revolutionary) का प्रयोग उचित नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी और उर्दू शब्दों के संस्कृत के भी कुछ अल्पप्रचलित या अप्रचलित शब्दों का प्रयोग स्तुत्य नहीं कहा जा सकता, जैसे मांचर्य, 'पुंश्चली'[४६] शब्द घुस गया है, जिसका अर्थ संभवतः डॉक्टर असरानी नहीं बता सकेंगे। कहीं-कहीं लेखक ने 'अनुल्लंघनीय स्पृहा', तबियत के

पिट्स' जैसे प्रयोग भी किए हैं, जो अभिव्यक्ति की दृष्टि से उपयुक्त कहे जा सकते हैं। कुछ स्थलो पर 'पासशुदा' जैसे दो भाषाओं से बने शब्दो का प्रयोग हुआ है। कथोपकथन के माध्यम से कथानक का विकास होने के कारण 'बयार, गिरस्ती' आदि शब्द भाषा मे सहज ही आ गए हैं। एक स्थान पर 'समाचार' के अर्थ मे बगाली भाषा का 'सवाद'[१] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि लेखक का शब्द भण्डार समृद्ध है और कुछ अपवादो को छोड़कर शब्दो का प्रयोग उपयुक्त रूप मे किया गया है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा म मुहावरो और कहावतो का प्रयोग भी सहज रूप मे पाया जाता है। 'घिग्घी बँधना', 'तिल का ताड बनना' आदि अनेक मुहावरे उपन्यास मे हैं। एकाध स्थान पर 'दूसरे का तिल ताड, अपनी आँख का पहाड कुछ नहीं' जैसी कहावतें भी हैं।

'कल्याणी' उपन्यास मे अलकारो का प्रयोग जहाँ कही हुआ है, वहाँ सायासता नही है। 'व्यथा का विष' जैसे शब्दालकार के प्रयोग अल्प हैं और अनायास रूप से आ गए हैं। अर्थालकारो के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—"एक सौम्य व्रीडा हल्के बादलो स छन कर आई धूप की मानिन्द वहाँ खेलती दीखती है" (उपमा), "वह क्षण भर मुझे देखती की देखती रह गई। मानो बिंधी हरिणी हो। बिंध कर ही बाघिन बन उठी हो, लेकिन हो प्रकृत हरिणी ही" (उत्प्रेक्षा), "आज की राजधानी नई दिल्ली क्या ऊपर और क्या भीतर पत्थर नही है? खूबसूरती उसकी पत्थर की और गुरूर की है। पानी और घास की ठडक कही बिछी है, तो उनके ऊपर तन कर मगरूर पत्थर गुर्राता दीखता है" (मानवीकरण), "डॉक्टर को विश्वास था कि भविष्य उनका उज्ज्वल है, बादल कही है तो सिर रहेगा और जीवन मे फिर सुनहरी धूप ही रह जायगी" (रूपक), "प्रीति का भोग है त्याग"[१०] (विरोधाभास), इत्यादि।

प्रस्तुत उपन्यास का प्रस्तुतीकरण आत्मकथात्मक शैली मे किया गया है। कथात्मक गीतो के समान इसमे घटनाओ का समावेश अत्यल्प रूप मे हुआ है। कल्याणी की पीडा को घनीभूत रूप मे उपस्थित करना ही इस उपन्यास का उद्देश्य है। इसलिए यदि इसे गीति-उपन्यास कहा गया हो, तो वह सर्वथा सार्थक है।

उद्देश्य की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास पर विचार करने से पूर्व लेखक के जीवन-विषयक दृष्टिकोण को सर्वप्रथम समझ लेना समीचीन होगा। जैनेन्द्र अद्वैतवादी या सम्पूर्णतावादी हैं। उनकी दृष्टि मे बाहर और भीतर, व्यक्ति और परिस्थिति भिन्न सत्ताएँ नही हैं। इनकी भिन्नता या द्वन्द्व ही जीवन की मुख्य समस्या है। इसीलिए उन्होने कहा है—'जगत् नाम द्वन्द्व का है। द्वन्द्व के माने हैं, दो के बीच का अनिर्वाह। यह दो के, अथवा अनेक के, बीच एकता का अभाव ही हमारी समस्या है।"[११] यह द्वन्द्व की समस्या अह के कारण उत्पन्न होती है। अह का विसर्जन प्रेम के द्वारा ही

सम्भव है, ज्ञान के द्वारा नहीं। इसीलिए उन्होंने कहा है—"ज्ञान की जड़ में अहं है।" "सत्य अहंरूप नहीं है और जानना सब अहंरूप है।" इसलिए "तर्क सचाई को नहीं लपेट पाता है।" तर्क की पद्धति अस्वीकृति की पद्धति है, अतः यह पद्धति उपलब्धि में अनुपयोगी है। सत्य की उपलब्धि प्रेम द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि "प्रेम अहं के विसर्जन का नाम है।" यह प्रेम या अहिंसा "निज की ओर ही दुर्द्धर्ष है, शेष सब ओर वह स्निग्ध है।" "विछोह में ही स्नेह का निवास है।" यही कारण है कि "भोग में......स्नेह की समाप्ति है।" इसलिए "प्रीति का भोग है त्याग।" गांधीवाद और जैनधर्म की अहिंसा या प्रेम का यह आत्मपीडक दृष्टिकोण जैनेन्द्र को पूर्णतः मान्य है। इसीलिए उन्होंने कहा है कि—"आदमी के भीतर की व्यथा ही सच है। उसे सँजोते रहना चाहिए। वह व्यथा ही शक्ति है। उसमें किसी का साझा नहीं।"[५१] उनके लिए दर्द पीयूष है, रस है। इसी रस या संवेदन को टिकाने के लिए पात्र की आवश्यकता है। कल्याणी इसी प्रकार का पात्र है, विषाद के रस का स्रोत है। इसीलिए सब मिलाकर वह विकास के पथ पर है। आत्मबल के कारण अपवादों में भी अविचल है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से उपर्युक्त आत्मपीड़न (Masochism) का सिद्धान्त स्वस्थ सिद्धान्त नही कहा जा सकता। आत्मदमन के कारण व्यक्तित्व में ग्रंथियाँ आ जाती हैं, जिसके कारण व्यक्ति का स्वभाव विभाव बन जाता है। इसी दमन से उत्पन्न ग्रन्थि के विवर्त में डूबकर कल्याणी मर गई। इसके अतिरिक्त उसका आत्मपीड़न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परपीड़न से मुक्त नहीं कहा जा सकता। परपीड़न में प्रत्यक्षतः अक्षम होकर ही व्यक्ति स्व आक्रमणावेग के आत्मपीड़न द्वारा परोक्षतः परपीड़न किया करता है। अतः पीड़ा का सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गलत है। पीड़ा मानसिक असंतुलन और असंतोष से उत्पन्न होती है। मानसिक असंतुलन अस्वास्थ्य का द्योतक है, विकास का नहीं। इसलिए लेखक द्वारा कल्याणी को विकासपथ पर अग्रसर[५१] बताना सत्य का अपलाप है। कल्याणी दमन के कारण विषादोन्माद (मेलेनकोलिया) से ग्रस्त है। विषादोन्माद के काल में व्यक्ति का नैतिक मन (Super Igo या सुप्राहं) अपने अहं के प्रति अत्यन्त कठोर हो जाता है और अपने में अनेक कमियों की कल्पना करके अपने को दोषी ठहरा कर दण्डित करना चाहता है। कल्याणी के चरित्र में ये बातें हैं, जिनका चरित्र-चित्रण के प्रसंग में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। दमन के कारण उत्पन्न अत्यधिक तनाव के कारण वह हेलूसिनेशन या मिथ्या प्रत्यक्षीकरण के पाश में फँस गई है। कल्याणी का विषादोन्माद पाठक के लिए करुणरस की स्थिति उत्पन्न कर सकता है, किन्तु कल्याणी के सम्बन्ध में उपन्यास के अन्त में लेखक का यह कहना कि—"व्यथा का विष बह गया है और विषाद का रस ही शेष रह गया है"[५१]—ठीक प्रतीत नहीं लगता। यह

वैसा रस है, जो उसके जीवन को ही मौत के द्वारा सोख लेता है। कल्याणी की यह मृत्यु व्यक्ति और परिस्थिति के द्वन्द्व का चरम परिणाम है। इसीलिए उपन्यास के अन्त में कल्याणी का "अपराध में से आत्मा प्राप्त"[१] होने की बात कहना समझ से परे की बात है।

अहिंसा विषयक विशिष्ट आत्मपीडनपरक दृष्टिकोण के कारण लेखक में अहिंसा-ग्रन्थि आ गई है। परिणामत वह क्रान्तिकारी पात्रों को अपने उपन्यासों में स्थान देकर उनमें अपने आपको पकडवाने की भावना भर देता है। प्रस्तुत उपन्यास में पाल ऐसा ही पात्र है। उस पर सरकारी वारण्ट है और उसे पकडवा देने के लिए कई हजार का इनाम घोषित किया गया है। पाल शहीदों के बेसहारा परिवारों की सहायता के लिए अपने को पकडवाने की बात सोच रहा है। इस पर उसे वैसा आत्मसमर्पण करने के लिए लेखक ने सलाह दी है। इसी प्रसंग में वह क्रान्तिकारियों की 'वीरता' की तुलना में अहिंसापूजकों की 'धीरता'[११] का महत्त्व भी प्रतिपादित करता है। वह यह भी कहता है कि कानून को सुधारने-तोडने के लिए सामने से अहिंसक प्रतिकार ही श्रेयस्कर है। कानून का छिप कर पीछे से सामना करने वाले शहीद उसकी दृष्टि में कहीं-न-कहीं पराजित है। अस्वस्थ आत्मपीडनमूलक सिद्धान्त के अनुकूल किया गया यह प्रतिपादन भ्रममात्र है। यदि इसे सत्य मान भी लिया जाए तो भी हम यह कह सकते हैं कि प्रस्तुत उपन्यास में इससे सम्बन्धित प्रसंग का उपयोग भी नहीं है। कल्याणी के चारित्रिक विकास में पाल के प्रसंग की निरर्थकता स्पष्ट है।

लेखक के चिन्तनादर्श से असहमत होते हुए भी अन्त में हम यह कह सकते हैं कि लेखकीय सामर्थ्य के कारण ही कल्याणी की कहानी केस हिस्ट्री होने से बच गई है। यह कृति साहित्यिक सौन्दर्य से सम्पन्न है तथा पाठकों के मन में अनुगूंज पैदा करने में समर्थ है।

टिप्पणियां

१ आधुनिक हिन्दी कथासाहित्य और मनोविज्ञान (द्वि० स०), पृ० १४२
२ जैनेन्द्र : व्यक्ति, कथाकार और चिन्तक, स० बाँकेबिहारी भटनागर, पृ० ८५
३ कल्याणी, (च० सस्करण), पृ० १३६
४ वही, पृ० ८२
५ वही, पृ० ८१
६ वही, पृ० ९५
७ वही, पृ० १२२
८ जैनेन्द्र : व्यक्ति, कथाकार और चिन्तक, पृ० १३

९. कल्याणी, पृ० १०७
१०. "कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं है।" ('सुनीता' की भूमिका)।
११. 'परख' की भूमिका।
१२. कल्याणी, पृ० १२३
१३. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, (प्र० संस्करण) पृ० १२८
१४. कल्याणी, पृ० १०४
१५. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन,, ले० डॉ० देवराज उपाध्याय, पृ० १३६
१६. कल्याणी, पृ० ९७
१७. वही, पृ० ११९
१८. वही, पृ० २२
१९. वही, पृ० ६६
२०. वही, पृ० १५
२१. वही, पृ० १४५
२२. वही, पृ० ७४
२३. वही, पृ० १४५
२४. वही, पृ० १२
२५. वही, पृ० ५१
२६. वही, पृ० १११
२७. वही, पृ० १४२
२८. वही, पृ० १४४
२९. वही, पृ० १३४
३०. वही, पृ० १३६
३१. वही, पृ० १२९
३२. वही, पृ० १२४
३३. वही, पृ० १४५
३४. वही, पृ० १३७
३५. वही, पृ० ८६
३६. वही, पृ० ३
३७. वही, पृ० १४४
३८. वही, पृ० २
३९. वही, पृ० ४१
४०. वही, पृ० ११४
४१. वही, पृ० १४२

४२ वही, पृ० ३
४३ वही, पृ० १२१
४४ वही, पृ० १३२
४५ वही, पृ० १४४
४६ वही, पृ० ६३
४७ वही पृ० ६७
४८ वही, पृ० ७४
४९ वही, पृ० १७
५० वही, पृ० ५७
५१ वही, पृ० ९५
५२ वही, पृ० ८४
५३ वही, पृ० ९६
५४ वही, पृ० १४४
५५ वही पृ० १४४
५६ वही, पृ० ८९

सागर, लहरें और मनुष्य : शक्ति और सीमाएँ

डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे

"अंचल विशेष के सामाजिक जीवन का सर्वांगस्पर्शी सजीव चित्रण करना ही आंचलिक उपन्यास का ध्येय है।"

'सागर, लहरें और मनुष्य' की "जीवनदृष्टि समष्टिमूलक न होकर व्यष्टि-मूलक है जो नवस्वच्छन्दवाद से अनुप्राणित है।" —डॉ इन्द्रनाथ मदान

"आदर्शवादी स्पर्शों के कारण उसमें ('सागर, लहरें और मनुष्य' में) यथार्थ से पलायन की वृत्ति मिलती है, यह प्रवृत्ति आंचलिकता की प्रकृति की विरोधी भी पड़ती है।" —डॉ० सावित्री सिन्हा

"सांस्कृतिक प्रमाणीकरण की दृष्टि से उपन्यास उतना समृद्ध नहीं हो पाया।"
—डॉ० प्रेमशंकर

६

सागर, लहरें और मनुष्य

यदि साहित्य जीवन की व्याख्या है, तो इस दृष्टि से उपन्यास साहित्य की सशक्ततम विधा है। इस विधा में वैयक्तिक या सामाजिक जीवन के यथार्थ-चित्रण का समावेश ज्यों-ज्यों अधिकाधिक होता गया, त्यों-त्यों इस विधा का व्यक्तित्व या 'उपन्यासत्व' निखरता गया। इस निखार के कारण वैयक्तिक जीवन का चित्रण करने वाले उपन्यासों में गहराई आती चली गई तथा सामाजिक जीवन का चित्रण करने वाले उपन्यासों में व्यापकता का समावेश होता चला गया। आंचलिक उपन्यास सामाजिक जीवन का चित्रण करने वाली औपन्यासिक धारा का एक अंग है। यह प्रजातंत्र और समाजवादी विचारधारा के द्वारा विकसित समष्टिमूलक जीवन दृष्टि की उपज है। हिन्दी साहित्य में समष्टिमूलक प्रगतिवादी विचारधारा के विकास के परिणामस्वरूप आंचलिक कथासाहित्य पल्लवित एवं पुष्पित हुआ। आंचलिक कथा-साहित्य के सृजन में युग संवेदना से सम्पन्न लेखक का गहरा सामाजिक लगाव ही कारणीभूत होता है। इस लगाव के अभाव में सफल आंचलिक रचना की निर्मिति सम्भव नहीं है। देश की स्वाधीनता के बाद सामाजिक बोध से सम्पन्न साहित्यकारों का ध्यान अविकसित एवं नैसर्गिक जीवन शक्ति से सम्पन्न अंचलों की ओर गया। प्रायद्वीपकल्प विशाल भारत देश में इस प्रकार के अंचलों की कमी नहीं है। दुर्गम पर्वतीय एवं वन्य प्रदेशों में ही इस प्रकार के अंचल नहीं हैं, अपितु बम्बई जैसे महा-नगरों के उदरों में भी गजभुक्त कपित्थ की तरह शोषित अंचल भरे पड़े हैं। मछली-मार कोलियों का बरसोवा गाँव इसी प्रकार का एक अंचल है, जिसे श्री उदयशंकर भट्ट ने अपने 'सागर, लहरें और मनुष्य' नामक उपन्यास का विषय बनाया है। मछलीमार सागर पुत्रों के जीवन पर लिखा गया यह पहला हिन्दी उपन्यास है। यह उपन्यास सन् १९५५ ई० में लिखा गया है।

बाबू गुलाबराय, डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी आदि आलोचकों ने 'सागर लहरें और मनुष्य' को आंचलिक उपन्यास माना है। स्वयं श्री उदयशंकर भट्ट ने प्रस्तुत उपन्यास को आंचलिक रूप देने की दृष्टि से मछलीमार समाज से सम्बन्धित विस्तृत जानकारी देने का प्रयत्न ही नहीं किया है, अपितु विशिष्ट भाषा के प्रयोग का साग्रह प्रयत्न भी

किया है। एक आंचलिक उपन्यास के नाते इस उपन्यास को परखने से पहले आंचलिक उपन्यास की कसौटियों को सूत्ररूप में समझना आवश्यक है।

आंचलिक उपन्यास में अंचल विशेष के जीवन का सर्वांगस्पर्शी चित्रण किया जाता है। अंचलविशेष के सर्वांगस्पर्शी चित्रण के लिए कथाबाहुल्य अनिवार्य है, परिणामतः आंचलिक उपन्यास में कथाविखराव-सा आ जाता है। कथाविखराव के बावजूद उपन्यास के आंतरिक संगठन को बनाए रखना आंचलिक उपन्यास के लिए महत्वपूर्ण है। समष्टि जीवन के चित्रण की प्रधानता के कारण इसमें वर्ग प्रतिनिधि पात्रों की बहुलता स्वाभाविक ही है। आंचलिक उपन्यास में 'व्यक्ति' नहीं, अपितु अंचल विशेष का समस्त जीवन ही नायक होता है। समष्टि जीवन के नायकत्व के कारण कुछ आलोचक इस प्रकार के उपन्यास को नायकशून्य उपन्यास भी मानते हैं। व्यष्टिमूलक सुधारवादी दृष्टि आंचलिकता की आंतरिक लय के लिए विसवादी बन जाती है। आंचलिक उपन्यास की भाषा भी आंचलिकता के रंग से रंगी हुई तथा आंचलिक जीवन के गन्ध संगीत से परिपूर्ण होती है। आंचलिक जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालना ही उसका उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यथार्थ चित्रण का आधार अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए इस प्रकार के उपन्यास की सफलता में आदर्शवाद अनुपादेय ही सिद्ध होता है। आंचलिक उपन्यास से सम्बन्धित इस संक्षिप्त रूपरेखा के आधार पर यहाँ प्रस्तुत उपन्यास का विवेचन किया जा रहा है।

आंचलिक उपन्यास के कथानक का अंचल दो प्रकार का होता है—भूगोल-मूलक एवं जन-जातिमूलक। इन प्रकारों के क्रमशः उदाहरण 'मैला आँचल' और 'कब तक पुकारूँ' हैं। 'सागर, लहरें, और मनुष्य' भूगोल विशेष से सम्बन्धित होते हुए भी 'मैला आँचल' की तरह प्रदेश विशेष के समस्त समाज की कहानी नहीं है, अपितु 'कब तक पुकारूँ' के समान जनजाति विशेष की कहानी है, जो जनजाति 'कब तक पुकारूँ' की करनट नामक जनजाति के समान घुमन्तू न होकर प्रदेश विशेष में स्थायी रूप से आबाद है। आलोच्य उपन्यास की कोली नामक मछलीमार जन-जाति महाराष्ट्र के कोंकण विभाग में समुद्रतटवर्ती प्रदेश में बसी हुई है। इस उपन्यास में बरसोवा नामक गाँव में रहने वाले इसी जनजाति से सम्बद्ध सागर पुत्रों की कहानी है। बरसोवा गाँव बम्बई महानगर के पेट में समाया हुआ ऐसा गाँव है, जिसके निवासी नगर में रहते हुए भी नागर जीवन की सुविधाओं से वंचित हैं; किन्तु फिर भी सभ्यता के प्रदूषण के शिकार हैं। बरसोवा में केवल एक ही पक्की सड़क है, जिसके किनारे उन लोगों के बँगले हैं, जो बरसोवा के कोलीजीवन में पद्मपत्र की तरह अनासक्त हैं। तीन-चौथाई उपन्यास की समाप्ति के बाद हमें यह ज्ञात होता है कि यह सड़क के दोनों ओर बसा हुआ गाँव बम्बई का उपनगर है।

यशवंत कहता है कि यह गांव "बम्बई का एक टुकड़ा है, जहाँ सड़कें चाँदी-सी चमकती हैं।"[२] वह यह भी कहता है कि—"सारा बरसोवा सड़क के किनारे के बँगलों को छोड़कर कितना गन्दा है।"[१] इस गाँव में गैर मछलीमार दूकानदार ही नहीं, अपितु ईसाई और मुसलमान कोली मछलीमार भी रहते हैं; किन्तु उपन्यासकार ने प्रस्तुत उपन्यास में हिन्दू कोलियों के जीवन को ही अपने कथानक का विषय बनाया है। यद्यपि उपन्यास में बरसोवा के कोली जीवन का ही प्रमुखतः चित्रण हुआ है, किन्तु प्रसंगतः माहीम, वरली आदि स्थानों की कोली बस्तियों के जीवन का भी उल्लेख किया गया है।

जनजातियों का जीवन नैसर्गिक पर्यावरण (Fnvironmcnt) से प्रभूत मात्रा में प्रभावित होता है। उनका जीवन नैसर्गिक पर्यावरण का सुसंवादी होता है। प्रस्तुत उपन्यास में जिस कोली जनजाति का चित्रण हुआ है, उसका समुद्र से अत्यधिक घनिष्ट सम्बन्ध होता है। कोलियों को महीने में कम-से-कम बीस दिन समुद्र में दूर-दूर तक जाना पड़ता है। कभी-कभी उन्हें आठ-आठ दिन समुद्र में रहना पड़ता है। मछलीमारों के इस जीवन का क्रियारत दृश्य प्रस्तुत उपन्यास में कहीं भी नहीं है। समुद्र के तटीय जल में गाड़े गए लट्ठों के सहारे जालों को फैलाकर भी ये लोग मछलियाँ पकड़ते हैं, इस बात की जानकारी भी रत्ना द्वारा सारिका को मौखिक रूप से दी गई है। चन्द्र के उदयास्त और ह्रासवृद्धि के साथ संबद्ध ज्वारभाटों का महत्त्व मछलीमार व्यवसाय में अत्यधिक है, जिसकी पूर्णतः उपेक्षा कर दी गई है। मछलीमारों का समुद्री जीवन नियमित रूप से प्रवाहित होने वाली हवाओं से बड़ी दूर तक प्रभावित होता है, जिसका इस उपन्यास में कहीं उल्लेख तक नहीं हुआ है।

मछलीमारों को समुद्र में अकस्मात् आने वाले तूफानों से वर्ष में अनेक बार जूझना पड़ता है। बंशी ने अपने बचपन की तूफान-सम्बन्धी दुर्घटना का उल्लेख किया है। माणिक की आपबीती में भी तूफान का वर्णन है, जिसमें तूफान से पहले समुद्र की सतह से मूनी मछलियों के अदृश्य होने की सूचना है। अपने तूफान वर्णन में माणिक ने मछली की पीठ पर बैठ कर समुद्र की अतल गहराइयों में जाकर लौट आने की गप्प हाँकी है और वह भी जन्मजात मछलीमारों के सामने। यद्यपि इस उपन्यास का आरम्भ ही तूफान के सजीव वर्णन के साथ किया गया है; किन्तु यह वर्णन भी तट पर खड़े व्यक्ति की दृष्टि से किया गया है, तूफान में फँसकर उससे जूझने वाले व्यक्ति की दृष्टि से नहीं। इस तूफान के बाद 'समुद्र के किनारे लाशों से पटे पड़े थे',[४] किन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि इनमें से एक भी लाश उपन्यास के पात्रों से सम्बन्धित नहीं है। औपन्यासिक सार्थकता की दृष्टि से यह भयानक वर्णन भी निरर्थक हो गया है। इससे कहीं अधिक सार्थक वर्णन रत्ना के स्वप्नगत तूफान का है। उपन्यास के प्रारम्भ में वर्णित तूफान की सार्थकता इतनी ही है कि इसके

बाद आयोजित महाभारत की कथा ने रत्ना मे मत्स्यगंधा बनने की इच्छा जगा दी है ।

सागरपुत्रो के लिए सागर का महत्त्व उसके आजीविकासाधन होने के अतिरिक्त सैरगाह और क्रीडागण के रूप मे भी है । रत्ना और यशवत का प्रेम सागर मे तटीय उथले जल मे खेलते हुए ही गहराई तक पहुँचा है । लेखक ने स्मृतिरूप मे कथित पूर्वकथा के अश मे इस बात का उल्लेख किया है । किन्तु युवा होने पर जब ये दोनो मड टापू की सैर के लिए जाते हैं तब इनका ध्यान समुद्र की ओर तनिक भी नही है । एक स्थान पर समुद्र मे निरुद्देश्य भटकते हुए यशवत की नाव से अपनी नाव सटाकर जागला को गपशप करते हुए चित्रित किया गया है । इन दोनो की गप्पो मे लेखक इतना डूब गया है कि उसे यह बात भी याद नही रही कि जागला नाव पर बैठा हुआ है, इसीलिए वह जागला को गपशप के बाद फिर से नाव पर जा बिठाता है ।[1]

सागरपुत्रो के लिए समुद्र ही खेत होते हैं । इन खेतो के लिए वर्षा प्रतिकूल होती है । कृपक वधूलोचनो से पीयमान मेघो को देखकर मछ्लीमारो के मन दिन बरसात आशकाओं मे डूबने लगते हैं । बरसात के दिन उनके लिए दुर्दिन होते हैं । वर्षा बहुल कोकण के बरसोवा मे प्रारम्भिक तूफानी वर्षा को छोडकर केवल रत्ना के स्वप्न मे ही वर्षा के दर्शन हो पाते हैं । स्वप्नगत इस वर्षा को देखकर पाठक को दिलासा मिलता है कि इस आचलिक उपन्यास मे वर्षा ऋतु के तीन बार आने के बावजूद वर्षाविषयक यथार्थ को कम-से-कम स्वप्न मे तो स्थान मिला । सम्पूर्ण उपन्यास ऋतुपरिवर्तन के प्रति पूर्णत उदासीन है । सम्भवत वातानुकूलित कमरे मे बैठकर कल्पना के आधार पर आचलिक उपन्यास लिखने का यह स्वाभाविक परि-णाम है ।

वर्षाबहुल कोकण अपनी वनस्पतिसमृद्धि के लिए प्रसिद्ध है । नारियल को तो कोकण का कल्पवृक्ष समझा जाता है । इस कल्पवृक्ष का उपन्यास मे आद्यन्त उल्लेख नही है । लेखक ने उपन्यास के आरम्भ मे वर्णित तूफान के प्रसग मे "अहकारी पेडो का कहीं पता न था"[1] कहकर सभी प्रकार के पेडो को बरसोवा से लापता कर दिया है । आचलिक उपन्यास मे नैसर्गिक परिवेश का स्थान सजीव पात्र के समान महत्त्व-पूर्ण होता है । नैसर्गिक परिवेश के यथार्थ चित्रण का यहाँ सर्वथा अभाव सा है ।

लेखक ने बरसोवा के निवासियो के रहन सहन आचार विचार आदि का स्थान स्थान पर उल्लेख किया है । बरसोवा मे एकाध मकान को छोडकर प्राय सब के सब मकान कच्चे हैं । छट्ठा जैसे दरिद्र लोगो के दीन हीन अँधेरे घरो का अन्तरग वर्णन प्रभावशाली रूप मे हुआ है । इसके अतिरिक्त समुद्रतटवर्ती मचानो से सम्बद्ध जीवन का वर्णन भी मूर्त रूप मे हुआ है जहाँ सुखाने के लिए सदा फैलाई गई

मछलियों में से एकाध मछली कभी-कभार फड़फड़ा उठती है ।

कोकण में स्थित होने के कारण वरसोवा-निवासियों के खाद्यपदार्थों में भात और मछली की प्रमुखता है । भात और मछली के विविध खाद्य प्रकारों का लेखक ने विभिन्न प्रसंगों पर उल्लेख किया है । मछलीमारों को कभी-कभी कई-कई दिनों तक समुद्र में रहना पड़ता है । ऐसे अवसरों पर वे कच्ची तामड़ी मछलियाँ खाकर काम चला लेते हैं । उपन्यास में एक स्थान पर यशवंत को तामड़ी मछलियाँ ककड़ी की तरह चबाकर हड्डियों के टुकड़े फुर्र करके थूकते हुए चित्रित किया गया है । दरिद्र लोगों को पेट भरने के लिए कभी-कभी मछली भी नसीब नहीं होती । इसीलिए इट्ठा को अपने पेट की आग बुझाने के लिए मछलियों की चोरी करने को विवश होना पड़ा है । जागला की दृष्टि में तो रोज-रोज चिउड़ा और भजिया खाना भी अमीरी की निशानी है । इन खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त कोलियों में माड़ी (शराब का प्रकार) प्रचलन भी पर्याप्त है । पुरुषों के समान कोली स्त्रियाँ भी बीड़ी पीती हैं । कोकण के पेय पदार्थों के प्रसंग मे पेज (उबाले हुए भात का पानी) को नहीं भुलाया जा सकता, जो बीमारी के बाद स्वास्थ्यसुधारकाल में तथा बीमारी की अवस्था में महत्त्वपूर्ण पेय है । लेखक ने इट्ठा, दुर्गी आदि की बीमारियों में उसे भुला दिया है ।

लेखक ने वरसोवा के निवासियों की वेशभूषा का भी स्थान-स्थान पर विवरण दिया है । पुरुष कमर में तिकोना रंगीन रुमाल बाँधते हैं और बनियान पहिनते हैं । उनके पैरों मे चप्पल नहीं होती । स्त्रियाँ घुटनों तक की लाँगदार साड़ी एवं छोटी कसी हुई चोली पहनती हैं । उन्हें आभूषणों का शौक होता है । लेखक ने आभूषणों का विवरण देते समय गले में पहने जाने वाले 'मंगलसूत्र' (सौभाग्यालंकार-विशेष) का अर्थ 'सोने की जंजीर'[७] मात्र लिखा है, जो ठीक नहीं है । इसी प्रकार कलाइयों में चूड़ियाँ पहनने का रिवाज है । सम्पन्न स्त्रियों की कलाइयों में सोने की भी चूड़ियाँ होती हैं । मराठी में चूड़ी को 'बांगड़ी' कहते हैं, जिसका बहुवचन रूप 'बांगड़ा' बनता है । लेखक ने 'बांगड़ा' शब्द को अपने अधूरे ज्ञान के कारण एकवचनी रूप समझकर उसके कोष्ठ में 'कड़ा' अर्थ दिया है । आभूषणों के अतिरिक्त कोली स्त्रियों को फूलों का शौक होना है । उनके कसे हुए जूड़ों पर फूलों का गजरा प्रायः होता ही है । वेशभूषा के इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि अशिक्षित बंशी और शिक्षित रत्ना की वेशभूषा के भेद का चित्रण लेखक ने नहीं दिखाया है ।

आर्थिक दृष्टि से कोली समाज दरिद्र होता है । सापेक्षतया विट्ठल जैसे सम्पन्न, कोली जागला जैसे गरीबों का शोषण करते हैं । इन सापेक्षतया सम्पन्न कोलियों का शोषण मछलीबाजार के आढ़ती करते हैं । मछलीमार सहकार समिति के गठन के बाद शोषण के कम होने से कोली समाज मे 'खुशहाली' के आने का उल्लेख मात्र लेखक ने किया है, खुशहाली के स्वरूप का चित्रण नहीं । वास्तव में

मछलीमारो की खुशहाली मछलियो को सड़ने से बचाने के लिए शीतगृहादि की व्यवस्था पर निर्भर है। यह खुशहाली नाव की उपलब्धता पर भी आश्रित है, क्योंकि मछलीमार व्यवसाय नाव द्वारा ही होता है। इसी कारण मछलीमारो मे नाव बेचना अशुभ माना जाता है। माणिक के नाव बेच डालने पर दुर्गा, मांगा आदि ने इसीलिए बहुत बुरा माना है।

दिन मे पुरुषो के मछलियाँ लाने के लिए समुद्र मे दूर-दूर तक चले जाने पर घर और गाँव मे स्त्रियो का राज्य होता है। बाजार मे जाकर मछलियाँ बेचने का काम स्त्रियो के हाथो मे ही होता है। आर्थिक व्यवहार के सूत्र हाथो मे होने के कारण कोली स्त्रियो की स्थिति सापेक्षतया अच्छी होती है। कमाऊ होने के कारण विवाह मे लड़की पर रुपया मिलता है। माणिक ने रत्ना के लिए वशी को रुपये दिए हैं। कमाऊ होने के कारण विवाह के बाद भी कोली स्त्री घर की दासी नही, अपितु मालकिन बनकर रहती है। उसका घर मे राज्य चलता है। समय पड़ने पर वह पति की मरम्मत करने मे भी नही हिचकिचाती। दुर्गा और रत्ना, दोनो ने माणिक को बेरहमी से पीटा है। विट्ठल तो वशी से शिकायत पेश करते हुए कहता है कि—"दर रात मारेंगा तो कइसा मच्छी आएँगा।"[१] वशी तो रत्ना से यहाँ तक पूछती है कि—"क्यो रत्ना, कभी माणिक कू मारा नही।"[११] आवश्यकता पड़ने पर कोली स्त्री परपुरुष की भी कुटम्मत करने मे सकोच नही करती। रत्ना ने विभिन्न अवसरो पर माणिक के पार्टनर लक्ष्मण, सेठ के साले छगामल आदि को पीटकर कोली स्त्री के साहस का परिचय दिया है। पार्वती ने तो होली के भरे उत्सव मे बाउला को थप्पड़ जड़ दिया है।

जनजातियो मे जातिपचायतो का महत्त्व बहुत अधिक होता है। प्रस्तुत उपन्यास के यशवत और वर्लीकर के झगड़े और रत्ना पर किए गए विषप्रयोग के प्रसगो मे जातिपचायत को सक्रिय रूप मे दिखाया जा सकता था, परन्तु लेखक ने इन प्रसगो का इस दृष्टि से उपयोग नही किया है। केवल उपन्यास के अन्त मे डॉक्टर पाडुरग द्वारा रत्ना के अपनाए जाने के प्रसग मे वशी ने कहा है कि—"जमात का परवा नई करेंगा।"[११]

धार्मिक दृष्टि से कोलियो के धल्कर और शिवकर नामक दो भेद हैं। जागल्या जैसा सामान्य व्यक्ति भी इस भेद को महत्त्वपूर्ण नही मानता। कार्ले की एक वीरा देवी और जेजुरी का खडोबा कोलियो के आराध्य देव हैं। खडोबा को ही 'मल्हारी मार्तंड' भी कहते हैं। इस उपन्यास मे कई स्थानो पर 'खडाला' देवता की दुहाई दी गई है, सम्भवत यह कोई स्थानीय देव है। इनके अतिरिक्त वरसोवा मे महादेव का भी मन्दिर है। एक स्थान पर वशी ने 'हनुमान बावा' की कृपा की आकाक्षा भी व्यक्त की है। मछलीमार जीवन मे समुद्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

होता है। स्पेनिश मछलीमार समुद्र को इसी कारण 'ल मार' (सजनी) कहकर उस पर अपना प्रेम प्रकट करते हैं। महाराष्ट्र के कोली समुद्र को देवता मानकर नारियल पौर्णिमा (श्रावण पौर्णिमा) के अवसर पर उसकी पूजा करके नारियल की भेंट चढ़ाते हैं। इस उपन्यास में नारियल पौर्णिमा का प्रसंग तीन स्थानों पर चित्रित हुआ है। नारियल पौर्णिमा के अतिरिक्त कोलियों का महत्त्वपूर्ण पर्व 'शिमगा (वसंतोत्सव) है, जिसे वे बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। इस अवसर पर सामूहिक नृत्यों का आयोजन होता है, जिनमें जाल फेंककर मछली फँसाने आदि कोली जीवन से सम्बन्वित बातों का अभिनय होता है। धर्म-परिवर्तन की दृष्टि से जनजाति के लोगों के मन बड़े नाजुक (touchy) होते हैं। ईसाई द्वारा रूपा नामक लड़की के भगाये जाने की खबर से वरसोवा में 'संसेशन' फैल गई है।

जनजातियाँ स्थितिप्रिय होती हैं, इसलिए वे शिक्षा की उपेक्षा किया करती हैं। वरसोवा की एकमात्र पढ़ी-लिखी लड़की रत्ना है। मछलीमार सहकार समिति के प्रसंग में रामचन्द्र एवं एक-दो पढ़े-लिखे ईसाई कोलियों का उल्लेख भी हुआ है। पढ़ाई-लिखाई के कारण जिस प्रकार के बदलाव की प्रक्रिया का वरसोवा-जीवन प्रारम्भ मात्र हुआ है। नगर के सम्पर्क के कारण भी गाँव की पारम्परिक एकांगिता में दरारें पड़नी शुरु हुई हैं। पर कुल मिलाकर शिक्षा का स्वस्थ प्रभाव बहुत कम पड़ा है। शिक्षा ने रत्ना के मन में वैभव की भूख जगा दी है और श्रम के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी है। उसे अपना घर 'उबकाई ला देनवाला' लगने लगा है और वरसोवा का 'एकदम पुराना गाँवड़ा' 'नरक' मालूम होने लगा है। अल्पशिक्षित माणिक भी मछलीमार व्यवसाय को घृणा की दृष्टि से देखने लगा है। इसके विपरीत श्रम से जुड़े रहकर यशवन्त ने स्वयं प्रेरणा से जो शिक्षा प्राप्त की है, उसके कारण उसके दृष्टिकोण में समाजोपयोगी गुणात्मक अन्तर परिलक्षित होता है। इसी अन्तर के कारण वह वरसोवा के नवयुग का अग्रदूत बनाता है। लेखक ने यशवन्त को उन्हीं समाज कार्यों को करते हुए दिखाया है, जो उसकी शक्ति की सीमा में सम्भव हैं। परिस्थिति की विपरीतता के कारण यशवन्त द्वारा जगाई गई चेतना असमय ही समाप्त भी हो गई है। इस प्रसंग में लेखक ने संयम को अपना कर यथार्थ चित्रण की रक्षा की है, यशवन्त द्वारा बड़े-बड़े सुधार कार्यों को सम्पन्न कराने के मोह से वह बच गया है।

लेखक ने 'सागर, लहरें और मनुष्य' उपन्यास में कोलियों के सामाजिक जीवन को विभिन्न घटनाओं के माध्यम से प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। डॉ० प्रेमशंकर आदि आलोचकों ने इस उपन्यास के कथानक में सर्वप्रमुख दोष दो अंचलों अर्थात् वरसोवा और बम्बई से सम्बन्ध होने का बतलाया है।[12] इन आलोचकों ने भूगोलमूलक अंचल को दृष्टि में रखकर ही यह दोष माना है। वस्तुतः उपन्यास के

अंचल की इकाई भूगोलमूलक उतनी नहीं, जितनी कि जनजातिमूलक है। इसलिए बम्बई महानगर के पेट मे बसे बरसोवा के कोलियो का सम्बन्ध बम्बई के मछली बाजारो से होना स्वाभाविक ही है। इसीलिए मछली बाजार की समस्याओ से सम्बन्धित कथानक अचलेतर मे घटित नही माना जा सकता। माणिक होटल व्यवसाय प्रारम्भ करने पर ही कथानक आचलिकता से बाहर चला जाता है। चाल-जीवन से सम्बन्धित सम्पूर्ण कथानक अनाचलिक है।

माणिक से सम्बन्ध टूट जाने पर रत्ना का वैभवविलास सम्बन्धी भ्रम टूट जाना चाहिए। घीरूवाला के प्रसग की आवश्यकता ही नही है, क्योंकि घीरूवाला माणिक का ही बडा सस्करण है। ये दोनो पात्र पूँजीवादी व्यक्तिचेतना के प्रतीक हैं। घाटकोपर की घटना के बाद रत्ना के बरसोवा लौटने मे कोई अडचन नही थी। घीरूवाला के प्रसग के बाद अनेक अडचनो मे राह सुझाने वाली सारिका स्वय अड-चन का कारण बन गई है। उसने मध्यवर्गीय चेतना के अनुसार रत्ना से कहा है—"गिरना चाहे एक बार हो या हजार बार, दोनो मे कोई फर्क नही है।"[११] इन शब्दो ने रत्ना के लौटने मे न जाने क्यो रुकावट पैदा की है। कोली रत्ना के लिए मध्यम वर्ग की उपर्युक्त नैतिकता के लिए कोई महत्त्व नही है। व्यक्तिगत रूप से भी रत्ना प्रबल कामभावना से परिचालित मत्स्यगधा बनने की इच्छुक नारी है। कामतृप्ति की दृष्टि से निर्बल माणिक के सम्पर्क मे रहते हुए उसका मन रह-रहकर यशवन्त की ओर जाता रहा है। विवाह के बाद शिमगा पर्व के अवसर मायके आने पर वह यश-वन्त की उदासी को देखकर 'मोह से भर गई'[१२] थी। ऐसी स्थिति मे यशवन्त से अन्त मे पुनर्विवाह करना रत्ना के लिए अधिक स्वाभाविक था। पाडुरग (महाराष्ट्र के प्रमुख देवता का नाम भी पाडुरग है) के समान डॉक्टर पाडुरग द्वारा रत्ना को अपना कर उसके धूलिसात् जीवन को पुन रत्न की तरह बहुमूल्य बनाया जाना तो आदर्श-वाद मात्र है। रत्ना को यशवन्त से विवाहित दिखाकर यथार्थ की रक्षा के अतिरिक्त इस शिक्षित दम्पति द्वारा बरसोवा को पुन सुधारचेतना से सम्पन्न दिखाया जा सकता था। लेखक ने उपन्यास के कथानक को व्यर्थ ही कोली जीवन से निरपेक्ष बम्बई की घटनाओं की भीड मे भटका दिया है। प्रेमशून्य बम्बई की हवा से विवा-हित रत्ना को लेखक ने जनजातिविषयक प्रेम से शून्य होने के कारण आदर्शवाद से विवाहित कर दिया है। बरसोवा और बम्बई की सामन्तवादी व्यवस्थाओ से पीडित कोली जनजाति की आचलिक समस्याओ की उपेक्षा कर दी है।

उपन्यास के कथानक का 'माणिक प्रकरण कालविपर्ययपद्धति से उपस्थित किया गया है। यह कोली जनजाति के जीवन से सम्बद्ध होते हुए भी कोली जीवन के किसी नये पहलू पर प्रकाश नही डालता। इस प्रकरण मे औरत के घर से भागने की अश्लील कारणमीमासा, सास और दामाद का यौन सम्बन्ध आदि निरर्थक

विस्तार की बातें हैं। माणिक की सारी आपबीती को रंगनाथ के द्वारा संक्षेप में सूचित किया जा सकता था। अतः इस प्रकरण का कथाविस्तार मनोरंजक होते हुए भी निरर्थक है। इसी प्रकार 'यशवन्त' प्रकरण में यशवन्त की कथा की अपेक्षा बम्बई का भटकाव ही अधिक है। इस भटकाव में कथानक लड़खड़ा गया है। लेखक ने कथानक में संयोगतत्त्व को भी स्थान दिया है। पांडुरंग के दवाखाने में रत्ना और बंसी की भेंट इसी प्रकार की है। कथानक की दृष्टि से यह उपन्यास घटनाबहुल बन गया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि इस उपन्यास में आंचलिक उपन्यास के समान पात्रबाहुल्य है। आंचलिक उपन्यास में समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि पात्र होते हैं। इसके विपरीत इस उपन्यास में प्रमुख पात्र प्रतिनिधि पात्र न रहकर कुछ विशिष्ट बन गये हैं। उपन्यास के कथानक का पात्रानुसार किया गया विभाजन इसी तथ्य का सूचक है। व्यक्तिप्राधान्य के कारण उपन्यास की आंचलिकता को हानि पहुँची है। उपन्यास के घटित और वर्णित कथानक में आये सनाम और अनाम पात्र लगभग सौ हैं। इनमें से म्हातारा, जानल्या, मांगा, आदि पात्रों के कारण उपन्यास का आंचलिक रूप बहुत कुछ उभर सका है।

प्रस्तुत उपन्यास का सर्वप्रधान पात्र रत्ना है। वह जनजाति के पारम्परिक संस्कारों में पली है और शिक्षण के प्रभाव से नागर वैभवविलास की ओर आकृष्ट है। उसमें कोली जाति की स्त्रियों में पाया जाने वाला साहस है। वह अपनी माँ के समान जीवट की स्त्री है। वैभव की लालसा को उसने अपनी माँ से ही उत्तराधिकार के रूप में पाया है। वैभवलालसा के समान दृष्टिकोण के कारण यशवन्त के लड़कपन से विकसित प्रेम को भुलाकर 'प्रेमप्रेम'[११] के बिना माणिक से विवाह कर लेती है, परिणामतः अन्त में उसे पछताना पड़ता है। थोड़ी पढ़ी-लिखी रत्ना के मन में शिक्षण के कारण वैभव के महल बनने लगते हैं। गाँव के घिसे-पिटे जीवन से उसे अरुचि हो जाती है। वह श्रम से घृणा करने लगती है और चटक-मटक के प्रेमी माणिक के फंदे में जा फँसती है। माणिक के फंदे से छूट जाने पर अन्त में समदुःखी पांडुरंग की पत्नी बनकर अपने को कृतकृत्य समझने लगती है। डॉ० शान्ति भारद्वाज ने रत्ना को 'क्रान्तिरत भारतीय नारी की प्रतिनिधि'[११] मानकर उसके विद्रोह में गहराई देखी है, जो आश्चर्यजनक है। यदि रत्ना यशवन्त के प्रेम को दृष्टि में रख कर पुनः वरसोवा लौटकर यशवन्त के सामाजिक कार्य में सहभागी होती तो यह सच सिद्ध हो सकता था।

वैभवलालसा के समान ही रत्ना के चरित्र की दूसरी प्रधान विशेषता कामलालसा की प्रबलता के कारण वह अमर यौवन का वरदान पाना चाहती है। कामप्रधान उपन्यासों ने उसकी वासनाधारा में ज्वार ला दिया है। माणिक से तृप्ति न

पाकर वह कभी अपने बन्द कमरे के एकान्त में नग्न होकर शीशे में अपनी छाती के उभार और नितम्बों की उठान देखती है और कभी-कभी उसके अतृप्त मन में यशवन्त और शंकर के चेहरे घूम जाते हैं। इतना ही नहीं, वह होटल के काउन्टर पर जवान ग्राहक को देखकर ललचा उठती है। उसकी जवानी से खेलना चाहने वाले घीस्वाला के चक्कर में आने पर उसने घीस्वाला को केवल एक बार ही अपने शरीर से खेलने दिया होगा इस बात पर विश्वास करना कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से देखने पर रत्ना का यशवन्त की ओर लौट आना ही अधिक स्वाभाविक हो सकता था। यशवन्त की भरी पूरी जवानी को देखकर अतृप्त सोमा गमगमा उठी थी और पार्वती रीझ उठी थी। यशवन्त की जवानी ने वंशी के मन पर भी मोहिनी डाली थी। यशवन्त के लिए रत्ना 'मन की आराधना'[1] भी थी। 'वरसोवा के राजकुमार' यशवन्त ने रत्ना को न पाकर लोकसेवा से शादी कर ली थी और चाय तक का परित्याग कर दिया था। रत्ना के लिए यशवन्त काम और लरिकाई के प्रेम, दोनों ही दृष्टियों से उपयुक्त था। इसके बावजूद यशवन्त और रत्ना विवाहबद्ध न हो सके। सम्भवतः लेखक का शहरी संस्कार वाला मन ही इस मिलन में बाधक बन गया है, जिसने रत्ना को यशवन्त के पास लौटने नहीं दिया है।

उपन्यास का दूसरा प्रमुख पात्र माणिक है, जिसके चरित्र का केन्द्र धनासक्ति है। वह धनासक्ति के कारण "औरत बेचने"[2] में भी संकोच नहीं करता। बचपन में समाज द्वारा प्रताड़ित माणिक में सामाजिक दायित्व की भावना का विकास नहीं हो सका है। 'हम दुर्गा के साथ जीयेंगा और उसी के साथ मरेंगा' कहने वाला माणिक दुर्गा के मरने के बाद रत्ना को बरबाद करने के लिए बचा रहता है। वह 'धन्धा में मदद होयेंगा' यह सोचकर ही रत्ना से विवाह करता है। उसमें मानवीय सहृदयता की इतनी कमी है कि दुर्गा के मरणासन्न होने पर दुःखग्रस्त होने के बहाने सास की जाँघों में मुँह छिपाकर पड़ा रहता है और अन्त में सास के साथ भी यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। हृदयहीनता और धनासक्ति माणिक के चरित्र की विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

उपन्यास का तीसरा महत्त्वपूर्ण पात्र यशवन्त है। रत्नाविषयक उसका प्रेम रत्ना के माणिक से विवाहित होने के बाद प्रतिहिंसा में बदल जाता है, किन्तु शीघ्र ही इस विकृति से मुक्ति पाकर वह लोकसेवा की ओर उन्मुख हो जाता है। रत्ना के प्रेम के कारण वह आजन्म अविवाहित रहता है और रत्ना के लापता होने पर उसे खोजने के लिए व्याकुल हो उठता है। रत्ना के पाण्डुरंग द्वारा अपनाई जाने पर वह अपने को रत्ना का 'भाई' बना लेता है। यशवन्त के चरित्र की इस अन्तिम परिणति को छोड़ दिया जाये तो उसका सारा चरित्र अधिक स्वाभाविक पद्धति से विकसित हुआ है। उपन्यास के तीन प्रमुख पात्रों में वह ही अधिक मात्रा में आँचलिकता का

प्रतिनिधित्व करता है। उसे आंचलिक जीवन से घृणा नहीं है, तथापि लोकसेवा से शादी करने की बात ने उसके चरित्र को व्यक्तिविशिष्ट बना दिया है।

प्रस्तुत उपन्यास में जागला और वंशी कोलियों के जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले सर्वाधिक सशक्त पात्र हैं। जागला शोषित निम्न वर्ग का प्रतिनिधि है, जो वंशी के लिए बड़े 'काम' (दोनों अर्थों में) का आदमी है। इट्ठा के प्रति आकृष्ट होने पर उसमें अल्पकाल के लिए चेतना-सी जगी थी। इट्ठा से विवाह करने में सहायक बनने पर वंशी उसके लिए देवी बन गई और इस देवी के आगे उसकी जागृत श्रमिक चेतना फिर से दब गई। विवाह के बाद वंशी को जागला के सिवाय इट्ठा के रूप में एक और नौकर मिल गया।

'सागर, लहरें और मनुष्य' का सर्वाधिक सशक्त पात्र वंशी है। वह सम्पन्न कोलीवर्ग की प्रतिनिधि है। शासन की प्रवृत्ति उसके स्वभाव का अंग है। वह आदमियों की कमाई खाने वाली औरतों में से नहीं है। वह बड़ी जीवट की औरत है। उसके चरित्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू उसका वात्सल्य है। रत्ना के हठ के आगे वह झुक जाती है और मन मारकर उसका विवाह माणिक से कर देती है। परन्तु रत्ना और पांडुरंग के प्रसंग में यह दबंग औरत पंचायत के शासन की अवहेलना करने के लिए उद्यत होकर कहती है कि—"जमात का परवा नई करेंगा।" कामजीवन, व्यवहार जीवन आदि में वह कोली स्त्री की सच्ची प्रतिनिधि है, जिसका घर और बाहर दोनों जगह शासन चलता है। वह अपने बड़प्पन के प्रति अत्यन्त सजग है। उसके इट्ठा की सेवा करने में सहज मानवीय सहानुभूति की अपेक्षा यश पाने की कामना ही अधिक प्रबल है। इट्ठा की सेवा करने में सोमा को नीचा दिखाना भी उसका उद्देश्य है। यही बड़प्पन की भावना से प्रेरित तेजतर्रार जीवटवाली औरत रत्ना के वियोग में निरीह बनकर दुःख के आघात से अन्धी बन जाती है। बड़प्पन की भावना और वात्सल्यभावना उसके चरित्र के प्रमुख नियामक तत्त्व हैं।

इस उपन्यास में कांतिलाल, शंकर आदि अनेक अनांचालिक पात्र निरर्थक हैं। पांडुरंग का आदर्श चरित्र उपन्यास के आंचलिक गठन और आन्तरिक लय के प्रतिकूल है।

लेखक ने उपन्यास को आंचलिक रूप देने के लिए मराठी और गुजराती से मिश्रित विकृत हिन्दी का प्रयोग करके उसमें कोंकणी भाषा की अनुनासिकता की प्रवृत्ति का समावेश कर दिया है। आंचलिक पात्र परस्पर इस विकृत हिन्दी में बातचीत करते हैं तथा अनांचलिक पात्रों के साथ शुद्ध हिन्दी में बोलते हैं। इस नियम का भी सर्वत्र पालन नहीं हुआ है। माणिक ने कोलियों के सामने अपनी आपबीती शुद्ध हिन्दी में सुनाई है और यशवन्त का समाज सुधार सम्बन्धी भाषण शुद्ध हिन्दी

में किया गया है। रत्ना आवेश में आकर कृत्रिम भाषा भूलकर सहज भाषा में माणिक से कहती है—"एक बेचारी अबला की सवा करना व्यभिचार है, बदमाशी है, तो मैं बदमाशी करूँगी।"[१५] वशी भी कहीं-कहीं शुद्ध हिन्दी में बातें करने लगती है, यद्यपि वह शिक्षित नहीं है। एक स्थान पर वह कहती है—'अब यशवंत से ही मैं रत्ना की शादी करूँगी।" इसके अतिरिक्त कोलिया की लेखक-निर्मित कृत्रिम भाषा के बीच में कोंकणी लोकगीतों की पंक्तियाँ भी दी गई हैं। 'दाहेर गावाला मचवा बाँधला—"[१६] यह गीत माणिक की आपबीती में आया है। इस समूहगीत का पूरा अर्थ मुझ जैसे मराठी भाषी व्यक्ति को भी समझ में नहीं आता।

लेखक ने कहीं-कहीं कोलिया की कृत्रिम भाषा में प्रयुक्त स्थानीय शब्दों के अर्थ कथनी में दिये हैं, जैसे—होडी (नाव), डोल (ज ल), सुकाणू (पतवार), शीड (मस्तूल) इत्यादि। कहीं-कहीं कथनी में दिए गए शब्दों के अर्थ अशुद्ध भी हैं, जैसे—मंगलसूत्र (सोने की जंजीर) वागडव्या (कड़ा) आदि। इन शब्दों के सम्बन्ध में कोलियों की वेशभूषा प्रसंग में स्पष्टीकरण दिया गया है। इस प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त ऐसे अनेक कोंकणी शब्द उपन्यास में भरे पड़े हैं जिनका अर्थ हिन्दी भाषी व्यक्ति समझ ही नहीं सकता। लेखक ने खोच, पू, मासिती, लेकर, माशी आदि अनेक शब्दों का जहाँ-तहाँ अर्थ दिये बिना ही प्रयोग किया है। इस प्रकार प्रयोग के कारण भाषा की बोधगम्यता को क्षति पहुँची है। बोधगम्यता के मूल्य पर हिन्दी भाषा की रचना में अहिन्दी शब्दों का प्रयोग किसी प्रकार भी समर्थनीय नहीं है। हिन्दीतर भाषा के उन्हीं स्थानीय शब्दों का हिन्दी में प्रयोग क्षम्य है, जिनके लिए हिन्दी के अपने प्रतिशब्द न हों। उपन्यास की कृत्रिम भाषा में 'नींद नहीं आपरा'[१७] जैसे भद्दे प्रयोग भी हैं, जिनका प्रयोग असंभव है। 'मरजीवा मारक' प्रयोग में तो मराठी की 'चा' सम्बन्धविभक्ति का प्रयोग अवांछनीय है। कृत्रिम भाषा की बैसाखी के आधार पर आंचलिकता को खड़ा करने का लेखक का प्रयत्न असफल रहा है। डॉक्टर प्रेमशंकर ने इस कृत्रिम भाषा को न जाने किस आधार पर सहज'[१८] कहा है? आश्चर्य यह है कि इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है कि—"वरसोवा की बोली इस रचना को विशिष्ट बनाती है।"[१९] इसी प्रकार डॉक्टर सुषमा धवन ने इस उपन्यास में 'भाषा का सफल प्रयोग'[२०] देखा है। कला की बोधगम्यता पर आघात करने वाली कृत्रिम भाषा कैसे 'विशिष्ट' और 'सफल' कही जा सकती है?

प्रस्तुत उपन्यास में भाषा में मराठी शब्दों के सम्मिश्रण के अतिरिक्त गुजराती भाषा के शब्दों का मिश्रण भी किया गया है। कांतिलाल की हिन्दी में 'सूँघरिए' 'पशो' आदि गुजराती के प्रयोग खटकते हैं। रत्ना सर्वत्र अपनी माता को 'माय' कहती है, पर एकाध स्थल पर उसने गुजराती के 'बा' शब्द का प्रयोग किया है। बहुत से गुजराती 'ड' अक्षर के स्थान पर 'र' अक्षर का उच्चारण करते हैं। इसी

त्रुटि के कारण धीरूवाला कहता है—"घोरा का काम गारी तो नहीं करेंगा।"[२५] इस प्रकार के उच्चारण दोष से युक्त प्रयोग स्वाभाविक कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार सेठानी की भाषा का बोलीगत लहजा भाषा को अधिक सहज बना देता है। वह रत्ना से कहती है—"इसकी भी कोई इज्जत है, खसम छोड़के इज्जत लिए फिरै है।"[२६] गुंडे शंकर की भाषा की शोखी भी स्पष्ट है। वह रत्ना से कहता है—"यह भरपूर जवानी यों ही खोने लिए नही है मेरी जान।"[२७] लेखक ने उपन्यास में अंग्रेजी के बहुप्रचलित मैनेजर, कारपोरेशन आदि शब्दों का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग किया है। कहीं-कहीं 'ग्रेट शॉक' जैसे सविशेषण संज्ञा शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। एक-दो स्थानों पर अंग्रेजी के पूरे-के-पूरे वाक्य तक प्रयुक्त हुए है। इट्टा की सेवा में संलग्न रत्ना को देख कर दरवाजे की नर्स उससे कहती है कि—"यू केन बी ए वेरी गुड नर्स।"[२८] इसी प्रकार धीरूवाला की ईमानदारी पर सन्देह होने पर रत्ना उससे गुस्से में कहती है कि—"आई डाउट योर सिंसियरिटी।"[२९] क्रोध के आवेश में व्यक्ति सहज भाषा का प्रयोग करता है, किन्तु इसके विपरीत यहाँ रत्ना ने अंग्रेजी का प्रयोग किया है, रत्ना के लिए अंग्रेजी भावावेश की भाषा नहीं हो सकती। विवेचन के निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि उपन्यास में अहिन्दी शब्दों के प्रयोग में विवेक और संयम से काम नहीं लिया है।

उपन्यास में लेखक ने वर्णन-विवरण में समर्थ भाषा का प्रयोग किया है। उपन्यास के प्रारम्भिक तूफान का वर्णन सशक्त शब्दों में हुआ है। इस तूफान के समय चारों ओर "इस्पात की तरह ठोस अंधेरा" छाया हुआ था। 'निगाहों की सुई' के लिए वह अभेद्य था। इस स्थिति के कारण "हृदय का प्रकाश बुझ रहा था।" "अंधेरे ने वस्तु की इकाई को पी लिया था। केवल कुछ दूर पर बिजली की बत्तियाँ अस्तित्व के लिए लड़ रही थीं।" इस तूफान से अनजान घर में सोती हुई स्त्रियों की "अंगियों में छिपे भूवरों पर काम नाग" डोल रहा था। इसी प्रकार दुर्गा के शरीर का वर्णन करते हुए लेखक ने उसे 'गदराये कटहल की तरह सुन्दर' कहा है। उपन्यास में कोकण की निसर्गसमृद्धि की उपेक्षा हुई है। कोकण में कटहल का विशेष रूप से प्राधान्य होता है। प्रस्तुत रूप में कटहल का कहीं भी वर्णन नहीं है, किन्तु अप्रस्तुत में ही उसे देखकर अल्प-सा सन्तोष अवश्य होता है। उपन्यास के अन्त में लेखक ने रत्ना को पांडुरंग के बालों से बुने जाते हुए स्वप्नों में उलझाकर उसे यथार्थ आंचलिक जीवन से भले ही दूर कर दिया हो, परन्तु पाठकों को रत्ना के भावजगत् के निकट तक पहुँचा दिया है।

प्रस्तुत उपन्यास की भाषाशैली पर कोली जाति के जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। उदाहरणार्थ रत्ना के वियोग में वंशी मछली की तरह तड़पती है तो यशवन्त के लिये रत्ना ह्वेल है, जिसे जाल में फँसाना आसान नहीं है। यशवन्त

में प्रसंग का उदाहरण दिया गया है। रत्ना के मन में मत्स्यगंधा बनने की कामना है। अन्त में समुद्र से लड़ने वाली कोली जाति की स्त्री निराश होकर अपनी नाव को स्वच्छन्द बहने देना चाहती है और बहते हुए जीवन के उतार-चढ़ाव देखना चाहती है। वह यह देखना चाहती है कि आखिर अन्त में उसकी नाव किस किनारे जा लगेगी। इस प्रकार उपन्यास की अलंकार-योजना पर कोली जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, जिसके कारण उपन्यास की अलंकार-योजना अधिक औचित्यपूर्ण बन गई है।

उपन्यास की भाषा में मुहावरे और कहावतों का भी यथायोग्य रूप में प्रयोग हुआ है। अनेक सुन्दर सूक्तियाँ भी उपन्यास में प्रयुक्त हुई हैं, जैसे—"जीवन का दूसरा नाम है सृष्टि,"[१] "ज्ञान और अज्ञान दोनों की कड़ियों में संदेह झूलने लगता है," "जो पाप स्वीकार कर लेता है वह पापी नहीं होता" इत्यादि।

उपर्युक्त विवेचन में उल्लिखित गुणदोषों के अतिरिक्त कुछ गौण बातों की ओर भी ध्यान चला जाता है। तूफान में बहकर आने वाला माणिक बेहोशी के समाप्त होते ही पहला वाक्य यह कहता है कि—"मेरा नाम माणिक है।" बेहोशी से होश में आते ही अपना परिचय देने की बात अटपटी-सी लगती है। इसी प्रकार यशवंत ने मछलीमार समिति के मुंशी से पढ़ना-लिखना सीखा, किन्तु इस उल्लेख के बीस-बाईस पृष्ठों के बाद मछलीमार सहकार समिति की स्थापना का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार की तात्विक भूलों से बचना आवश्यक है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि इस उपन्यास में कोलियों के सर्वांगस्पर्शी जीवन के चित्रण में लेखक को सीमित रूप में ही सफलता मिली है। डॉ० प्रेमशंकर ने इस दृष्टि से ठीक ही लिखा है कि—"सांस्कृतिक प्रमाणीकरण की दृष्टि से उपन्यास उतना समृद्ध नहीं हो पाया।"[११] इन्हीं कारणों से श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री शिवदानसिंह चौहान आदि ने इस उपन्यास को सीमित अर्थों में आंचलिक उपन्यास माना है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० सुषमा धवन आदि ने इस उपन्यास को जीवनदृष्टि के समष्टिमूलक न होने के कारण इसे आंचलिक उपन्यास मानने से इनकार किया है। वस्तुतः सत्य स्थिति यह है कि लेखक ने आंचलिक उपन्यास के रूप में इसे लिखने का प्रयत्न किया है, किन्तु कोली जनजाति के साथ गहरे लगाव के अभाव के कारण वह असफल रहा है।

टिप्पणियाँ

१ उप (निकट) + न्यास (रखना) = उपन्यास अर्थात् पाठक को जीवन के निकट पहुँचने का साधन।

२ 'सागर, लहरें और मनुष्य' (तृ० संस्करण), पृ० २३५

३. 'सागर, लहरें और मनुष्य'—पृ० २३९
४. वही, पृ० ६
५. वही, पृ० २०९
६. वही, पृ० ३
७. वही, पृ० १०
८. वही, पृ० १०
९. वही, पृ० १२३
१०. वही, पृ० २०३
११. वही, पृ० ३०९
१२. विवेचनासंकलन (भाग ३)—पृ० २५
१३. सागर, लहरें और मनुष्य—पृ० २८५
१४. वही, पृ० २२४
१५. वही, पृ० ११२
१६. हिन्दी उपन्यास : प्रेम और जीवन (प्र० संस्करण), पृ० २२१
१७. सागर, लहरें और मनुष्य, पृ० ७६
१८. वही, पृ० १९७
१९. वही, पृ० १९३
२०. वहीं, पृ० ३७
२१. वही, पृ० ८०
२२. विवेचनासंकलन (भाग ३), पृ० ३३
२३. आज का उपन्यास (प्र० संस्करण), पृ० ७१
२४. हिन्दी उपन्यास (प्र० संस्करण), पृ० १४९
२५. सागर, लहरें और मनुष्य, पृ० २६४
२६. वही, पृ० २५६
२७. वही, पृ० १९५
२८. वही, पृ० ५५
२९. वही, पृ० २८१
३०. वही, पृ० १८०
३१. विवेचनासंकलन (भाग ३), पृ० ३०

सूरज का सातवाँ घोड़ा : मध्यवर्गीय जीवन के सात रंग

ओम्प्रकाश होलीकर

जब पूरी व्यवस्था में बेईमानी है तो एक व्यक्ति की ईमानदारी इसी में है कि वह एक व्यवस्था द्वारा लादी गई सारी नैतिक विकृति को अस्वीकार करे और उसके द्वारा आरोपित सारी झूठी मर्यादाओं को भी; क्योंकि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं। लेकिन हम यह विद्रोह कर नहीं पाते। अत नतीजा यह होता है कि जमुना की तरह हर परिस्थिति में समझौता करते जाते हैं।

—धर्मवीर भारती

इन सवा सौ पृष्ठों में भारती ने सवा हजार पन्नों की बात कही है—यह उसकी कला का सबसे बड़ा कमाल है। ' इतनी छोटी भूमि पर इतना बड़ा चित्र दे सकने का एकमात्र रहस्य है—उसकी यथार्थ की पकड़, जिस सामाजिक जीवन को उसने लिया है उससे उसका निकटतम सम्बन्ध, परिचय और पैठ, यही कारण है कि वे चित्र इतने स्वाभाविक हैं, इतने सच्चे हैं कि मुहल्ले, गली, पडोस सभी जगह मिल जायेंगे—अत इसी अनुपात में प्रभावशाली भी हैं।

—राजेन्द्र यादव

७

सूरज का सातवाँ घोड़ा

कृति की संख्या की अल्पता के बावजूद साहित्य में विशिष्ट स्थान बनाये रखने वालों में धर्मवीर भारती अपना एक पृथक् व्यक्तित्व रखते हैं। कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, पत्रकारिता, रिपोर्ताज इत्यादि सभी विधाओं का स्पर्श कर उनके स्वरूप को निखारना भारती की अपनी विशेषता है। हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' ऐसे बिन्दु पर स्थित है, जिसे किसी भी कोण से देखने पर वह अपने स्वरूप को विशिष्ट बनाये हुए है। विषय तथा शिल्प की सामयिकता और नवीनता ने उसका स्वरूप रोचक तथा मोहक बनाया है। इसका रचनाकाल सन् १९५२ ई० है। यह उपन्यास अपने पूर्ववर्ती उपन्यास 'गुनाहों का देवता' से दोनों दृष्टियों से—विषय और शिल्प—भिन्न है अतः आलोचकों ने इसे शिल्पप्रधान उपन्यासों की कोटि में समाकलित किया है।

यह उपन्यास कथात्मक उपन्यास है—अनेक कहानियों में एक कहानी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कहानियों की संख्या छह है। सभी कहानियाँ प्रेमकथा-सी लगती हैं। किन्तु यह कथा-माला प्रेम की अलग-अलग मणि न होकर सामाजिक वर्ग-वैषम्यरूपी विषय-ऐक्य के सूत्र से गूंथी गई है। निम्न-मध्य-वर्ग की सामाजिक, नैतिक, वैचारिक विषमता का चित्रण उपन्यास का कथ्य है। इस विषमता के चित्रण के लिए ही भारती ने छह कहानियों के माध्यम से मध्यवर्गीय पात्रों के विभिन्न दृष्टिकोणों, परिस्थितियों और पहलुओं को सामने रखा है।

उपन्यास के 'पहली दोपहर' शीर्षक में वर्णित कहानी तन्ना और जमुना की प्रेम-कहानी है। दोनों ही मध्यवर्गीय पात्र हैं। कहानी विकसित होती रहती है और पात्रों के जीवन की इति होती रहती है; यही इन कहानियों के पात्रों की विडम्बना है—जिसे उजागर करना भारती का मुख्य उद्देश्य रहा है। दहेज न दे पाने के कारण तथा जाति-उपजाति के विष से सींची हुई सामाजिक परम्परा के कारण जमुना का विवाह उसके प्रेमी तन्ना से न होकर वृद्ध जमींदार के साथ—वह भी तिहाजू—होना है। निम्न-मध्य-वर्ग में स्त्री की सामाजिक स्थिति और थोथी मर्यादा एवं रूढ़ियों मे

ग्रस्त शिकार जमुना विगत तथा विवश होकर ही समाज के लिए भीषण समस्या बन जाती है। इस प्रकार इस कहानी में निम्न मध्य-वर्ग की थोथी रूढ़िप्रियता का मोह दर्शाया है, जिसके शिकार होकर पात्र विवश हो जाते हैं। यह विवशता ही उनमें विसंगति को उत्पन्न करती है और यह विसंगति निम्न-मध्यवर्ग के जीवन को विडम्बनापूर्ण बना रही है।

दूसरी कहानी पहली कहानी को आगे बढ़ाती है। यह भी जमुना के वैवाहिक जीवन से सम्बद्ध है। पहली कहानी जमुना की जीवन-यात्रा का पूर्वार्द्ध है तो दूसरी उसका उत्तरार्द्ध। उसके पूर्वार्द्ध में आर्थिक विषमता दिखाई है तो उत्तरार्द्ध में काम-भावना की अपूर्ति से उत्पन्न समस्या दिखाई है। धनी और सम्पन्न पति के मिलने पर भी उसकी कामभावना अतृप्त रह जाती है और यह अतृप्ति ही उसके नैतिक पतन का कारण बनती है। इस कहानी में जमुना के चारित्रिक पतन का कारण बताया है। आज के निम्न-मध्यवर्ग के युवा जगत् की अर्थ और काम-भावना की अतृप्ति की समस्या अत्यधिक भीषण है। उसके जीवन में अर्थ और काम दोनों का अभाव है और वस्तुतः ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। अतः मध्यम वर्गी को इन्हें प्राप्त करने के लिए किस प्रकार पतित होना पड़ता है, इसका ज्वलंत उदाहरण जमुना की चारित्रिक अवनति है।

तीसरी कहानी तन्ना और जमुना के सम्बन्धों से उत्पन्न मानसिक स्थिति से सम्बद्ध है। दोनों ही पात्र परम्पराओं रूढ़ियों और विचारधाराओं से इस प्रकार ग्रस्त हैं कि इनके विरुद्ध लड़ना चाहकर भी वे विद्रोह नहीं कर पाते। समस्या की गम्भीरता, भीषणता उन्हें बार-बार विद्रोह करने के लिए उकसाती है, पर वे झूठी मर्यादाओं के विरुद्ध साकार रूप से विद्रोह नहीं कर पाते। तन्ना ईमानदार व सच्च-रित्र पात्र है। इसलिये वह असत्य के साथ समझौता नहीं कर पाता। जमुना भी इसी प्रकार नैतिक विकृति और झूठी सामाजिक मर्यादा का शिकार है। वह न तो ईमानदार ही रह सकती है और न ही रूढ़ियों के खिलाफ विद्रोह कर सकती है। इसलिए माणिक मुल्ला कहता है—'जब पूरी व्यवस्था में बेईमानी है तो एक व्यक्ति की ईमानदारी इसी में है कि वह एक व्यवस्था द्वारा लादी गई सारी नैतिक विकृति को अस्वीकार करे और उसके द्वारा आरोपित सारी झूठी मर्यादाओं को भी, क्योंकि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं। लेकिन हम यह विद्रोह नहीं कर पाते। अतः नतीजा यह होता है कि जमुना की तरह हर परिस्थिति से समझौता करते जाते हैं।"[१] इसके साथ ही वे तन्ना को इस प्रकार धिक्कारते हैं—"लेकिन जो इस नैतिक विकृति से अपने को अलग रखकर भी इस तमाम व्यवस्था के विरुद्ध नहीं लड़ते, उनकी मर्यादाशीलता सिर्फ परिष्कृत कायरता होती है। संस्कारों का अन्धानुसरण।'[२] इस प्रकार इस कहानी में कोल्हू के बैल के समान ही आँख मूँदकर चक्कर काटने

वाले की तरह नरक की जिन्दगी को बिताते हुए उससे उबरने की कोशिश न करने पात्रों की समस्या का विश्लेपण किया है।

चौथी कहानी रोमांटिक है। यह माणिक मुल्ला और उनकी पूर्वप्रेयसी तथा तन्ना की पत्नी लिली की प्रेम-कहानी है। कहानी में दोनों के प्रेम का रूमानी वर्णन है। लिली भावुक पात्र है—वह पढ़ी-लिखी है। अतः थोथी रूढ़ियों और झूठी मर्यादाओं के विरुद्ध वह विद्रोह के लिए तैयार भी होती है। किन्तु माणिक की भीरुता और कायरता तथा झूठी मान-मर्यादा के भय ने उसकी विद्रोही वृत्ति को दबा दिया। इस प्रकार लेखक इसमें युवा-जगत् में पनपने वाली प्रेम की स्थिति का चित्रण करता है, किन्तु नैतिक साहस के अभाव के कारण वे उसे यथार्थ जीवन में उतार नहीं पाते और वह प्रेम इन मध्यवर्ग के युवक-युवतियों के लिए केवल कल्पना की वस्तु बनकर रह जाती है।

पाँचवीं कहानी भी प्रेम-कहानी है। किन्तु यह प्रेम एक समस्या का माध्यम बनकर ही यहाँ चित्रित हुआ है। इसका नायक माणिक मुल्ला ही है और नायिका है अशिक्षित किन्तु सुन्दर—सत्ती। दोनों भी युवा हैं। कुछ ही दिनों के सम्पर्क में दोनों के हृदय में प्रेम की भावना जागृत होती है। बुजुर्गों को यह प्रेम बिलकुल पसन्द नहीं और चमन ठाकुर तथा महेसर दलाल इस वर्ग के प्रतिनिधि बनकर खलनायक का रूप धारण करते है। सत्ती, लिली और जमुना दोनों से सर्वथा भिन्न है। जमुना के समान वह अशिक्षित है किन्तु अनैतिक नहीं। लिली के समान सुन्दर है किन्तु कोरी भावुक नहीं। उसका स्वभाव दोनों नायिकाओं से भिन्न है। उसमें विद्रोह की भावना के उग्र लक्षण दीखते हैं। माणिक को वह अपना जीवन-साथी बनाने के लिए, प्रत्येक के साथ विद्रोह के लिए तैयार है किन्तु माणिक भीरु और कायर मध्यवर्ग का प्रतीक है; जो झूठी मर्यादाओं और कुलीनता के केंचुल को हानिप्रद समझकर भी उतार नहीं पाता और उसकी भीरुता का शिकार बनती है—सत्ती। उसे विवश होकर महेसर दलाल के साथ शेष जीवन व्यतीत करना पड़ता है। जिसका अन्त दारुण (जो कि सत्य नहीं है) दिखाकर समस्या को भयावह रूप प्रदान करता है। मध्यवर्गीय युवक की भीरुता, कायरता, झूठी मर्यादाओं और रूढ़ियों से चिपके रहने की प्रवृत्ति और इन सब के फलस्वरूप अपनी प्रेमिका की दुर्दशा का उसे कारण बताकर उनकी विसंगति, विषमता और विडम्बना का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है।

'क्रमागत' शीर्षक के द्वारा यह स्पष्ट है कि पाँचवी कहानी का उत्तरार्द्ध या विकास ही छठी कहानी मे विवेचित है। यह कहानी मध्यवर्ग के पात्रों की चारित्रिक या मानसिक स्थिति का उद्घाटन करती है। प्रेम की विफलता या असफलता के कारण जहाँ नारी-वर्ग की शोचनीय तथा दयनीय स्थिति बनती है, वहीं ये युवक भी

स्वय व्यक्तिवादी, असामाजिक और आत्मघाती बनते हैं। माणिक इसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले युवक पात्र का प्रतीक है। इस प्रकार इस कहानी में उसकी बाह्य स्थिति की अपेक्षा आन्तरिक स्थिति का चित्रण किया है, जिसमे समाज-भीरु और झूठी मर्यादाओ से चिपके रहने वाला पात्र स्वय को प्रताडित करता है और इस प्रकार वह सामाजिक जीवन के उत्तरदायित्वो मे अपने को बचाता फिरता है। किन्तु भारती का मत है कि ऐसे पात्रो की "न कोई दिशा है, न पथ, न रहस्य, न प्रयास और न प्रगति क्योकि पतन को, नीचे गिरने को प्रगति तो नही कह सकते।"[1]

सातवी दोपहर मे कोई कहानी नही, सभी कथाओ का केन्द्रीकरण तथा भविष्य के प्रति आस्थामय स्वर मुखरित हुए हैं। बाकी छ घोड़े यदि दुर्बल, रक्तहीन और विकलांग हो भी गये हैं तो भी हमे निराश नही होना चाहिए, क्योकि अभी "सातवाँ घोड़ा तेजस्वी और शौर्यवान् है और हमे अपना ध्यान और अपनी आस्था उस पर रखनी चाहिए।"[2] क्योकि यही सातवाँ घोड़ा "हमारी पलको मे भविष्य के सपने और वर्तमान के नवीन आकलन भेजता है।"[3]

कथानक का आकार उपर्युक्त छ प्रेम-कथाओ से मिलकर बना है। ये सभी प्रेम-कथाएँ प्रासगिक अध्ययन की सुविधा के लिए कही जा सकती हैं और सब परस्पर मिलकर एक नवीन समग्र कथा का निर्माण करती हैं, जिसे आधिकारिक कथा की सज्ञा दी जा सकती है। किन्तु विशेष ध्यातव्य यह है कि इन दोनो कथाओ का विषय एक होते हुए और पात्र भी एक ही होते हुए वे आधिकारिक कथा की गति मे बाधा उपस्थित नही करते, क्योकि ये छह प्रेम कहानियाँ मुख्य कथा मे न आये हुए सूक्ष्म प्रसगो का उद्घाटन करती हैं। इन प्रासगिक कथाओ मे प्रेम की विभिन्न स्थितियो और पात्रों के विभिन्न स्तरो को चित्रित किया गया है।

कथानक मे आरोह-अवरोह तथा सघर्ष की स्थिति तो विद्यमान है, किन्तु वह सूत्रबद्ध-सा नही दीख पडता। अत पाठक के मन मे एक प्रश्नवाचक चिह्न—जिसकी परिणति चमत्कार में होती है—रहता है। भारती की यह विवशता भी है क्योकि थोड़े से कथानक मे उसे सम्पूर्ण युग या मध्यवर्गीय पात्रो की अर्थ तथा काम-सम्बन्धी सभी स्थितियो और दृष्टिकोणो का चित्रण करना आवश्यक था। अत वे स्वय 'निवेदन' मे स्वीकार करते हैं—"बहुत छोटे-से चौखटे मे काफी लम्बा घटनाक्रम और काफी विस्तृत क्षेत्र का चित्रण करने की विवशता के कारण यह ढग अपनाना पडा है।"[1] तथापि सघर्ष से उत्पन्न चमत्कृति और कौतूहल उपन्यास मे सर्वत्र विद्यमान है।

उपन्यास की सभी कहानियाँ परस्पर अनुस्यूत हैं। सभी एक दूसरे की पूरक तथा विकासिका हैं। प्रत्येक कहानी मे घटना का पूर्व-सकेत किया गया है, बाद मे उसका विस्तार किया गया है। लेखक की यह साकेतिकता पाठक को कथानक मे

रमाने में और उसमें कौतूहल बनाये रखने में सफल रही है। आधुनिक जीवन की समस्या को प्राचीन कथा-शैली में समन्वित न कर लेखक ने उसे अत्यधिक मोहक रूप दिया है और साथ ही रोचकता को गम्भीरता से समन्वित किया है। प्रभावोत्पादकता तथा कौतूहल के लिए घटना में चमत्कार-सृष्टि भी की है, जिसे तीसरी और पाँचवी कहानी में देखा जा सकता है। इसी प्रकार औपन्यासिक एकसूत्रता के लिए अप्रत्याशित चमत्कार के दर्शन चौथी कहानी में होते हैं। ये सब चमत्कार ही कथानक में रोचकता और कौतूहल का निर्माण करते हैं।

कथानक का विशिष्ट गुण है—हास्य और रुदन का मिश्रण। ऊपर से भारती का हास्य पाठकों को हँसाता है किन्तु उसका निष्कर्ष उन्हें रुलाता है। प्रथम दो कहानियाँ हास्य और रुदन के संयोग से यथार्थ जीवन की कटुता को 'मधुवेष्टित कटु औषध' के समान रखते हैं जो पाठकों के मन पर एक विशिष्ट प्रभाव छोड़ती हैं। वह प्रभाव अत्यन्त तीक्ष्ण, मर्माहत तथा मन को कचोटने वाला है। शायद भारती को हास्य के माध्यम से समाज की वक्रता, विद्रूपता या विडम्बनात्मक स्थिति का पर्दाफाश करना ही उद्देश्य रहा हो। यथार्थपरकता और प्रभविष्णुता इसके कथानक की अपनी ही विशेषताएँ हैं। इसके लिए उन्होंने विषयानुरूप वातावरण का विधान किया है। मध्यवर्गीय जीवन की उमस के चित्रण के लिए उसी प्रकार के शब्दों का अवलम्ब ग्रहण किया है — जो उसे यथार्थ, कटु तथा प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत करते हैं।

एक सौ छः पन्नों के इस छोटे से उपन्यास में मध्यवर्गीय समाज के विविध पक्षों को भारती ने बखूबी उतारा है। "इन सवा सौ पृष्ठों में भारती ने सवा हज़ार पन्नों की बात कही है—यह उसकी कला का सबसे बड़ा कमाल है।············इतनी छोटी भूमि पर इतना बड़ा चित्र दे सकने का एक-मात्र रहस्य है—उसकी यथार्थ की पकड़, जिस सामाजिक जीवन को उसने लिया है उससे उसका निकटतम सम्बन्ध, परिचय और पैठ; यही कारण है कि वे चित्र इतने स्वाभाविक हैं, इतने सच्चे हैं कि मुहल्ले, गली, पड़ोस सभी जगह मिल जायेंगे — अतः इसी अनुपात में प्रभावशाली भी हैं।"[२]

पात्र : इस उपन्यास में कुल मिलाकर १२ पात्रों की योजना की गई है। ९ पुरुष पात्र और ३ स्त्री पात्र हैं। पुरुष पात्रों में भी माणिक, महेसर और तन्ना ही प्रमुख हैं। वस्तुतः उपन्यास के पात्र उद्देश्य के साधन रूप में प्रयुक्त हुए हैं। सभी पात्र निम्न-मध्य-वर्ग के और विविध प्रकार के हैं, जो प्रातिनिधिक रूप में चित्रित किए गये हैं।

माणिक : माणिक कश्मीरी हैं; मुल्ला उनकी जाति, उपनाम नहीं। लेखक ने उन्हें यहाँ कथाकार के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके जीवन के अनुभवों को

लेखक ने विषयानुरूप शैली में ढाला है। कहानी पर उनका पूर्ण अधिकार है। इसके साथ ही राजनीति और प्रेम उसके जीवन के अभिन्न अंग हैं। मित्र-मण्डली में इन दो विषयों पर घंटों बहस या चर्चा का होना उनकी इन क्षेत्रों की अन्तर्पैठ का संकेत कराती है। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी है। उपन्यास के आदि से अन्त तक सभी कहानियों में वे मौजूद रहते हैं—कभी नायक के रूप में, कभी कथाकार के रूप में और कभी सूत्रधार के रूप में। इसी आधार पर उन्हें उपन्यास का नायक भी कहा जा सकता है। सभी कहानियाँ और पात्र माणिक द्वारा संचालित हैं। उसका चरित्र विकसनशील और गत्यात्मक है। माणिक परिस्थितियों के अनुसार कभी अपने को ढालते हैं तो कभी उससे स्वयं को अछूता भी रखते हैं।

माणिक मध्यमवर्गीय व्यक्ति हैं और वे निरा वैयक्तिक न होकर सामाजिक तथा वर्गगत प्रातिनिधिक पात्र हैं। अतः उनके जीवन में उठी हुई समस्याएँ उनकी वैयक्तिक ही न होकर सामाजिक भी हैं। उनके जीवन का केन्द्र बिन्दु है—प्रेम। क्योंकि प्रेम ही मानव जीवन की संचालिका वृत्ति है। माणिक के जीवन में तीन नारियाँ आती हैं किन्तु वह तीनों से असंपृक्त बन जाते हैं। जमुना से प्रेम कर उसे अंत तक नहीं निभा पाते, लिली से उनका प्रेम रूमानी है और सत्ती से लोकलाज के कारण अपनी आंतरिक प्रेम भावना का प्रदर्शन नहीं कर पाते हैं।

उनका यह रूप आज के युवकों का है जो समाज भीरु, डरपोक, कायर, नैतिक साहस से रहित और अपरिपक्व आदि विशेषताओं से ग्रस्त हैं जो अपने प्रेम की विफलता के कारण आत्मघाती, असामाजिक और उच्छृंखल हो जाते हैं—जो स्वयं को तो नष्ट करते ही हैं, साथ में अपनी प्रेमिकाओं की दुर्दशा का भी कारण बनते हैं।

माणिक जीवन तथा समाज के प्रति आस्थावान् भी हैं। उन्होंने जीवन को बहुत ही समीपता के साथ भोगा है और समाज को भी बहुत ही नजदीकी से देखा है। अपने अनुभवों के आधार पर ही वे किसी निष्कर्ष को रखते हैं। उन्हें पुरानी परम्पराओं, रूढ़ियों तथा वंश-मर्यादा के प्रति घृणा है और इसका मूल कारण वे आर्थिक विषमता को मानते हैं। अब उनमें मार्क्स के प्रति आस्था दिखाई देती है जो कि वस्तुतः भारती की आस्था है। उसे आने वाली पीढ़ी—जो लिली, जमुना और सत्ती के बच्चों की होगी—के प्रति दृढ़ विश्वास है। उसे मानव-जीवन व समाज के प्रति दृढ़ आस्था है। इसलिए जिन्दगी में दुःखों की अधिकता के बावजूद भी वह उन्हें हँसते हुए झेलता है, क्योंकि उसका मत है "जो लोग भावुक होते हैं और सिर्फ रोते हैं वे रो-धोकर रह जाते हैं। और जो हँसना सीख लेते हैं, कभी-कभी वे अपनी जिन्दगी को बदल डालते हैं।"

इस प्रकार माणिक मुल्ला मध्यमवर्ग का प्रतिनिधि पात्र है जो समाज की झूठी मर्यादा, रीति रिवाज, जातिप्रथा तथा आर्थिक विषमता के प्रति क्रुद्ध है और

साथ ही भावी सुखी जीवन के प्रति आशान्वित है। इसके साथ ही वह समाज-भीरु, नैतिक साहसहीन प्रेमी, कथाकार, सूक्ष्म-दृष्टा प्रतिभावान् तथा विश्लेषण की क्षमता आदि गुणों से समन्वित है।

तन्ना : उपन्यास का दूसरा प्रमुख पात्र है—तन्ना। तन्ना भी मध्यम-वर्गीय जीवन की कटुता का शिकार है। यद्यपि वह उपन्यास में केवल दो कहानियों में ही स्पष्ट रूप से चित्रित है फिर भी उसका व्यक्तित्व निश्चित रूप से नायक की अपेक्षा सशक्त दीख पड़ता है। आलोचकों ने उसे सहनायक या प्रकरी नायक के रूप में स्वीकारा है। वह कल्पना की अपेक्षा यथार्थ के धरातल पर जीता है। यह पात्र भी वर्ग-प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किया गया है।

तन्ना सामान्य परिवार का युवक है। जहाँ परिवार में अर्थ का अभाव है, दुःख है, समस्याएँ हैं, रुदन है। किन्तु उसके व्यक्तित्व में ईमानदारी है, सच्चरित्रता है, कर्त्तव्य-दक्षता है और नैतिकता है। जिसके कारण वह अपने सिद्धान्तों या आदर्शों पर स्थिर रहता है। सिद्धान्तों या आदर्शों की यह दृढ़ता और अडिगता ही उसके बाह्य व्यक्तित्व को तोड़ती है। तन्ना को टूटना स्वीकार है, झुकना नहीं। तन्ना सीधा-सादा, विनम्र और सच्चरित्र है। अपने परिवार का वह स्वयं पोषण करता है। घर के सभी व्यक्तियों का उत्तरदायित्व उसके नाजुक कंधों पर पड़ा हुआ है; फिर भी सिद्धान्तों और आदर्शों की प्रतिकूलता उसे असह्य है फिर वह चाहे अपने पिता की ही क्यों न हो। अपने पिता का रखैल रखना, सत्ती के प्रति आकर्षित होना इत्यादि घटनाएँ उसे उचित नहीं लगती। किन्तु साहस के अभाव में वह इन कुरीतियों का विरोध नहीं करता, जिसकी परिणति 'कोल्हू के बैल के समान' हो जाती है।

तन्ना सच्चरित्र पात्र है। उसकी यह सच्चरित्रता प्रेम, राजनीति, जीवन, जीवनमूल्य आदि सभी क्षेत्रों में समान रूप से परिलक्षित होती है। लिली से विवाह-बद्ध होने पर जमुना द्वारा शारीरिक सम्बन्ध की प्रार्थना करने पर उसकी प्रार्थना को ठुकराना तन्ना की सच्चरित्रता का ही सूचक है। इसी प्रकार वह अपने जीवन में आदर्शों के प्रति भी दृढ़ है। तात्कालिक तथा भौतिक सुखों के लिए वह अपने को उन सुखों के अनुकूल नहीं ढालता है। इसके साथ ही उसके चरित्र में पिता के प्रति मर्यादाशीलता, दूसरी स्त्री के साथ शारीरिक सम्बन्ध प्रस्थापित न करने में नैतिक शुचिता, यूनियन से पृथक् रहने में प्रामाणिकता और पुत्र, भाई, गृहस्थ तथा नौकर के रूप में कर्त्तव्यपरायणता के विशिष्ट मानवोचित गुण दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु सामाजिक विकृतियों, कुरीतियों, झूठे विश्वासों के प्रति साहस के अभाव के कारण विद्रोह न करने से उसके जीवन की शोकांतिका होती है। वस्तुतः उसके जीवन की शोकांतिका का प्रमुख कारण है—उसका देवत्व। उसके चरित्र पर प्रेमचन्द की ये पंक्तियाँ खरी उतरती हैं—"इनका देवत्व ही इनकी दुर्दशा का कारण है। काश !

ये आदमी ज्यादा और देवता कम होते ।"

महेसर दलाल महेसर दलाल जैसा कि नाम से ही ध्वनित होता है दलाल है—सोने चाँदी का । तन्ना का वह पिता है । यह भी निम्न-मध्य-वर्ग से ही गृहीत है । इसकी संरचना खलनायक के रूप मे कही जा सकती है ।

महेसर दलाल कर्त्तव्यशून्य और उत्तरदायित्वशून्य व्यक्ति है । वह गृहस्थ है किन्तु घर-गृहस्थी की उसे तनिक भी चिन्ता नही । अपने सम्पूर्ण घर का बोझ अपने आज्ञाकारी पुत्र पर छोडकर निश्चिंत होता है । वह एक क्रूर, कठोर निर्दयी तथा निष्करुण पिता के रूप में चित्रित है । वह पुरानी पीढी का भी प्रतीक है जिसे पुरानी परम्पराओ, झूठी मर्यादाओ तथा जाति प्रथा पर विश्वास है । जमुना को वह अपने से नीचे गोत्र का समझता है इसलिए तन्ना की शादी उससे नही हो पाती । उसके चरित्र का सब से बडा दुर्गुण या कमजोरी उसकी कामातुरता है । शरीर के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर भी उसकी काम पिपासा अभी तक शमित नही हुई । पुत्रो के पालन पोषण के लिए युवा स्त्री को रखना उसकी कामातुरता का ज्वलंत उदाहरण है । उससे कामपूर्ति के बाद सत्ती के प्रति आकर्षित होना उसकी धूर्तता तथा स्वैरता को इंगित करते हैं । तन्ना की शादी मे झूठ-मूठ ही एफ० ए० पास कहकर धनी विधवा की लडकी से शादी करने के पीछे उसकी जायदाद हडपने की उसकी धूर्त भावना छिपी हुई है । इस प्रकार महेसर दलाल झगड़ालू, कर्त्तव्यविमुख, कामातुर, धूर्त, निर्दयी, कठोर, छली आदि कमजोरियो से युक्त पात्रो का प्रतिनिधित्व करता है ।

इनके अतिरिक्त अन्य पुरुष-पात्र कथा को गति देने के लिए तथा उद्देश्य के साधन रूप मे निर्मित तथा चित्रित है ।

प्रस्तुत उपन्यास मे तीन नारियो को स्थान मिला है । वे तीनो ही निम्न मध्य-वर्ग की हैं । किन्तु तीनो ही विभिन्न पहलुओ, स्तरो तथा पक्षो के आधार पर प्रस्तुत की गयी हैं । जमुना, लिली और सत्ती ये तीन नारी-पात्र कथा-माला में गूँथे गए हैं । ये तीनो नारियाँ यद्यपि समाज के विविध पक्षो का उद्घाटन करती हैं तथापि जमुना उनमे प्रमुख है; क्योंकि "आज नब्बे प्रतिशत लडकियाँ जमुना की परिस्थिति मे हैं ।"[१]

जमुना जमुना मध्यमवर्गीया युवती है । पिता बैंक मे साधारण क्लर्क हैं । घर की आर्थिक परिस्थिति सुदृढ नही है । वह अभावो का घर है । इसीलिए जमुना की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध भी उचित रूप मे न हो सका । शिक्षा और मन-बहलाव के नाम पर उसे मिली 'मीठी कहानियाँ', 'सच्ची कहानियाँ', 'रसभरी कहानियाँ' तो बेचारी और कर ही क्या सकती थी ।"[२] इसलिए अपने पडोसी युवक तन्ना से अनजाने प्रेम कर बैठी तो इसमे उस बेचारी का क्या दोष ? किन्तु दहेज के अभाव

के कारण वह तन्ना के साथ विवाहबद्ध न हो सकी । कुछ दिनों बाद धनिक किन्तु वृद्ध पुरुष के साथ उसका विवाह होता है, लेकिन वह वहाँ भी संतुष्ट न रह पायी। अर्थतृप्ति होने पर भी काम-तृप्ति न होने से अनैतिकता की ओर बढ़ी। उसकी चारित्रिक विशेषता और विकास को जानने के लिए उसके जीवन को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—१. विवाह से पूर्व का जीवन, २. वैवाहिक जीवन, ३. वैधव्य जीवन ।

विवाह से पूर्व का जीवन : विवाह से पूर्व के उसके जीवन-चरित्र में प्रेम की घटना प्रमुख है। प्रेम साहचर्य का परिणाम है। जमुना और तन्ना दोनों पड़ोसी थे। तन्ना घर से अत्यंत दुःखी रहता था। अपनी माँ की मृत्यु के बाद उस स्नेह, दया, सहानुभूति को तन्ना ने जमुना में देखा। जमुना की यही सहानुभूति और साहचर्य कालान्तर में अनजाने रूप में प्रेम में परिणत हो गया। दोनों युवा-हृदयों ने एक-दूसरे के आंतरिक संगीत को सुना, किन्तु सामाजिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों के कारण दोनों विवाहबद्ध न हो सके। इस प्रेम की असफलता के कारण निराशा और अनास्था के साथ ही उसके मन में वासनापूर्ति के अनैतिक साधनों के बीज अंकुरित होने लगे। जिसका आगे चलकर क्षणिक माध्यम बना किशोर युवक माणिक। जमुना अपनी वासना की पूर्ति किशोर युवक माणिक से करना चाहती थी, जिसमें उसे सफलता न मिली। माणिक उसकी प्रेम-पिपासा को तो शान्त कर सका किन्तु काम-पिपासा को नहीं। इस प्रकार उसके विवाहपूर्व जीवन में प्रेम की असफलता तथा वासना-प्रस्फुटन दिखाया है, जो आगे चलकर उसकी अनैतिकता का संकेत करता है। तन्ना की शादी के बाद जमुना का उससे प्रणय-याचना करना उसके नैतिक पतन का उदाहरण है। उसका यह प्रथम पक्ष समाज के झूठे विश्वासों, रूढ़ियों, परम्पराओं तथा आर्थिक विषमता से उत्पन्न मध्यमवर्गीय मानव-जीवन की विडम्बना को दर्शाता है। अर्थ मानव-जीवन की वह धुरी है जिस पर समाज का रथ अग्रसर होता है; उसके अभाव में सभी पहिए निरर्थक व बेकार बन जाते हैं।

वैवाहिक जीवन : उसके जीवन का दूसरा पक्ष है, गृहस्थी का। तन्ना से शादी न होने पर उसका विवाह अत्यन्त वृद्ध तथा धनी जमींदार के साथ होता है। जिसकी यह तीसरी शादी है। प्रारम्भिक जीवन के धनाभाव से उत्पन्न जमुना की निराशा यहाँ समाप्त होती-सी दीखती है, किन्तु कुछ ही दिनों बाद काम-तृप्ति की निराशा उसके मन में घर करती है। उसका पति संतानोत्पत्ति में असमर्थ है। जमुना में मातृत्व की भावना जागृत होती है। मातृत्व ही नारी की पूर्णता है। जिसकी उपलब्धि अपने पति से न होने पर वह राम-धन नौकर से करना चाहती है। यहीं से वह अनैतिकता की ओर बढ़ती है। इस काम-पिपासा की पूर्ति के लिए वह धर्म का सहारा लेती है। धर्म के नाम पर वह अपनी काम-पिपासा को अपने नौकर से

उन्मुक्त भाव से दमन करवाती है। इस प्रकार यह घटना भी एक सामाजिक समस्या को स्थापित करती है कि अनमेल विवाह जैसी घटनाओं के शिकार होकर जमुना जैसी मध्यमवर्गीय नारियाँ चारित्रिक हीनता की ओर अग्रसर होती हैं।

इस काल के जीवन मे इसके अतिरिक्त धन का लोभ, प्रदर्शन-वृत्ति, कजूसी, स्वार्थता, गर्व, धर्मान्धता आदि दोष दिखाई देते हैं जो कि अत्यन्त स्वाभाविक हैं। धनहीना नारी की सहसा धनोपलब्धि इन्ही सोपानो की निर्मात्री है। जिसके फलस्वरूप पाठक मे उसके विकृत, गन्दे और घिनौने जीवन के प्रति अरुचि, विरक्ति तथा रोष जागृत न होकर सहानुभूति का भाव उमडता है।

वैधव्य जीवन —वैधव्य उसके जीवन का अन्तिम पक्ष है। नारी जन्मत भावनाशील अधिक होती है। धर्म, भावना का ही आलम्बन है और अशिक्षा उस धर्म के प्रति अन्धविश्वास की जड है। जमुना भी यहाँ धर्म-परायणा स्त्री के रूप मे दिखाई देती है। भारतीय नारी समान उसके मन म धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा तथा विश्वास है। धर्म की इस भावना से ही उसने पहले अपनी काम-वृत्ति को दबाना चाहा, किन्तु उसमे असफल होकर वही धर्म जो उसके लिए साध्य था, अब साधन बन गया—नैतिक पतन का। कर्मकाण्ड और धर्म मे आस्था रखकर उसने सन्तान की कामना की, किन्तु इसमे अपने मनोरथ को पूरा होते न देख मानसिक सस्कारवश अनैतिकता का सहारा लेने लगी। उसके जीवन का यह पक्ष धर्मान्धता तथा रूढि-प्रियता के कारण नारी की दुर्दशा की ओर सकेत करता है।

इस काल के जीवन मे वह पूर्णत धर्मपरायणा स्त्री है। भारतीय नारी के समान कर्मकाण्ड, यज्ञयागादि, तीर्थाटन, धार्मिक अनुष्ठान, ज्योतिष आदि पर विश्वास रखने वाली युवती है। किन्तु अपनी काम पिपासा की अतृप्ति यहाँ आकर उसके स्वैराचार का कारण बनती है। अत यहाँ बाहर से जितनी वह धार्मिक है उतनी ही आन्तरिक दृष्टि से पतित। इस प्रकार उसके जीवन के ये तीन विभाग मध्यम-वर्गीय समाज के नारी की इन तीन अवस्थाओ मे होने वाली दुर्दशा, उसके कारणो तथा परिणामो पर प्रकाश डालते हैं। जमुना का चरित्र यथार्थ और सजीव है। इसलिए उसके चरित्र के विषय मे लेखक का यह कथन पूर्णत सत्य है—'जमुना निम्न-मध्य-वर्ग की एक भयानक समस्या है।'"[११]

लिली —लिली उपन्यास का दूसरा स्त्री-पात्र है जो प्रकरी-नायक तन्ना की पत्नी है, जिसे सहनायिका कहा जा सकता है। उसके चरित्र का विकास पूर्णत्व को प्राप्त नहीं कर पाया है। वह जीवन की समस्तता और समग्रता की अपेक्षा उसके एकागिता का दर्शन कराता है।

लिली जिसका वास्तविक नाम लीला है, धनी और विधवा की इकलौती बेटी है। विवाह से पूर्व वह माणिक से प्रेम करती है। वह चचल, भावुक, चपल,

अल्हड़, शिक्षित किशोर युवती है। विवाह से पूर्व का जीवन उसका प्रेमी-जीवन है, जो मध्यमवर्गीय व्यक्तियों के रूमानी प्रेम को सम्मुख रखता है। वह माणिक से प्रेम करती है। उसमें नैतिक साहस भी है और समाज से विद्रोह की तैयारी भी। किन्तु लेखक ने उसके पूर्वार्द्ध के जीवन में किशोर युवक-युवतियों के रूमानी प्रेम का चित्रण किया है और जिसकी परिणति शोकांत दिखाई है जो निम्न-मध्यवर्गीय प्रेमी-युगलों की शोकांतिका है। उसके जीवन का उत्तरार्द्ध है तन्ना के साथ विवाहित जीवन। दोनों शिक्षित है, किन्तु दोनों का मानसिक स्तर भिन्न-भिन्न है। यह विभिन्नता दोनों के जीवन के बीच दीवार बनकर खड़ी होती है। तन्ना की अपेक्षा लिली सुन्दर, धनी, शिक्षित है अतः उसमे गर्व का होना अनपेक्षित नही है। जीवन-मूल्यों या आदर्शों पर स्थिर रहने वाला तन्ना लिली की वृत्ति से मेल नही बिठा पाता। जिससे उनके जीवन मे एक दरार पड़ जाती है और यह दरार अन्ततः उन्हे पूर्णतः विभक्त ही कर डालती है।

इस प्रकार लिली का पूर्वार्द्ध-जीवन रूमानी प्रेम की निरर्थकता का और उत्तरार्द्ध का जीवन पति-पत्नी के मानसिक स्तरो की विभिन्नता से उत्पन्न शोकांतिका का यथार्थ व प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत करते है। लीला समाज की भावना-प्रधान तथा रोमेण्टिक युवतियों की प्रतिनिधि है, जिसका अन्त जमुना की तरह शोकांत है।

सत्ती :—सत्ती जमुना और लिली—दोनों से पूर्णतः पृथक् है। जमुना अशिक्षित है, असुन्दर है, अनैतिक है। सत्ती अशिक्षित है किन्तु जमुना के समान असुन्दर तथा अनैतिक नही। लिली शिक्षित है, सुन्दर है, भावुक है, किन्तु सत्ती सुन्दर है पर लिली के समान शिक्षित तथा भावुक नही। इस प्रकार तीनों नारियाँ तीन विभिन्न परिस्थितियों, पहलुओं तथा प्रवृत्तियो की उपज है।

सत्ती एक अनाथ, निराश्रित, सुन्दर, अशिक्षित बलूची लड़की है। परिस्थितियों से मजबूर होकर उसे घृणित जीवन बिताना पड़ता है, फिर भी वह अपने शील या स्त्रीत्व को किसी भी शर्त पर बेचने के लिए तैयार नही। स्वयं परिश्रम कर अपनी जीविका का उपार्जन करती है। मित्रता उसका एक विशिष्ट गुण है। माणिक के साथ यह मित्रता ही आगे चलकर प्रेम में परिवर्तित होती है। किन्तु समाज-भीरु माणिक उसकी प्रेम-याचना को नकारता है। माणिक की यह अस्वीकृति उसके जीवन की शोकांतिका का मूल कारण है। इसके साथ ही उसके व्यक्तित्व में प्रतिहिंसा की भावना दिखाई देती है। मानवीय गुणों के साथ पाशविक दुर्बलताओं का समन्वय सत्ती के व्यक्तित्व की निजी विशेषता है। स्नेह, दया, मित्रता, उपकार आदि मानवोचित गुणो के साथ प्रतिहिंसा, क्रूरता, प्रतिशोध आदि पाशविक वृत्तियां उसके व्यक्तित्व मे परिलक्षित होती हैं। वस्तुत. उसके जीवन का पूर्वार्द्ध अत्यन्त

स्वाभाविक तथा प्रभावोत्पादक है, किन्तु अन्त मे उसके द्वारा भीख मँगवाना इत्यादि घटनाएँ उसके व्यक्तित्व के यथार्थ रूप को उजागर नही कर पाती।

इस प्रकार उपन्यास के सभी पात्र निम्न-मध्य-वर्ग के है, जो विभिन्न परिस्थितियो तथा स्तरो से गृहीत हैं। प्रत्येक पात्र जीवन के अलग-अलग पहलू, घटना तथा परिस्थिति से आवेष्टित है। यह आवेष्टन ही उन्हे यथार्थ रूप प्रदान करता है। वस्तुत पात्र या चरित्र चित्रण भारती की कला के माध्यम बनकर ही यहाँ आए हैं। वे उद्देश्य के सहायक बनकर ही अवतरित हुए हैं। फिर भी चरित्र चित्रण मे भारती को पर्याप्त सफलता मिली है। उपेन्द्रनाथ अश्क का मत है कि "जमुना, माणिक मुल्ला और तन्ना के चरित्र जहाँ अपने म पूर्ण हैं, वहाँ सत्ती और लिली के चरित्र अपूर्ण भी हैं। निम्न-मध्यवर्ग के जीवन के स्त्री-पुरुष जब अपनी धुरी से हटते हैं तो एकदम गहरे गन्दे महागर्त मे नही जा गिरते, एक-दो और छोटे-बडे गढ्ढो से होकर वहाँ पहुँचते हैं।"

कथोपकथन—इस लघु उपन्यास मे वर्णन की अपेक्षा कथोपकथन का तत्त्व न्यून मात्रा मे मौजूद है। कहानीमूलक उपन्यास और वह भी लोककथात्मक शैली मे लिखा जाने के कारण इसमे संवादो का बहुत कम प्रयोग किया गया है। किन्तु जितने भी सम्वाद मौजूद हैं वे निस्सन्दिग्ध गुणान्वित हैं। उपन्यास के सम्वाद जहाँ एक तरफ चरित्रो की विशेषताओ को उद्घाटित करते हैं, साथ ही वे उनका मानसिक विश्लेषण भी करते हैं। उपन्यास के संवाद पात्रानुकूल और उनकी मानसिक स्थिति के अनुकूल हैं। ये संक्षिप्त, स्वाभाविक, सरल, उपयुक्त, रोचक तथा औत्सुक्य का निर्माण करते हैं। कही-कही लेखक ने इन सम्वादो के माध्यम से समस्या का विवेचन और विश्लेषण भी किया है, तो कही जीवन-दर्शन तथा मूल्यो की प्रस्थापना भी की है। संवाद यद्यपि दीर्घ तथा लम्बे हैं किन्तु उन्हें छोटे छोटे वाक्यो मे कहलाया गया है। इसके अलावा एक विशेषता और है कि ये संवाद हास्य और व्यंग्य से युक्त हैं जिसके कारण संवादो की दुर्बलताओ का परिहार कर पाठको को कथा मे रस-ग्रहण करने मे वे सहायक बन पडे हैं।

देश, काल और वातावरण:—उपन्यास वर्ग-संघर्ष तथा आर्थिक विषमता के उद्देश्य को लेकर चलता हुआ भी लोककथात्मक शैली मे कथित होने के कारण वातावरण का चित्रण हुआ है किन्तु कम ही मात्रा मे। भारती का पूरा ध्यान विषय और शैली पर ही केन्द्रित है। फिर भी भारती ने सात दोपहरो की चर्चाएँ अलग-अलग वातावरण मे चित्रित की हैं। तीसरी कहानी का वर्णन करते हुए वे वातावरण की उमस का भी चित्रण करते हैं, जो कि सोद्देश्य है। इसी प्रकार चौथी कहानी के समय भी कहानी के अनुकूल ही रूमानी वातावरण की निर्मिति की गई है। उपन्यास के वातावरण के अन्य उदाहरण भी पाठको के मन मे मूल कथ्य के अनुकूल

एक भावभूमि तैयार करने में सहायक बनते हैं जिसके परिणामस्वरूप पाठक कथा के साथ समरस हो जाता है। वातावरण का चित्रण यद्यपि बहुलता के साथ नहीं हुआ है; किन्तु जितना हुआ है वह निरर्थक, अयथार्थ और अकारण नहीं, अपितु कथ्य को यथार्थता प्रदान करता है। वातावरण की यह निर्मिति पाठक को जहाँ मूल कथ्य के साथ समरस कराती है, साथ ही उसकी परिणति का संकेत भी कराती है।

भाषा-शैली :—विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा होती है। भाषा पर लेखक का पूर्ण अधिकार ही किसी कृति की लोक-प्रियता या सफलता का प्रमुख उपकरण होता है। भारती का भाषा पर असाधारण अधिकार है। इस उपन्यास की भाषा सामान्य बोलचाल की भाषा है। उपन्यास की सभी कहानियाँ और पात्र ही जब सामान्य जीवन के हों, तो उसकी यथार्थता भाषा के सामान्य रूप में ही मौजूद हो सकती है। उपोद्घात मे उन्होंने स्वयं इसे स्वीकारा है—

—"इनकी (माणिक) शैली में बोलचाल के लहजे की प्रधानता है और मेरी आदत के मुताबिक उनकी भाषा रूमानी, चित्रात्मक, इन्द्रधनुष और फूलों से सजी हुई नहीं है।"[१२] इस बोलचाल की भाषा में प्रवाह है, ओज, सरसता, यथार्थता, सूक्ष्मता, स्पष्टता, सांकेतिकता, व्यन्यात्मकता आदि गुण हैं। इसलिए उन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, तत्सम, तद्भव और ग्रामीण भाषा के शब्दों का उन्मुक्त प्रयोग किया है। कहीं-कहीं विषय के अनुकूल वे आलंकारिक और प्रतीकात्मक बनाते चले हैं। इनकी भाषा पात्रानुकूल, विषयानुकूल, भावानुकूल, परिवेश के अनुकूल आदि विशिष्टताओं से मण्डित है। वस्तुतः भाषा उनका ध्येय नहीं है, क्योंकि उनका मत है—"टेकनीक ! हाँ, टेकनीक पर ज्यादा जोर वही देता है जो कहीं-न-कहीं अपरिपक्व होता है।"[११] इसलिए अपने विचारों की स्पष्टता के लिए उन्होंने अपनी भाषा में विभिन्न भाषाओं से शब्द लिए हैं, साथ ही उन्हें मुहावरों तथा लोकोक्तियों से जड़ा है। निस्संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास की भाषा सरल, सरस, यथार्थ, सुबोध, सूक्ष्म, प्रतीकात्मक, आलंकारिक, प्रवाहयुक्त, सांकेतिक, हास्य-व्यंग्य मिश्रित तथा प्रभावोत्पादक आदि गुणों से समन्वित है। शब्द-चयन और वाक्यों का गठन भारती का अपना कौशल है।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' विभिन्न शैलियों में लिखा गया लघु उपन्यास है। सभी शैलियाँ परस्पर कहानियों के समान अनुस्यूत हैं जिन्हें पृथक्-पृथक् कर नहीं देखा जा सकता। इसमें वर्णनात्मक, मनोविश्लेषण, प्रतीकात्मक, नाटकीय, रूमानी, चित्रात्मक, आत्मकथात्मक आदि शैलियाँ प्रयुक्त की गई हैं। किन्तु यह उपन्यास मूलतः लोककथात्मक शैली में लिखा गया है, जिसे स्वयं लेखक ने तथा अनेक आलोचकों ने स्वीकारा है। "वस्तुतः लोककथात्मक शैली उस शैली-रूप को कहते हैं

जिसमे मौखिक रूप से प्रचलित अनेक कथाओ को अन्त सम्बद्ध करके प्रस्तुत किया जाता है ।''[१४]

भारतीय कथा-साहित्य पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत मे लिखे गये पंचतन्त्र, कथासरित्सागर, हितोपदेश जातककथाएँ आदि लोककथात्मक शैली मे लिखे गये ग्रन्थ हैं । इनम श्रोता और वक्ता के माध्यम से अनेक कहानियो मे छोटे-छोटे निष्कर्ष निकालकर उन्हे एक बिन्दु पर केन्द्रित किया जाता है, जहाँ वे एक नवीन अर्थ प्रदान करते हैं । भारती ने इस उपन्यास मे इसी लोककथात्मक कहानी को अपनाया है ।

लोककथात्मक शैली में अनेक कहानियाँ मिलकर एक कहानी को रूप देती हैं, किन्तु उन सब की मूल प्राणधारा एक ही रहती है । यहाँ भारती ने छह प्रेम-कहानियो को लिया है और प्रत्येक कहानी जहाँ पूर्णत स्वतन्त्र है—क्योंकि प्रत्येक कहानी का अपना पृथक शीर्षक है वहाँ साथ में ये छह कहानियाँ मिलकर एक युग का चित्र प्रस्तुत करती हैं । वस्तुत ये सभी कहानियाँ पृथक्-पृथक् नही अपितु इन कहानियो के माध्यम से लेखक ने जीवन के विविध पक्षा के सत्य को उद्घाटित किया है । लोककथात्मक शैली का दूसरा तत्त्व है आपस की बातचीत के द्वारा तथा वक्ता और श्रोता के माध्यम से कथा का पूर्णता की ओर अग्रसर होना । यहाँ माणिक वक्ता है और शेष जो लेखक के मित्र हैं, सभी श्रोता हैं । श्रोता कभी तो अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं और कभी जिज्ञासा प्रदर्शित करते हैं—यथा—जमुना के विवाह के विषय में । माणिक कथा चक्र का मुलाता है । लेखक, ओंकार, शरद आदि पात्र सुनते हैं तथा अनध्याय म अपनी-अपनी प्रतिक्रियाओं द्वारा कहानी के छिपे अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसे गति भी प्रदान करते हैं । लोककथात्मक शैली का तीसरा तत्त्व है—हास्य और रुदन का मिश्रण । प्रस्तुत उपन्यास मे इन तत्त्वो का समन्वय है । समस्या की गहनता, गंभीरता और दु ख को इस शैली मे प्रस्तुत किया जाता है कि श्रोता रुदन की अपेक्षा हास्य को अधिक मात्रा मे अपनाता है । प्रस्तुत उपन्यास मे समस्या का सूक्ष्म रूप जहाँ पाठक को रुलाता है वहाँ उसका स्थूल रूप उसे हँसाता है । उदाहरण के लिए पहली कहानी के निष्कर्ष को लिया जा सकता है । इस शैली का चौथा तत्त्व है विचित्रता तथा चमत्कारिता का । अनपेक्षित और अप्रत्याशित घटनाओं को लेखक ने इस क्रम से सजोया है कि जिन से पाठक एकदम आश्चर्यचकित हो जाता है । वस्तुत चमत्कार का तत्त्व लोककथा मे जिज्ञासा और उत्सुकता के लिए प्रयुक्त होता है । सत्ती की मृत्यु के बाद पुन उसका जीवित होना, सामने रखी किसी भी वस्तु पर—काले बेंट का चाकू इ०—कहानी बनाना आदि घटनाएँ चमत्कार की सृष्टि के लिए निर्मित हैं । लोककथात्मक शैली मे सूत्रबद्धता का अभाव-सा रहता है । सूत्रबद्धता से यहाँ तात्पर्य स्थूल रूप से घटनाएँ विच्छिन्न और

असम्बद्ध प्रतीत होती हैं परन्तु वे सूक्ष्म रूप से परस्पर सम्बन्धित होती हैं। यहाँ भी इसी प्रकार का काल-विपर्यय और घटना-विपर्यय दिखाई देता है। पहली कहानी में वर्णित तन्ना और जमुना के प्रेम की कहानी की परिणति तीसरी में है। इसी प्रकार दूसरी कहानी चौथी कहानी के बाद की है; यहाँ तक कि तीसरी और पाँचवीं की अनेक घटनाएँ उससे पहले घटित हुई हैं। किन्तु यह पूर्वापररहित क्रम—समग्र कथा को पढ़ने के बाद—किसी प्रकार का सन्देह या भ्रम उत्पन्न नहीं करता।

इसके अतिरिक्त डॉ० सत्यपाल चुघ ने लोककथात्मक पद्धति की कुछ विशेषताओं का इसमें उल्लेख किया जो कि ध्यातव्य है। (१) माणिक के घर में, गर्मी के मौसम में चार-पाँच मित्रों की महफिल का जमना। (२) कहानियाँ बिल्कुल खुलेपन—अनौपचारिक वातावरण—में सुनाई जाती हैं। (३) कथाकार और श्रोता में प्रश्नोत्तर की विद्यमानता। (४) निष्कर्षवादिता का होना। (५) कहानी के अन्त का अभिधात्मक होना। (६) कहानियों के शीर्षकों की व्याख्या से लोककला के सन्देह का होना। (७) कहानी का लोक-भाषा में होना। (८) एक कहानी में दूसरी कहानी का निकलना। इन सब विशेषताओं ने 'सूरज का सातवां घोड़ा' के शिल्प को ऐसा सजाया और सँवारा है कि इसकी शैल्पिक नवीनता पाठक को आकृष्ट करने तथा रमाने में पूर्ण सफल रही है।

वस्तुतः भारती को पौराणिक प्रतीकों से बहुत स्नेह है—जो कि उनकी कविताओं में ज्यादा उभरकर सामने आये हैं। इसलिए पुरानी धर्म-कथा शैली को नये यथार्थ से जोड़कर उसे नवीन रूप दिया है। लोक-जीवन के यथार्थ तथा अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए सूरज के घोड़ों के पौराणिक प्रतीकों तथा धर्म-कथा-वाचन की शैली को अपनाया है, क्योंकि यह लोक-जीवन की सुपरिचित और प्रवाहमयी शैली है। इसके शिल्प के विषय में 'अज्ञेय' ने भूमिका में कहा है—"सबसे पहली बात है उसका गठन। बहुत सीधी, बहुत सादी, पुराने ढंग की—बहुत पुराने जैसा आप बचपन से जानते हैं—अल्फ लैला वाला ढंग, पंचतन्त्र वाला ढंग, जिसमें रोज किस्सागोई की मजलिस जुटती है फिर कहानी में से कहानी निकलती है।......और वह केवल प्रयोग-कौतुक के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि वह जो कहना चाहते हैं उनके लिए यह उपयुक्त ढंग है।"[१५]

भारती का प्रमुख उद्देश्य रहा है—अर्थ और काम की धुरी के इर्द-गिर्द घूमने वाले निम्न-मध्यवर्गीय जीवन का विडम्बनात्मक चित्रण। अतः सभी पात्र, कहानियाँ और शिल्पगत विशेषताएँ उद्देश्य के सहायक रूप में ही चित्रित हुई हैं। छह कहानियों के माध्यम से भारती ने निम्न-मध्य-वर्ग के सामाजिक जीवन के विविध पक्षों को उद्‌घाटित किया है। बशर्ते "वह चित्र सुन्दर प्रीतिकर या सुखद नहीं है क्योंकि उस समाज का जीवन वैसा नहीं है और भारती ने चित्र को यथासम्भव सच्चा उता-

रना चाहा है ।"[१३] ऊपरी तौर पर ये सभी प्रेम कथा सी लगती हैं किन्तु वह उसका मूल स्वर नहीं है। माणिक के शब्दों में—"ये कहानियाँ वास्तव में प्रेम नहीं वरन् उस जिन्दगी का चित्रण करती हैं जिसे आज का निम्न-मध्य वर्ग जी रहा है। उसमें प्रेम से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विशृंखलता, इसीलिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता और अंधेरा मध्यवर्ग पर छा गया है।"[१४] किन्तु भारती केवल मौत, अंधेरे, कीचड़ और गन्दगी का यथातथ्य चित्रण कर मौन नहीं हो जाते हैं। क्योंकि भारती का मूल स्वर ही आस्थात्मक रहा है—जिसे उनकी अन्य काव्यात्मक कृतियों में भी देखा जा सकता है। वे आस्था के उन्नायक हैं, उन्हें सुखी और समृद्ध भविष्य के प्रति दृढ़ आस्था है। उनकी यह आस्था ही माणिक में ध्वनित होती है—"पर कोई-न-कोई ऐसी चीज है जिसने हमें हमेशा चीरकर आगे बढ़ने, समाज व्यवस्था को बदलने और मानवता के सहज मूल्यों को पुनः स्थापित करने की ताकत और प्रेरणा दी है। चाहे उसे आत्मा कह लो, चाहे कुछ और। और विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा उस प्रकाशवादी आत्मा को उसी तरह आगे ले चलते हैं जैसे सात घोड़े सूर्य को आगे बढ़ा ले चलते हैं।"[१८] यद्यपि इन सात घोड़ों में से छह विकलांग हो गये हैं किन्तु "सातवाँ घोड़ा तेजस्वी और शौर्यवान् है और हमें अपना ध्यान और अपनी आस्था उसी पर रखनी चाहिए।"[१९]

इस उपन्यास के शीर्षक की कल्पना, सम्भव है शुरुआत में छपी हुई एँजेलो सिनेसियाजो की कविता से सूझी हो। क्योंकि कविता का मुख्य स्वर भी कीचड़ से उबरने का ही है, और इस उपन्यास का भी। इसका शीर्षक प्रतीकात्मक, आकर्षक, कौतूहलमय, लोककथात्मक, पौराणिक और जीवन दर्शन को स्पष्ट करने वाला है और सात दोपहरों की कथा होने के कारण भी यह शीर्षक दिया गया हो जिसे लेखक ने स्वयं स्वीकारा है—"माणिक कथा-चक्र में दिनों की संख्या सात रखने का कारण भी शायद बहुत कुछ सूरज के सात घोड़ों पर आधारित था।"[२०] इस उपन्यास की निजी दूसरी विशेषता है 'अनध्याय'। अनध्याय की सृष्टि लेखक ने सोद्देश्य की है। कहानियों के माध्यम से भारती जहाँ पाठकों का मनोरंजन करते हैं या कथा का अभिधात्मक स्तर प्रस्तुत करते हैं, वहीं अनध्याय के माध्यम से (भारती के) अभीष्ट और सांकेतिक तथा मूल स्वर को अभिव्यक्त करते हैं। "कहानियों से लेखक पाठकों का मनोरंजन करता है और अनध्याय से शिक्षण।"[२१] इसके अतिरिक्त ये अनध्याय दो कहानियों के बीच के समय की दूरी को पाटते हैं या कम करते हैं। अतः पाठक ऊबता नहीं है। साथ ही साथ ये अनध्याय विवेचित कथा की पर्तों को उखाड़ते चलते हैं, उसकी आलोचना प्रत्यालोचना करते हैं, वहीं विवेच्य कहानी के लिए मानसिक पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं।

'उपोद्‌घात' की रचना सार्थक तथा साभिप्राय की गई है। पहली बात तो यह है कि लोककथात्मक शैली के कारण और प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थों की परम्परा के अनुकूल पुस्तक के प्रारम्भ से पूर्व 'लेखकीय निवेदन' आवश्यक होता था। इस प्रकार लोककथात्मक शैली में यथार्थता लाने के लिए उपोद्‌घात की रचना की गई है। दूसरी बात यह है कि इस 'उपोद्‌घात' में उन्होंने अपनी सफाई तथा मंतव्य पेश किये हैं। कहानी-कला, मध्यमवर्ग के विषय, टेकनीक, भाषा तथा स्वयं के प्रस्तुत-कर्त्ता इत्यादि की सूचना इसी उपोद्‌घात में की गई है। तीसरी बात है कि बिखरी हुई-सी लगने वाली कहानियों को सुसम्बद्ध करने के लिए उपोद्‌घात की अवधारणा की गई है। यह उपन्यास का ही एक अंश है जिसमें उपन्यास से पूर्व कथा के संकेत दिए गए है जो पाठकों के मन में कौतूहल का निर्माण करते हैं।

इस कथा की परिधि केवल निम्न-मध्यवर्ग की अर्थ और काम सम्बन्धी व्याख्या को ही अपने तक सीमित नही रखती। अपितु उसके अतिरिक्त इसकी प्रतीकात्मकता भी उल्लेखनीय है। आकाश-कल्पना का, होंठ-प्रेमी का, धरती–कठोरता का, काला चाकू–अत्याचार का, चील–कामातुर वृद्ध का, बीरबहूटी–युवा-युवती का, कटा हुआ हाथ–दोषपूर्ण अर्थव्यवस्था का, भीख मांगने वाली गाड़ी–निम्न-मध्यवर्गीय जीवन का प्रतीक है।

डॉ० सत्यपाल चुघ ने 'आलोचना-तत्त्व' को इसकी अपनी ही विशेषता कहा है। "यह स्वयं अपनी व्याख्यात्मक आलोचना भी है—उपन्यास के विकास के साथ-साथ शीर्षक से लेकर शैली-शिल्प तथा उद्देश्य तक का स्पष्टीकरण इसमें हुआ है। इस व्याख्या मे लेखक के दो प्रयोजन दिखाई देते हैं—अपने नूतन प्रयोग शिल्प को स्पष्ट करना तथा निष्कर्षो को सही रूप में उभारकर पाठकों के सामने रखना।"[११] दूसरी बात यह है कि यदि आलोचना भारती स्वयं करते तो अनधिकार चेष्टा और अनुचित हस्तक्षेप के कारण उपन्यास में अस्वाभाविकता आ जाती।[11] जिसे बड़ी खूबी के साथ भारती ने बचाया है।

शैल्पिक नूतनता तथा कथ्य की सरसता एवं यथार्थता भी इस उपन्यास के 'अंत' के आक्षेप को बचा नहीं पायी। उपन्यास का अन्त आरोपित या ऊपर से लादा हुआ लगता है। छह कहानियों—छह घोड़ों तक कथा का विकास स्वाभाविक, स्वतन्त्र, यथार्थपरक लगता है, किन्तु सातवाँ घोड़ा जो कि आस्थावान्, तेजस्वी और शौर्यवान् है। परन्तु यह स्वर उसकी कथा या पात्रों के माध्यम से ध्वनित नही हो पाता। यहीं आकर उपन्यास असफल-सा प्रतीत होता है। राजेन्द्र यादव के अनुसार—"लेकिन उपन्यास की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि सातवें घोड़े की कल्पना पूरी कहानी से उभरकर नही आती। यह अचानक ऊपर से जोड़ी गई-सी लगती है। जिस समाज की, जिन लोगों की कहानी लेखक ने कही है उसमें कोई ऐसा संकेत–

इशारा नहीं है जो इस सातवें घोड़े—अर्थात् जमुना, सत्ती और लिली के बच्चों के उज्ज्वल भविष्य का आभास होता हो।"[११] वस्तुतः यह आस्था और आशावादी दृष्टिकोण कहानियों की परिणति नहीं है अपितु भारती की आस्था है—माणिक मुल्ला के माध्यम से। अतः उपन्यास का अन्त स्वाभाविक और यथार्थपरक नहीं लगता।

विधा की समस्या शैल्पिक विचित्रता तथा नवीनता के कारण पाठक के मन में सन्देह उठता है कि इसे उपन्यास कहा जाये या कहानियों अथवा कथाओं का संकलन ? प्रस्तुत कृति बाहरी रूप से देखने पर कथाओं का संकलन मात्र प्रतीत होती है किन्तु उपन्यास और कहानी के तात्विक और मूलभूत अन्तर से यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत कृति में उपन्यास के समान ही एक प्राण-धारा बह रही है। सम्पूर्ण कृति में यदि विभिन्न कथाएँ रखी भी गई हैं तो भी उन सभी कथाओं का मूल कथ्य एक ही है। दूसरी बात, ये सभी कथाएँ प्रासंगिक हैं, जो मूल कथा को बल प्रदान करती हैं। इन कहानियों में जीवन के एक पक्ष या एक क्षण का चित्रण नहीं, अपितु एक पीढ़ी और युग को चित्रित किया गया है। प्रेम के माध्यम से निम्न-मध्य-वर्ग की सामाजिक, मानसिक, आर्थिक, वर्ग-संघर्ष की समस्याओं को चित्रित करना लेखक का उद्देश्य रहा है। इसका कथा-पट विस्तृत है और यह कथा-पट की विस्तीर्णता और समस्याओं की बहुलता इस उपन्यास का आधार बनी है। कथानक का गुम्फन छह कहानियों में किया गया है। ये छह कहानियाँ सूक्ष्म तंतुओं से इस प्रकार संयुक्त की गई हैं जो प्रत्येक कहानी को अलग अस्तित्व देती हैं और साथ ही उसे उपन्यास का आकार भी। इस प्रकार कथानक की दृष्टि से और साथ ही उन सभी कहानियों में उठाए गए विषय की एकता के कारण यह कृति उपन्यास ही कही जा सकती है।

भारती ने प्रारम्भ में ही इस कृति को उपन्यास कहा है—पहले पृष्ठ से ही। हाँ, इसके लिए उन्होंने विशेषण दिया है 'लघु'। साथ ही अज्ञेय की भूमिका के बाद निष्कर्षवादी कथाओं के रूप में कहा गया लघु उपन्यास यह कथन और इसी बात को उन्होंने 'उपोद्‌घात' में दुहराया है। अर्थात् उनका स्वयं का मत है कि शिल्प की नवीनता—जिसे लोककथात्मक शैली कहा जा सकता है—के कारण यह कृति कथा होने का सन्देह उत्पन्न करती है, वस्तुतः यह विधा उपन्यास है। अपने इस मन्तव्य को सातवीं दोपहर में लेखक द्वारा और कहानी सुनाने के लिए कहने के बाद माणिक का यह कथन—"एक अविच्छिन्न क्रम में इतनी प्रेम-कहानियाँ बहुत काफी हैं। सच तो यह कि उन्होंने इतने लोगों के जीवन को लेकर एक पूरा उपन्यास ही सुना डाला है, सिर्फ उसका रूप कहानियों का रखा ताकि हर दोपहर का हम लोगों की दिलचस्पी बदस्तूर बनी रहे और हम लोग ऊबें न ! वरना सच पूछो तो यह उपन्यास ही था।"[१२] इस विधा के सम्बन्ध में उठने वाली सभी शंकाओं का समाधान करने में पूर्ण समर्थ हैं। इस प्रकार भारती की दृष्टि से भी यह विधा कहानी-क्रम में बदने

के बाद भी उपन्यास ही है, न कि कथा-वीथी ।

विभिन्न आलोचकों ने भी इसे उपन्यास की ही संज्ञा दी है जिनमें अज्ञेय, अश्क, आचार्य विनयमोहन शर्मा, डा० सत्यपाल चुघ आदि प्रमुख हैं । अज्ञेय ने भूमिका में स्पष्ट कहा है—"सूरज का सातवाँ घोड़ा एक कहानी में अनेक कहानियाँ नहीं, अनेक कहानियों में एक कहानी है । वह एक पूरे समाज का चित्र और आलोचन है जैसे उस समाज की अनन्त शक्तियाँ परस्पर सम्बद्ध, परस्पर आश्रित और परस्पर सम्भूत हैं, वैसे ही उसकी कहानियाँ भी ।"[२६] अर्थात् बाहरी रूप से अलग-अलग दिखाई देने वाली ये छह प्रेम-कहानियाँ विषय की एकता से सम्पृक्त हैं । डा० चुघ इसे कहानी-मूलक उपन्यास स्वीकार करते हैं—"सूरज का सातवाँ घोड़ा एक ऐसी कहानीमूलक औपन्यासिक रचना है जिसका मूल कथानक एक है और अनेक कहानियाँ उसकी प्रासंगिक कथाएँ जो कालविपर्यय तथा अपने आप में पूर्णता का आभास देने के कारण अलग-अलग कहानियाँ प्रतीत होती हैं अन्यथा सभी एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं ।"[२७]

कृति का अलग-अलग परिच्छेदों में विभक्त होना भी पाठक के मन में शंका का कारण है । किन्तु सातवाँ परिच्छेद स्वयं ही इस शंका का समाधान कर देता है । इससे पूर्व छह दोपहरों में कही गई छह कथाएँ यहाँ आकर एक बिन्दु पर स्थिर हो जाती हैं जहाँ वे नवीन अर्थ, नवीन व्याख्या, नवीन चित्र, नवीन समाज को प्रस्तुत करती हैं । यह कृति यदि कथाओं का संकलन होती, तो सभी कहानियों का एक बिन्दु पर स्थिर होना असंभव बात है । दूसरी बात यह कि अन्तिम परिच्छेद ही निष्कर्षवादी प्रेम-कहानियों की प्रतीकात्मक व्याख्या करता है जो स्वयं भारती का मूल उद्देश्य है । तीसरी बात यह है कि एक ही कथाकार के एक संकलन में विषय तथा शैली की स्तर-भिन्नता लक्षित होती है । किन्तु इस कृति में विषय की एकता—निम्न-मध्यवर्ग की समस्या—और शैली की एकता—(लोककथात्मकता) ने इस कृति को उपन्यास के कटघरे में खड़ा किया है ।

टिप्पणियाँ

सूरज का सातवाँ घोड़ा : धर्मवीर भारती : छठा संस्करण (१९७०)

१. सूरज का सातवाँ घोड़ा : पृ० ५१-५२
२. वही, पृ० ५९,६०
३, ४, ५ वही, पृ० १०४
६. वही, निवेदन
७. वही, पृ० ३७
९. १० वही, पृ० ३४
११. वही, पृ० ४६

१२ वही, पृ० २२
१३, १४ वही, पृ० ८०
१५, १६, २६ वही, भूमिका
१७, १८, १९ वही, पृ० १०५
२० वही, पृ० १०४
२५ वही, पृ० १०३
७ हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ कथात्मक प्रयोग राजेन्द्र यादव का लेख
२१, २७ प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि डा० सत्यपाल चुघ, पृ० ७५०
२२, २३ वही, पृ० ८४७
२४ हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ कथात्मक प्रयोग पृ० २३०



लौटे हुए मुसाफिर : नफरत की आग में झुलसता आम आदमी

सूर्यनारायण रणसुभे

"... सिर्फ नफरत की आग ने इस बस्ती को जलाया था।"

—कमलेश्वर

"पता नहीं, यह आग कहाँ छिपी थी? ... नफरत की इस आग की चिन-गारियाँ बाहर से आई थीं—दूसरे शहरों, कस्बों और सूबों से।"

—कमलेश्वर

"गरीबी, अपमान, भूख और बेबसी में भी वे हारे नहीं थे, पर नफरत की आग और शंकापूर्ण भय का धुआँ वे बर्दाश्त नहीं कर पाये।"

—कमलेश्वर

"नफरत, शक और डर! इन्हीं तीन डोंगियों पर हम नदी पार कर रहे हैं। यही तीन शब्द बोये और काटे जा रहे हैं।"

—डा० राही मासूम 'रज़ा'

"कमलेश्वर विभाजन को राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक समस्या न मानते हुए उसे मानव-मन की समस्या मानते हैं।"

८

लौटे हुए मुसाफिर

भारत-पाक विभाजन की समस्या को लेकर भारत की सभी भाषाओं में साहित्य-सृजन हुआ है। विभाजन की घटना ही ऐसी थी कि किसी भी सम्वेदनशील व्यक्ति का मन दहल जाता। धर्म के नाम पर इस समय जो भी अत्याचार हुए उससे यह साबित हुआ कि मनुष्य जब अपनी मनुष्यता छोड़ देता है तो वह पशु से भी क्रूर हो जाता है। सन् १९४६ से १९५० तक यही एक प्रमुख समस्या इस देश के सम्मुख रही। इस समस्या को लेकर हिन्दी, पंजाबी, बंगाली तथा उर्दू में श्रेष्ठ स्तर की रचनाएँ लिखी गई हैं। वास्तव में विभाजन की सही एवं प्रामाणिक अनुभूति इन्हीं चार भाषाओं के साहित्यकारों के पास थी और अब भी है। इन भाषाओं के साहित्यकारों ने विभाजन के इस दर्द को भोगा है, अपनी आँखों से मनुष्य का पशुवत् व्यवहार देखा है। यशपाल, रामानन्द सागर, राजेन्द्रसिंह बेदी, सआदत हसन मंटो, कृष्णचन्दर, ख्वाजा अहमद अब्बास, अमृता प्रीतम, भीष्म सहानी, कामलेश्वर, राही मासूम रजा, गुरुदत्त—इस विषय पर लिखने वाले हिन्दी-उर्दू और पंजाबी के प्रतिनिधि लेखक हैं। अब प्रश्न यह है कि इस विषय को स्वीकार करने के बाद उपर्युक्त लेखक किस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं। क्योंकि 'विभाजन' तो एक शुद्ध राजनीतिक घटना है। इन राजनीतिक घटना के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणाम इस देश के दोनों धर्मों के लोगों पर हुए हैं। ये लेखक उन परिणामों को शब्दबद्ध करते हैं अथवा विभाजन के कारणों की खोज करते हैं? विभाजन की इस घटना से अनेक प्रकार के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रश्न निर्माण होते हैं। इन विविध प्रश्नों में से किसी एक को 'प्रमुख' मानकर ये लेखक चलते हैं अथवा शुद्ध मानववादी भूमिका से? विभाजन के समय मनुष्य का जो क्रूरतम तथा पशुवत् रूप बन जाता है, उसके लिए जिम्मेदार कौन है—धर्म? राजनीति? अथवा मनुष्य-स्वभाव? विभाजन की इस 'आग' के मूल में कौन सी चिनगारियाँ छिपी बैठी हैं? विभाजन के बाद मनुष्य की स्थिति कैसी हो जाती है? क्या वह पश्चात्तप अनुभव करता है? क्या 'विभाजन' इस देश में कार्यरत

साम्प्रदायिक तथा आधुनिक विचारधारा के भीतरी संघर्षों का परिणाम है ? विभाजन के पूर्व नफरत की जो आग सभी के दिलों में भड़कती है वह बाद में बुझ जाती है अथवा नहीं ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न विभाजन को लेकर उठाए जा सकते हैं। इन विविध प्रश्नों की चर्चा विविध सन्दर्भों में की जा सकती है। इस 'घटना' को मुख्यतः चार दृष्टिकोणों से देखा गया है —

१ इस वर्ग के उपन्यासकार 'विभाजन' को मुख्यतः राजनीति और धर्म की समस्या मानते हैं। राजनीतिक अदूरदर्शिता तथा सत्ता के प्रति व्यक्तिगत आकर्षण के कारण विभाजन हुआ है—ऐसा यह वर्ग मानता है। उपन्यासों तथा कहानियों में तत्कालीन राजनीति का ही वह अधिक विश्लेषण करता है। 'कॉंग्रेस' पक्ष तथा कॉंग्रेस के उस समय के नेता इन लेखकों की आलोचना के मुख्य लक्ष्य हैं। इस वर्ग की सहानुभूति हिन्दुओं की ओर अधिक है। यह वर्ग साम्प्रदायिक दृष्टिकोण भी स्वीकारता है। श्री गुरुदत्त ऐसे साहित्यकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

२ दूसरा वर्ग उन कथाकारों का है जो विभाजन की घटना को रोमांटिक बनाकर पेश करते हैं। पाठकों का दिल बहलाना वे अपना मुख्य उद्देश्य मानते हैं। इसी कारण 'सस्ती भावुकता' से इनका साहित्य भरा पड़ा है। क्रूरता, अत्याचार आदि के वर्णन पढ़कर उस सम्पूर्ण परिस्थिति के प्रति नफरत पैदा होने के बजाय एक विचित्र-सा आकर्षण पाठकों के मन में पैदा हो जाता है। इनके चरित्र इस धरती के नहीं होते। ऐसे साहित्यकारों के लिए विभाजन मनुष्यमात्र की समस्या नहीं, मनोरंजन का सस्ता और साधारण माध्यम मात्र है।

३ तीसरा वर्ग ऐसे साहित्यकारों का है जो विभाजन को भोग चुका है। उस प्रदेश की—विभाजन के पूर्व की, विभाजन के समय की तथा विभाजन के बाद की—स्थितियों से परिचित ही नहीं, उसमें बंधा हुआ भी है। इसी कारण तटस्थता के साथ सम्पूर्ण स्थिति का चित्रण करने का प्रयत्न इन्होंने किया है। परन्तु इस तटस्थता में इनके मार्क्सवादी विचार बाधा बन जाते हैं, क्योंकि इस वर्ग के उपन्यासकार एक विशेष विचारधारा से प्रतिबद्ध हैं। और इसी कारण वे 'विषय के साथ न्याय नहीं कर पाते। अलबत्ता विभाजन के समय जो अत्याचार हुए, जो पशुवत् व्यवहार दोनों ओर से हुआ, उसका बड़ा ही तटस्थ चित्रण ये करते हैं। हिन्दुओं की आर्थिक सम्पन्नता तथा मुस्लिमों की दरिद्रता ही विभाजन के लिए कारणीभूत रही है, ऐसा वे मानते हैं। ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व यशपाल करते हैं।

४ अन्त में चौथे वर्ग के वे उपन्यासकार हैं जो विभाजन को मानवमन की समस्या मानते हैं। इनका ध्यान 'जन सामान्यों' पर अधिक है। विभाजन के समय की क्रूर घटनाओं की अपेक्षा वे इस बात की खोज करना चाहते हैं कि नफरत की आग की चिनगारी आखिर शुरू कहाँ से हुई है। विश्व के प्रत्येक इतिहास में इस प्रकार के

विभाजन कभी धर्म को, कभी जाति को, कभी आर्थिक असमानता को और कभी राजनीति को लेकर हुए हैं और होते रहेंगे। यह प्रक्रिया तब तक चलेगी जब तक मनुष्य के मन में प्रतिगामिता और आधुनिकता को लेकर संघर्ष चलता रहेगा। विभाजन मनुष्य के उस क्रूर मन की समस्या है जो अनुकूल वातावरण पाकर उभर उठता है। क्रूरता, यह किसी समुदाय अथवा धर्म विशेष की प्रवृत्ति नहीं है; वह तो मानवमात्र की समस्या है। इस प्रकार विभाजन को 'मानवी मन' की समस्या मानकर नफरत की यह आग उसके मन में कब और कैसे उभर उठती है, इसका विवेचन इन उपन्यासकारों ने किया है। आकार की दृष्टि से ये उपन्यास बहुत ही छोटे हैं। परन्तु इनमें गहराई है, प्रामाणिकता है तथा मनुष्य-मन की अनवरत खोज। इस प्रकार के लेखकों में राही मासूम रजा, कमलेश्वर, मोहन राकेश, अज्ञेय तथा सआदत हसन मंटो आदि आते हैं।

कमलेश्वर के इस उपन्यास का विवेचन करते समय उपर्युक्त वर्गीकरण को ध्यान में रखना जरूरी है। क्योंकि 'विषय की समानता' के बावजूद कमलेश्वर, गुरुदत्त, कृश्नचन्दर अथवा यशपाल से एकदम भिन्न हैं। यहीं पर उनकी इस सूक्ष्म तथा यथार्थवादी दृष्टि का प्रमाण मिल जाता है, जहाँ पर वे सतह के मूल में कार्य-रत मनुष्य-मन की क्रिया-प्रतिक्रियाओं को देखना चाहते हैं। विभाजन की इस समस्या को एक छोटे से कस्बे तक सीमित रखकर विभाजन की यह चिनगारी धीरे-धीरे कैसे फैलने लगी तथा अन्त में इसने 'आग' का रूप कैसे धारण कर लिया, विभाजन के समय साम्प्रदायिक तथा आधुनिक शक्तियाँ कैसे उभरकर आईं, उनमें संघर्ष कैसे उत्पन्न हुआ और अन्त में ये साम्प्रदायिक शक्तियाँ कैसे विजयी हुईं, इसका विवेचन कमलेश्वर इस उपन्यास में करते हैं।

कथावस्तु : एक छोटी-सी बस्ती के लोगों में विभाजन के पूर्व, विभाजन के समय तथा विभाजन के बाद जो सूक्ष्म परिवर्तन होते गए हैं, उसका सूक्ष्म चित्रण इस लघु उपन्यास में किया गया है। उपन्यास का पहला ही वाक्य है—"......सिर्फ नफरत की आग ने इस बस्ती को जलाया था।" स्पष्ट है कि कमलेश्वर स्वतन्त्रता के कई वर्षों बाद की बस्ती के चित्रण से उपन्यास का आरम्भ करते हैं। आज नसी-बन इस उजड़ी हुई बस्ती को देखती है तो मन-ही-मन रोती है। "आज भी लगभग वैसा ही है, जैसा आजादी से पहले था। सिर्फ इस बस्ती को उदासी ने जकड़ लिया है। ठहरी शामें होती हैं और रुका हुआ वक्त है।"[1] स्वतन्त्रता के बाद की इस खामोश बस्ती का वर्णन करते-करते लेखक हमें भूतकाल में ले जाता है। "तब बहुत खूबसूरत थी यह बस्ती।"[2] "जब हिन्दुओं की बस्ती से ताजिए गुजरते थे, तो उन पर लोग गुलाब जल छिड़कते थे और हिन्दू औरतें अपने बच्चों को गोदी में उठाए ताजियों के नीचे से गुजरती थीं और दौड़-दौड़कर फेंके हुए मखाने बीनकर श्रद्धा से

औरत के खूँट में बाँध लेती थी। जब रामलीला का विमान उठता था, तो मुसल-मान औरतें दरवाजों के चिकें या बारी के पर्दे उलटकर मूर्तियों के श्रृंगार की तारीफ करती थीं और उनके बच्चे विमान के साथ दूर तक शोर मचाते हुए जाया करते थे—"बोलो राजा रामचन्द्र की जै।" स्पष्ट है कि बस्ती में साम्प्रदायिकता ढूँढने पर भी नहीं मिलती थी। लोग एक दूसरे के त्योहारों में आनन्द से भाग लेते थे। अपने अपने विश्वासों को लेकर लोग जी रहे थे। उनके विश्वास एक-दूसरे से या तो टकराते नहीं थे अथवा टकराने की सम्भावना निर्माण हो जाती तो वे आपसी समझौता कर लेते थे। राजनीति से वे बेखबर थे। एक-दूसरे के सुख दुःख में वे सम्मिलित थे। वे घर के अन्दर हिन्दू या मुसलमान थे। बाहर तो वे सब उस बस्ती के नागरिक मात्र थे। "लेकिन सिर्फ नफरत की आग ने इस बस्ती को जलाया था।" दिन बीतते गए। अंग्रेज आए। छोटे-मोटे कार्यालय खुलने लगे। नौकरियों के लिए पढ़े-लिखे लोगों का तबका यहाँ आया। परन्तु "यह तबका अपने-अपने घरों पर हिन्दू या मुसल-मान था, लेकिन साहब के सामने सिर्फ नौकर था।" लेकिन भीतर-ही-भीतर अंग्रेजों के विरोध में आग सुलग रही थी। कुछ दबंग नौजवान कभी-कभी शहर में दिखाई पड़ते थे। "हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे इस जत्थे में।" सन् बयालीस के आन्दो-लन में भी हिन्दू-मुसलमान साथ में थे। और इसके कुछ ही महीनों बाद इस बस्ती के मुसलमानों में 'जिना साहब' की चर्चा शुरू हुई। और फिर सन् १९४५ का जमाना आया। "एक बूँद खून नहीं गिरा। किसी मुहल्ले पर धावा नहीं हुआ। किसी ने किसी को नहीं मारा। किसी ने किसी को गाली तक नहीं दी। मस्जिदों में लड़ाई की तैयारियाँ नहीं हुईं। लेकिन भीतर भीतर एक भूचाल आया था। दिली इमारतें ढह गई थीं। अपनेपन का जज्बा मर गया था। नफरत की आग ने इस बस्ती को निगल लिया था। और भरी-पूरी चिकवों की वह बस्ती सबसे पहले उजड़ गई थी। पता नहीं, यह आग कहाँ छिपी थी? नफरत की इस आग की चिनगा-रियाँ बाहर से आई थीं—दूसरे शहरों, कस्बों और सूबों से।"

इस बस्ती के एक छोर पर मुसलमान चिकवों की बस्ती है। और कहानी का मुख्य केन्द्र भी यही चिकवों की बस्ती है। इस बस्ती में विधवा नसीबन है जो अपने बच्चों का पालन-पोषण कर रही है। छोटे-मोटे काम-धन्धे करते हुए। एक साईं है जो दिनभर इधर-उधर घूमता रहता है। और शाम के समय धूनी रमाता है। सत्तार—जो पहले किसी सर्कस कम्पनी में काम करता था, अब इस बस्ती में आकर जम गया है। 'उसे नसीबन खाला की सहानुभूति है, साईं का आश्रय है और सल्मा का प्यार।' सल्मा जो इस बस्ती के जनाने अस्पताल में काम करती है। अपने पति से भागकर वह अपने पिता के साथ रह रही है। बच्चन भी है, जिसकी पत्नी गुजर चुकी है। जिसके दो छोटे छोटे बच्चे हैं और नसीबन इन बच्चों पर माँ से अधिक

प्यार करती है । सायकिल-दुकान वाला रतन भी है; ठाकुर, गुप्ता, चौबे, जाफर-मियाँ भी हैं । सभी लोग हिल-मिलकर बड़ी शान से जी रहे थे । राजनीतिक उथल-पुथल से बेखबर अपनी ही जिन्दगी के सुख-दुःखों के बोझ से हैरान । ऐसी इस खूबसूरत बस्ती में एक दिन सलमा का पति मकसूद और अलीगढ़ का सियासी कारकून यासिन आ जाते हैं और यहीं से नफरत की चिनगारी फैलने लगती है । "और जब उस सियासी कारकून ने देखा कि इन चिकवों की बस्ती में कोई सनसनी नहीं है, तो उसके दिल को चोट-सी लगी थी । वह कारकून सोच ही नहीं पा रहा था कि ये चिकवे दुनिया की खबरों से इतने अलग-अलग कैसे रह रहे हैं । इन्हें यह भी नहीं मालूम कि मुल्क में क्या हो रहा है·········कि मुसलमानों को एक नया मुल्क मिलने वाला है, जिसके लिए जद्दो-जहद चल रही है ।"[९] "जब वह देखता कि मसजिद में मकतब लगता है और मन्दिर की चहार दीवारी में पाठशाला जमती है और सब कुछ बदस्तूर चला जा रहा है, तो वह सह नहीं पाता था·········।"[१०] मकसूद, यासीन, और साईं तीनों एकत्र हो गए । साईं के मन में कुछ व्यक्तियों के प्रति दिली नफरत थी ही । अब राजनीति और धर्म की आड़ में वह इस नफरत की आग को उड़ेल सकता था । इसी कारण मसजिदों में बैठकें होने लगीं । लोगों के मन में हिन्दुओं के प्रति, गांधीजी के प्रति, कांग्रेस के प्रति नफरत की आग फैलायी जाने लगी । "कान-गरेस तो हिन्दुओं की जमात है ।"[११] "हिन्दू हिन्दू है और मुसल्मान मुसमान ।"[१२] मुसलमानों में इस प्रकार की चिनगारी फैलने की प्रतिक्रिया हिन्दुओं में तुरन्त हो गई । बस्ती में संघ का प्रवेश हुआ । "औरंगजेब ने जो अत्याचार किए हैं, हिन्दू धर्म को जिस तरह भ्रष्ट किया है, उसी का बदला तो लेना है । हमारी परम्परा है राणा प्रताप की, शिवाजी की जिन्होंने म्लेच्छों से कभी समझौता ही नहीं किया ।"[१३] दोनों ओर नफरत की यह चिनगारी फैलती गई है । "पता नहीं क्या हुआ था, बस्ती को ? ऊँचे-ऊँचे इमली-नीम के पेड़ों पर लम्बी-लम्बी बल्लियाँ लगाकर लीग और हिन्दू महासभा के झंडे फहराए गए थे । घरों पर भी छोटे-छोटे ऊँ के और हरे झंडे नजर आने लगे थे ।"[१४]·········"उसे चारों तरफ एक ऐसा सैलाब-सा नजर आ रहा था, जिसमें नफरत के कीड़े बिलबिला रहे थे—जाने-पहचाने लोगों के मुर्दा चेहरे उतराते हुए बहते जा रहे थे—वे चेहरे, जिन्हें देखकर अभी तक इन्सान जीता आया था—जिन में प्यार और अपनापन था । यह सब क्या हुआ है ? लोगों ने एकाएक वे चेहरे उतारकर क्यों फेंक दिए हैं ।······और सचमुच तब बस्ती में नफरत का एक भयंकर सैलाब आया था ।"[१५] धीरे-धीरे बस्ती के दोनों वर्गों में यह नफरत की आग फैलने लगी । यासीन और मकसूद आग फैलाने का यह काम काफी लगन से कर रहे थे, तो दूसरी ओर संघी भी अपना जोर लगा रहे थे । अफवाहें फैलने लगीं । हिन्दुओं को कल तक के दोस्त मुसलमान शत्रु लगने लगे । मुसलमान सभी ओर अविश्वास

की निगाहों से देखने लगे । साईं इस आग को और भड़काने की कोशिश कर रहा था । खामोश थी तो अकेली नसीबन । और उधर बच्चन । सत्तार को भी इस नफरत से नफरत थी । धीरे धीरे स्थिति इतनी भयावह होने लगी कि "दोनों जातियों में अपने हिन्दू और मुसलमान होने का एहसास बढ़ता जा रहा था । हिन्दू शायद अपने को एकाएक ज्यादा हिन्दू समझने लगे और मुसलमान अपने को ज्यादा मुसलमान ।"[९] फिर बस्ती में एक दिन मौलाना साहब आए । उन्होंने कहा—'हिन्दोस्तान में दो कौमें रहती हैं, और अब वे साथ-साथ नहीं रह सकतीं । १९ अगस्त का दिन एक रंज भरे दिन की तरह मनायें मुसलमान हिन्दू सरकार के मातहत नहीं रहेगा"[१०] मौलाना के पूर्व इस बस्ती में संघ के अधिकारी आए थे । हिन्दुओं की विशाल सभा उन्होंने ली और कहा— हिन्दू राष्ट्र ने आज अपना तीसरा नेत्र खोला है वह सब इसमें भस्म होगा जो विदेशी है । वीरता में शक्ति है तथा शक्ति में है प्रभुता का स्रोत । वीरभोग्या वसुन्धरा और वीर वही है जो हिन्दू है ।"[११] परिणामतः दोनों ओर उत्तेजना फैलती गई । बस्ती के दैनंदिन जीवन में परिवर्तन होने लगा । १६ अगस्त, १९४६ के दिन तो वातावरण और अधिक क्षुब्ध हो गया । "हर आदमी दूसरे को शक की निगाह से देख रहा था । दीवारों, जमीनों, गलियों और सड़कों तक का मन-ही-मन बँटवारा हो गया । शहर में हदें बन गयी थीं—हिन्दुस्तान और पाकिस्तान ।'[१२] और तभी पाकिस्तान बनने का ऐलान हुआ । "शहर के मुसलमान अन्दर-ही-अन्दर खुश हुए, पर ऊपर से कटे हुए थे साथ ही उनमें वही भय और भी गहरा उतर गया था ।"[१३] परन्तु नसीबन जानती थी कि इसका कोई मतलब नहीं है इस बस्ती के लिए । उसके अनुसार "अरे पूछो कोई, क्या बदलेगा । अपना नसीब जो है, वही रहेगा ।"[१४] विभाजन के बाद तो यहाँ के और आस-पास के अमीर मुसलमान धीरे-धीरे पाकिस्तान की ओर जाने लगे । "दूसरे शहरों, कस्बों और सूबों से तरह-तरह की खौफनाक खबरें आ रही थीं—हर सुबह एक नयी खबर आती—हर शाम एक और नया डर होता ।"[१५] पाकिस्तान बनने के बाद भारत के कोने-कोने से जितने भी पैसेवाले थे, वे जल्दी-से-जल्दी अपना इंतजाम करके चले गए । गरीबों का कोई रहनुमा नहीं था ।"[१६] वे लोग यह बस्ती छोड़कर जा तो रहे थे "मोह तोड़कर वे लोग निकल तो गए थे, पर घरों को ऐसे छोड़ गए थे, जैसे वे कभी वापस आएँगे ।"[१७] चिकवों की इस पूरी बस्ती में केवल तीन ही घर ऐसे थे जो कहीं गए नहीं—साईं, इफ्तिकार तांगेवाला और नसीबन । बेबस और मजबूर होकर सलमा भी चली गई—मकसूद और यासीन के साथ । सलमा के विरह को सत्तार सह नहीं सका और एक दिन वह भी आत्महत्या कर गया । सत्तार की इस खौफनाक आत्म-हत्या के बाद इफ्तिकार भी चला गया । बच गई है केवल नसीबन और साईं ।

साई—जिसने नफरत की आग को फैलाने में और बस्ती उजाड़ने में सहायता की थी। "गरीबी, अपमान, भूख और बेबसी में भी वे हारे नहीं थे, पर नफरत की आग और शंकापूर्ण भय का धुआँ वे बर्दाश्त नहीं कर पाए।"[२५]

"......सिर्फ नफरत की आग ने इस बस्ती को जलाया था।" और तब से इतने बरस गुजर गये—यहाँ कोई नहीं आया—सिवा इफ्तिकार के। और फिर इसी इफ्तिकार से पता चला कि यहाँ से जो लोग पाकिस्तान के लिए चले गए थे, वे पाकिस्तान जा ही नहीं पाये। उनमें से जो अमीर थे; वे पहुँच गए। परन्तु जो गरीब थे, जो बड़ी आशा और अरमानों के साथ पाकिस्तान जाकर अपनी गरीबी को खत्म करना चाह रहे थे; वे वहाँ पहुँच ही नहीं सके—अर्थ के अभाव में।

और आज सन् १९६१-६२ में इस बस्ती की ओर फिर कुछ नौजवान लौट रहे हैं। ये वे ही नौजवान है, जिनके माँ-पिता इस बस्ती के निवासी थे और जो पाकिस्तान और सम्पन्नता के सपने लेकर इस बस्ती को छोड़ बाहर चले गए थे; परन्तु पाकिस्तान तक पहुँच न सके थे। उनके ही लड़के आज इस बस्ती की ओर लौट रहे हैं—चौदह-पन्द्रह वर्षों बाद। इन लड़कों के बचपन के दिन इसी बस्ती में गुजरे थे। और नसीबन बहुत-बहुत खुश है कि मुसाफिर लौट रहे हैं। वह उन्हें उनके टूटे-फूटे घरों तक पहुँचाती है।

समीक्षा :—उपर्युक्त कथावस्तु से स्पष्ट है कि कमलेश्वर विभाजन के बहाने एक बस्ती के सूक्ष्म परिवर्तन की गाथा हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर रहे है। इस 'परिवर्तन' के कारणों की खोज एवं उसकी भयावहता को भी स्पष्ट करते हैं। इस लघु उपन्यास में यह बस्ती ही केन्द्र में है। इस बस्ती का करीब सौ वर्ष का इतिहास इसमें स्पष्ट किया गया है। आरम्भ के पृष्ठों में सन् १८५७ की बस्ती का संकेत दिया गया है। "यह वही बस्ती है जिसने १८५७ ई० में अंग्रेजों से लोहा लिया था। हर कौम और मजहब के लोगों ने कन्धे-से-कन्धे मिलाकर गोलियों की बौछार सीनों पर झेली थी।"[२६] १८५७ के बाद इस बस्ती में परिवर्तन शुरू हुए। अंग्रेज पूरी तरह देश में छा गए। बस्तियों में विविध कार्यालय खुलने लगे। सन् १९४२ के आन्दोलन में भी यहाँ के हिन्दू-मुस्लिम लड़कों ने बड़ा ऊधम मचाया था। "उन्हें नहीं मालूम था कि देश कैसे आजाद होगा, पर इतना उन्हें मालूम था कि कुछ करना चाहिए; और वे जो कुछ कर सकते थे, वह उन्होने किया था।"[२७] परन्तु सन् १९४५ मे ही इस बस्ती के नागरिकों के दिलों मे एक बड़ा भयानक-भूचाल आया। यहीं से इसकी कथावस्तु का आरम्भ होता है। सन् १९४५-४६ और ४७ इन तीन वर्षों के भीतर यहाँ के सर्व-सामान्य हिन्दू-मुस्लिमों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं को इसमें शब्दबद्ध किया गया है। यही इसकी सही अर्थो में कथावस्तु है।

इस कथावस्तु में घटनाएँ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं—घटनाओं की प्रतिक्रिया ही

महत्त्वपूर्ण है । बस्ती और बस्ती में जाने वाले कुछ प्रातिनिधिक पात्रों की—नसीबन, सत्तार, सलमा, इफ्तिखार, साईं, रतन, बच्चन आदि की—मन स्थितियों को ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है । शांत तथा एकत्व की भावना से जीनेवाली यह बस्ती नफरत की आग से कैसे जल गई—इसको विस्तार के साथ लेखक स्पष्ट करता है तो दूसरी ओर सलमा-सत्तार, नसीबन-बच्चन, साईं-यासीन की व्यक्तिगत जिन्दगी को भी स्पष्ट करते जाता है । इन सब की व्यक्तिगत जिन्दगी का तथा नफरत की आग फैलने की उस घटना का निकटता से सम्बन्ध है । विभाजन पर लिखे गए अन्य उपन्यासों के केन्द्र में शिक्षित तथा मध्यवर्गीय व्यक्ति ही हैं । उदाहरण—यशपाल (झूठा सच), यज्ञदत्त शर्मा (इंसान), गुरुदत्त (देश की हत्या), रामानन्द सागर (और इन्सान मर गया) आदि । परन्तु कमलेश्वर के इस उपन्यास में समाज के सब से निचले तबके को केंद्र में रखा गया है । यह निचला तबका ही सर्वाधिक मात्रा में लूटा गया है । इस निचले तबके का उपयोग ही राजनीतिज्ञों और धर्मान्धों ने किया है । इसी निचले तबके के कारण नफरत की आग तेजी से फैलती गई है । इस कारण इसकी 'कथावस्तु' की यह सबसे बड़ी विशेषता मानी जा सकती है कि कमलेश्वर का ध्यान 'सर्वसाधारण' पर अधिक है । वास्तव में नफरत की आग मध्यमवर्ग एवं तथाकथित नेताओं ने ही फैलायी थी ।

इसकी कथावस्तु का सम्बन्ध बस्ती तथा व्यक्ति-मन के साथ होने के कारण परम्पराबद्ध पद्धति में इसका अनुशीलन न सम्भव है और न न्यायसंगत ।

कथावस्तु समस्यामूलक है । समस्या को लेखक एकदम नये ढंग से देख रहा है । राजनीति, धर्म तथा सम्प्रदाय से एकदम अलग हटकर तटस्थता के साथ इस समस्या की ओर देखना न केवल जरूरी है, अपितु उसकी आवश्यकता भी है । इसी-लिए वे उन सभी साम्प्रदायिक तत्वों की खुली निन्दा करते हैं, जिन्होंने नफरत की आग फैलायी थी ।

कथावस्तु अत्यधिक यथार्थ है । यह बस्ती भारत के किसी भी प्रान्त के किसी भी हिस्से में हो सकती है । सन् १९३० से १९४७ तक इस प्रकार की प्रतिक्रिया प्रत्येक स्थान पर हुई है । इसीलिए शायद कमलेश्वर बस्ती का नाम भी नहीं देते । यह बस्ती इसी अर्थ में प्रातिनिधिक है । इस विषय पर लिखे गए अन्य उपन्यासों की बस्तियाँ सीमा-प्रदेश की ही हैं । सीमा-प्रदेश में तो काफी कुछ हुआ है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि 'सीमा' को छोड़कर सुदूर प्रदेशों की बस्तियों में विभाजन का कोई परिणाम ही नहीं हुआ । वास्तव में विभाजन की घटना ने इस देश के सभी तबकों को हिला दिया था । सभी ओर संदेह तथा नफरत का वातावरण पैदा हो गया था । इसी कारण 'विभाजन' से उत्पन्न मानसिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रति-क्रियाओं को कमलेश्वर देखना चाह रहे हैं । यहाँ प्रदेश महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण

है नफरत की आग-जो मनुष्य-स्वभाव की मूल समस्या है। १६ अगस्त, १९४६ तक सारे देश में यह नफरत की आग फैल चुकी थी। अत्याचार, मार-काट, आगजनी और बलात्कार की घटनाएँ रोज हो रही थीं। सन् १९४६ से लेकर १९४८ तक सारे देश में यही होता रहा। सन् १९३० से १९४६ तक की बस्ती का ही सूक्ष्म चित्रण इसमें किया गया है। सन् १९४७ और १९४८ में अचानक 'नफरत' की जिस ज्वालामुखी का विस्फोट हुआ था उसका चित्रण करने के बजाय वे इस ज्वालामुखी का निर्माण कैसे हुआ, इसकी खोज करना चाहते हैं। ११६ पृष्ठ के इस उपन्यास में ९४ पृष्ठ तक तो सन् १९४५ तक का चित्रण है और बाद के पृष्ठों में १९५० के बाद का चित्रण है। सन् १९४६ से ४८ तक की घटनाओं का वे संकेत मात्र देते हैं। अन्य साहित्यकारों ने १९४६-४८ तक की घटनाओं को ही अपने उपन्यास का मुख्य विषय बना दिया है और कमलेश्वर इन्हीं दो वर्षों को छोड़ देते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इन्हीं दो वर्षों में भयानक घटनाएँ हुई हैं—और लेखक कमलेश्वर इन्हीं दो वर्षों का मात्र संकेत देकर चले जाते हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि धधकती हुई आग की अपेक्षा उस चिनगारी पर है जिससे यह आग धधक उठी है। जिससे "सब चले गये, आदमी और आदम जात।"[१८] इस चिनगारी की खोज करने के लिए ही वे सन् १९३०-४५ तक के समय को महत्व देते हैं। वे राजनीति का विवेचन-विश्लेषण करते नहीं बैठते। उनकी दृष्टि में तो मनुष्य का मन आलम्बन है, राजनीति उद्दीपन और बस्ती का राख हो जाना कार्य।

विभाजन की इस समस्या को कमलेश्वर अशिक्षित और सामान्य मुसलमानों की दृष्टि से देखना पसन्द करते हैं। आज देश में ऐसे ही लोगों का नाजायज फायदा उठाकर उनमें नफरत की आग फैलाने का प्रयत्न कुछ शिक्षित तथा अपने को आधुनिक कहलाने वाले मुसलमान और हिन्दू करते हैं। इसलिए दोष देना ही है तो यासीन जैसे लीगी युवक अथवा संघियों को ही। रतन, साईं, महमूद का तो माध्यम के रूप में उपयोग किया जा रहा है।

अन्य उपन्यासों तथा इस उपन्यास में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि कमलेश्वर के मुसाफिर वापिस लौटकर उसी स्थान पर चले आते हैं, जहाँ से वे निकले थे। नफरत की आग से झुलसकर कुछ हमेशा के लिए वापिस गए, कुछ बीच रास्ते में ही रह गए और कुछ लौट आये। कब ? जब नफरत की आग समाप्त हो गई। अर्थात् अनुकूल वातावरण का निर्माण हो गया और वे लौट आए। उनकी यह नफरत 'शाश्वत' नहीं थी। तो फिर कमलेश्वर क्या यह बतलाना चाहते हैं कि नफरत मनुष्य का अस्थिर धर्म है तथा सहज स्नेह, प्यार उसका स्थिर धर्म ! मनोविज्ञान की दृष्टि से जब हम इस उपन्यास पर विचार करते हैं, तब भी उत्तर मिलता है कि 'नफरत' मनुष्य का स्थिर धर्म नहीं है। वास्तव में 'नफरत' में प्रचंड

शक्ति है। डा० रजा के शब्दो मे "नफरत ! यह शब्द कैसा अजीब है। 'नफरत' यह शब्द राष्ट्रीय आन्दोलन का फल है।" 'नफरत' यह शब्द तिरस्कार और घृणा के निकटवर्ती है। इसके सम्बन्ध मे शास्त्र कहता है—'किसी अरुचिकर अथवा प्रतिकूल वस्तु के साक्षात्कार अथवा उसकी कल्पनामात्र से जनित चित्तवृत्ति का संकोच ही जुगुप्सा है। अरुचिकर अथवा प्रतिकूल वस्तु के साक्षात्कार से, दर्शन से अथवा कभी उनके स्मरण से मन मे उदवेग उत्पन्न होता है, जो मनुष्य को इन वस्तुओ से दूर खिच जाने के लिए प्रेरित करता है, क्योकि तभी वह उस असतोष, गर्हणा, एव विकलता की भावना से मुक्ति पाता है जो उसके भीतर उनके दर्शन या स्मरण से उद्भूत हुई थी। यह विकर्षण की प्रवृत्ति भय एव क्रोध मे भी लक्षित होती है। लेकिन भय मे वह पलायन अथवा अन्य प्रकार से दैन्य-प्रदर्शन के रूप मे प्रकट होती है-तथा क्रोध मे वह मनुष्य को उस प्रतिकूल विषय के विनाश या मर्दन मे प्रवृत्त करती है।"[११]

कमलेश्वर के इस उपन्यास मे यह प्रवृत्ति भय एव क्रोध दोनो रूपो मे प्रकट हुई है। इसी भय के कारण मुसलमान भारत छोडकर पाकिस्तान जा रहे थे तथा हिन्दू पाकिस्तान छोडकर भारत आ रहे थे। क्रोध के रूप मे यह प्रवृत्ति मार-काट, बलात्कार तथा आगजनी के रूप मे प्रकट हो रही थी। १६ अगस्त, १९४६ के दिन कलकत्ता मे हुई घटनाएँ तथा बाद मे बिहार मे हुई इसकी प्रतिक्रियाएँ इसके प्रमाण हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रतिकूल वातावरण पाकर ही नफरत की चिनगारी निर्मित होती है और वातावरण के तनाव से वह और अधिक प्रज्वलित होने लगती है। 'परिस्थितियाँ बदल जाने के बाद जो बातें पहले भयानक लगती थी, वे अब भयानक नही लगती। ऐसी बदली हुई परिस्थिति मे अवचेतन के भय का चेतन की निर्भयता से सामजस्य कर दिया जाए तो भय की ग्रथि का निरावरण असभव नही कहा जा सकता।" एक दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि मनुष्य जिस मिट्टी मे जन्म लेता है, जिस वातावरण मे बडा होता है, उसे वह कभी भी भूल नही पाता। जिस नयी बस्ती मे वह जाता है वहा कभी भी सुख से रह नही पाता। एक अज्ञात सा आकर्षण अपने 'मूल स्थान' के प्रति बना ही रहता है। यही कारण है कि कमलेश्वर के मुसाफिर अन्त मे लौटने लगते हैं। यही कारण है कि पाकिस्तान के सफर मे बलराज साहनी को कुछ ऐसे लोग मिल जाते हैं जो लखनो, दिल्ली इलाहाबाद की यादें निकालकर रोने लगते हैं। यही कारण है कि मण्टो का टोबा टेकसिंह भारत वापिस आना नही चाहता। किसी भी समाज अथवा जाति को जड से उखाडकर दूसरी ओर बसाना न मनोवैज्ञानिक है और न सहज है। देश विभाजन की इस घटना के मूल मे राजनीति तो है ही। परन्तु प्रश्न यह है कि राजनीति के गन्दे तथा अमानवीय प्रस्तावों को जनता स्वीकार ही क्यो करती है? अफवाहो पर विश्वास रखकर

वह कल तक के सहज मानवीय सम्बन्धों को नकार कर खून की प्यासी क्यों हो जाती है ? इसका अन्तर है : नफरत की वह आग जो प्रच्छन्न रूप से प्रत्येक में बैठी है। परिस्थिति पाकर वह सुलगने लगती है और तभी बस्तियाँ जलने लगती हैं, इन्सानियत मरने लगती है। श्रद्धाएँ टूट जाती हैं। श्रेष्ठ मूल्यों की होली हो जाती है। नफरत की इस आग को न लगाने वाला रोक सकता है और न कोई धर्म पंडित। इस भयावह और क्रूर वातावरण में भी ऐसे लोग होते हैं जिनके भीतर नफरत की यह आग लगती ही नही। नसीबन और बच्चन इसी प्रकार के लोग हैं। कमलेश्वर की श्रद्धा इन्हीं लोगों पर है। ये ही लोग लौटे हुये मुसाफिरों को उनके 'मूल से परिचित कराने में समर्थ हो जाते हैं। तात्पर्य, कमलेश्वर का यह उपन्यास समसामयिक विषय को लेकर लिखा जाने के बावजूद भी मनुष्य के कुछ सनातन मूल्यों से, समस्याओं से तथा मन की सूक्ष्म प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखता है। और यही कारण है कि यह उपन्यास आज भी नया है जितना पहले था, तौर तब तक नया रहेगा जब तक कि विस्थापितों की समस्या विश्व में रहेगी, जब तक स्थापितों को उखाड़कर साम्प्रदायिक और प्रतिगामी शक्तियाँ उन्हें मुसाफिर बना देंगी, और जब तक ये मुसाफिर अपनी बस्ती को लौटते रहेंगे। फिर ये मुसाफिर कभी इजरायल को लौटते रहेंगे, कभी वियतनाम को, कभी बांगला देश को अथवा कभी भिवंडी को।

पिछली बार इसी नफरत की चिनगारियों ने जब भयानक रूप धारण कर लिया था और भिवंडी, जलगांव (महाराष्ट्र) में मार-काट तथा आगजनी की घटनायें हुई थीं, तब कमलेश्वर ने डा० राही मासूम रजा के पत्र का उत्तर देते हुए लिखा था—"इन्होंने मुझे बार-बार याद दिलाया कि भिवंडी और जलगाँव वास्तव में हमारे भीतर जल रहे हैं, फिर हम कैसे बच सकते हैं ?" ऐसे नफरत-भरे वातावरण में जिन दिलों में नफरत की आग नहीं लगती अथवा जो ऐसी आग फैलाने में सहयोग नही देते ; उलटे जो ऐसी आग फैलाने वाले को रोकने का प्रयत्न करते हैं—उन पर कमलेश्वर का विश्वास है। ऐसे ही लोगों के मौन कार्य को, उनकी मानवीयता को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न कमलेश्वर ने इस उपन्यास में किया है।

कथावस्तु के रचना-विधान में नवीनता है। परम्पराबद्ध दृष्टि से कथावस्तु का शिल्प विकसित नहीं हुआ है। 'बस्ती' केन्द्र में रहने के कारण बस्ती से सम्बन्धित महत्वपूर्ण परिवर्तनों का संकेत लेखक देता गया है। इसी कारण कथावस्तु बिखरी-बिखरी-सी लगती है। स्थूल रूप में कहें तो १८५७ से १९६१-६२ तक के काल को इसमें स्वीकार किया गया है। ११६ पृष्ठों के इस लघु उपन्यास में सौ वर्षों के परिवर्तन की कहानी रखना वास्तव में एक साहस ही है। कमलेश्वर इस साहस को बखूबी निभा गये हैं। धर्म तथा साम्प्रदायिकता के कारण बस्ती में किस

प्रकार के परिवर्तन होते गये यही बतलाना इनका लक्ष्य रहा है। इसके लिए उन्होंने पूर्वदीप्ति (Flash Back) शैली का प्रयोग किया है। १८५७, १९३०, १९४२, १९४५ और फिर एकदम १९६०-६१ फिर १९४५-४६, १९४७, १९५० फिर १९६१-६२ इस कालक्रमानुसार बस्ती के 'परिवर्तन' को शब्दबद्ध किया है। सन् १९३० से १९६०-६१ तक इस बस्ती के 'परिवर्तन' को साई और नसीबन अपनी आँखों से देख रहे हैं। आज १९६०-६१ में नसीबन बस्ती के इस उजड़े हुए रूप को देखकर उसके भूतकाल को याद करने लगती है। और कथावस्तु आगे बढ़ने लगती है। ऐतिहासिक और पूर्वदीप्ति इन दोनों शैलियों का प्रयोग लेखक ने इसमें किया है। इसकी कथावस्तु का पाठकों के मन पर एक अमिट प्रभाव पड़ जाता है—यही इस शैली की सब से बड़ी सफलता है।

समस्याएँ—आरम्भ में ही कहा गया है कि इस उपन्यास में विभाजन की समस्या है। इस समस्या को देखने का लेखक का दृष्टिकोण किस प्रकार विशिष्ट एवं अलग-सा है, इसकी चर्चा भी हम कर चुके हैं। वास्तव में विभाजन का मूल आधार है "एक दूसरे के प्रति नफरत की भावना" पैदा हो जाना। नफरत की यह भावना मनुष्य-मन में पैदा क्यों हो जाती है? इस भावना को उद्दीपित करने का कार्य कौन करते हैं? उनके कौन से स्वार्थ इसमें छिपे होते हैं? 'नफरत' यह मनुष्य स्वभाव का स्थिर धर्म है अथवा अस्थिर धर्म? आदि प्रश्नों की अप्रत्यक्ष रूप में चर्चा इस उपन्यास में की गई है चाहें तो हम कहेंगे कि इस उपन्यास की समस्या में नवीनता नहीं है अपितु लेखक ने जिस दृष्टिकोण से समस्या को देखा है वह अत्यधिक नवीन, मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य और मनुष्य के बीच जो मानवीय सम्बन्ध हैं; उन्हें केन्द्र में रखकर इस समस्या को देखा गया है। इस समस्या को देखते समय लेखक किसी बाहरी विचारों से प्रतिबद्ध नहीं है। इसी कारण वह इतनी गहराई तथा तटस्थता से सम्पूर्ण परिवर्तन को रेखांकित कर सका है। कमलेश्वर ने विभाजन की कृत्रिमता को ही साबित करने की कोशिश की है। विशेषतः उस पीढ़ी के लिए तो यह विभाजन कृत्रिम ही है जो पहले किसी और मिट्टी से जुड़ी हुई थी, और अब कहीं और बसने की मजबूरी में है। इस विभाजन के नाम पर सामान्य लोगों का कैसे शोषण हुआ है, इसका संकेत भी उन्होंने दिया है।

'विभाजन' की समस्या के बाद इसमें आर्थिक समस्या प्रखर रूप से प्रकट हुई है। प्रगतिवादी लेखकों ने इसी आर्थिक स्थिति को केन्द्र में रखकर साहित्य लिखा है। परन्तु उनका ध्यान पूंजीपतियों और उनके अन्याय-अत्याचार पर ही अधिक हुआ करता है। यहाँ पर इसी प्रश्न को अलग कोण से देखा गया है। विभाजन का फायदा किस तबके के लोगों को हुआ? विभाजन के बाद पाकिस्तान को और कौन सा वर्ग जा सका? दीन-दलित-दरिद्री लोगों की इस विभाजन के बाद

क्या स्थिति हुई ? आदि प्रश्न कमलेश्वर यहाँ उठाते हैं। विभाजन किस आर्थिक व्यवस्था के कारण हुआ, इसकी अपेक्षा विभाजन के समय और तुरन्त बाद 'आम आदमी' की स्थिति कैसी हो गई, इसे वे अधिक महत्त्व देते हैं। 'इफ्तिकार' तांगे वाले के माध्यम से लेखक ने इस प्रश्न की भयानकता की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। सियासी कारकून यासीन इस कस्बे के लोगों को इकट्ठा कर साम्प्रदायिक जहर पिलाने की कोशिश करता है तब इफ्तिकार धीरे से कहता है—"असली लड़ाई तो गरीबी और अमीरी की है। मुल्क के तकसीम होने से हमें क्या मिल जाएगा।"[१०] 'पाकिस्तान'—इस नये राष्ट्र के प्रति सामान्य मुसलमानों में इतनी अधिक आशाएँ उत्पन्न करा दी गई थी कि सत्तार भी कभी-कभी सोचता है—"शायद पाकिस्तान बनने से एक नयी जिन्दगी की हदें खुल जायें।.........पर रह-रहकर उसे यह भी भ्रम होता था कि यह सब कुछ होगा नहीं ? कैसे होगा ? करोड़ों मुसलमानों के बीच उसकी बिसात ही क्या है।"[११] इफ्तिकार इस घटना की ओर अधिक व्यावहारिक दृष्टि से देखता है। उसे यकीन है कि नया राष्ट्र बनने के बाद भी सामान्य मनुष्य की स्थिति में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन होने वाला नहीं है। इसीलिए वह कहता है—".........और लगता मुझे यह है कि अगर पाकिस्तान बना भी तो अपने किसी काम नहीं आयेगा। पाकिस्तान में भी हमें तो इक्का ही हाँकना पड़ेगा।"[१२] एक ओर यासीन पाकिस्तान को सुजलाम् सुफलाम् धरती साबित करते हुए बतला रहा था कि वहाँ प्रत्येक मुसलमान को सब चीजें खूब मात्रा में मिलेंगी। गरीबी नाम की चीज ही नहीं होगी। "पाकिस्तान बना ही इसलिए है कि हर मुसलमान वहाँ आराम और चैन से रहे।.........पाकिस्तान की सरहद पर ही जमीनें और जायदादें बँट रही हैं—काम-धंधे शुरू करने के लिए जिन्नासाहब की सरकार नकद रुपये दे रही है। अंगूर आठ आने सेर बिक रहा है..........."[१३] एक ओर ये अफवाहें हैं, पाकिस्तान की तारीफ है और दूसरी ओर इफ्तिकार का यह वाक्य कि—वहाँ भी हमें तो इक्का ही हाँकना पड़ेगा—है। अमीर मुसलमान अपनी-अपनी व्यवस्था कर ले रहे थे। परन्तु गरीब.........? "सभी गरीब मुसलमानों की निगाहें अमीर लोगों पर लगी थी—जो वे करेंगे, वही ठीक होगा।"[१४] परन्तु क्या वे ऐसा कर सके ? "जितने भी पैसे वाले थे, वे जल्दी-से-जल्दी अपना इन्तजाम करके चले गए। गरीबों का कोई रहनुमा नहीं था।"[१५] यासीन ने चिकवों की बस्ती के गरीब मुसलमानों से यह वादा किया था कि वह उन्हें हवाई जहाज से पाकिस्तान पहुँचाएगा। चिकवों की बस्ती के ये मुसलमान अपनी सारी पूंजी बेचकर बड़े ही नये अरमान लेकर और "सारे मोह तोड़कर वे लोग निकल तो गए थे, पर घरों को ऐसे छोड़ गए थे जैसे वे कभी वापस आयेंगे।"[१६] क्या उनके अरमान पूरे हो सके ? क्या वे पाकिस्तान पहुँच सके ? ".........उनके साथ का कोई भी दिल्ली तक नहीं पहुँच

पाया सब इधर-उधर बिखर गए। सुबराती मोची आगरा मे राजामंडी के चौराहे पर बैठता है "और चमन वहीं की चुंगी म चपरासी लग गया है रमजानी का हाल बहुत बुरा बता रहे थे, वह बेचारा भूखो मर रहा है "१७ "मई जो कुछ धेला-कौडी पास थी, वह तो जाने मे खर्च कर दी थी वह भी पूरी नहीं पडी, नही तो पाकिस्तान नही पहुँच जाते अब रोटियो के लाले पड गए हैं।"१८ स्पष्ट है विभाजन के समय गरीब अधिक मारे गए, सताए गए और अपनी मूल बस्ती से उखाड भी दिए गए। अमीर मुसलमानो ने गरीब मुसलमानो की कोई खबर नही ली। हर बार तो यही हुआ है। विभाजन का निचले तबके पर ही वास्तव मे भयानक परिणाम हुआ है। विभाजन के 'कारण' के रूप मे वे इस आर्थिक व्यवस्था को नही देखते, अपितु विभाजन के समय जो दुर्गति इस तबके की हुई थी, उसकी ओर सकेत करते हैं।

'दो धर्मों के तनाव की समस्या' इस उपन्यास की नींव में है। क्योकि इसी कारण तो 'विभाजन' हुआ। 'धर्म' के माध्यम से ही नफरत की 'चिनगारी' हर एक के दिलो-दिमाग मे डाल दी गई। स्पष्ट है कि किसी भी देश मे स्थित साम्प्रदायिक शक्तियाँ धर्म का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए किया करती हैं। जिना ने इसी धर्म का आश्रय लेकर लोगो के दिलो मे नफरत की आग फैला दी। और जिना के अनुयायियों ने यह काम और उत्साह से किया। ठीक इसी प्रकार का कार्य हिन्दुओ में 'हिन्दू महासभा' और 'राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ' करते रहे हैं। ये दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सम्भवत प्रत्येक युग मे एक ओर धर्म के आधार पर मनुष्य को मनुष्य के निकट ले आने का प्रयत्न चलता रहता है, तो दूसरी ओर 'धर्म' के आधार पर नफरत की आग फैलाने का प्रयत्न होता रहता है। 'धर्म' यह घर के भीतर की चीज है अथवा वह आध्यात्मिक उन्नति का एक साधन मात्र है—इसे दुर्भाग्य से हम अब तक समझ नही पाये। लीग के सियासी कारकून की अपेक्षा 'नसीबन' सही अर्थो मे 'सच्ची मुसलमान' है। कुरान न पढते हुए भी वह कुरान का सच्चा अर्थ व्यवहार मे उतारती है। मनुष्य और मनुष्य के बीच के सम्बन्ध तो धर्म से परे हैं, और धर्म से भी बडे। धर्म तो एक माध्यम है—इन सम्बन्धो को दृढ करने के लिए। मनुष्य के भीतर की मानवीय शक्तियो—प्यार, ममता, करुणा, स्नेह, ईमान—को विकसित करने की धर्म की कोशिश है। परन्तु दुर्भाग्य से इस धर्म का उपयोग 'नफरत की आग' फैलाने के लिए हो रहा है। जो अमृत है उसे विष बनाया जा रहा है। स्पष्ट है कि कमलेश्वर साम्प्रदायिक शक्तियो को अत्यधिक दोषी ठहराते हैं। इन्ही शक्तियो के कारण तो 'नफरत' की भावना उद्दीपित हो गई और 'सिर्फ नफरत की आग ने इस बस्ती को जलाया था।"

चरित्र इस बस्ती मे जीने वाले प्रत्येक पात्र का अपना महत्व है। नसीबन,

सत्तार, साई हमारे मन पर अधिक छा जाते है । अपनी ममतामयी दृष्टि के कारण, विशाल मातृ-हृदय के कारण नसीबन; भावुक तथा प्रेमी के रूप में सत्तार तथा साम्प्रदायिक बहकावे में आकर बस्ती को खाक करने वाले साई—पाठकों का ध्यान बरबस अपनी ओर खींच लेते है । इन तीनों पात्रों को छोड़कर अन्य पात्र अनावश्यक है—ऐसा इसका कदापि अर्थ नही है ।

नसीबन : नसीबन सम्पूर्ण उपन्यास पर छा गई है । आज सन् १९६०-६१ में बूढ़ी नसीबन उदास निगाहों से बस्ती की ओर देख रही है । स्वतन्त्रता के इन १४-१५ वर्षो बाद इस बस्ती में काफी नये परिवर्तन हुए हैं । नयी जिन्दगी यहाँ आ रही है । परन्तु नसीबन को इस नयी जिन्दगी के प्रति कोई उत्साह नही । क्योंकि यहाँ अपना कोई नहीं है । सब चले गए । नफरत की आग ने सब को झुलसा दिया । १९२५-३० के समय यह बस्ती बड़ी खूबसूरत थी । "लेकिन जब तक अपने कहे जाने वाले अपने पास न हों, नई जिन्दगी भी बहुत पुरानी और बोझिल लगती है । वही बोझ-सा था नसीबन के दिल पर ।"[१९] इस नसीबन की स्मृतियों के माध्यम से बस्ती के पूरे भूतकाल को जीवन्त कर दिया गया है । 'नसीबन' इस बस्ती की सब से स्पष्टवादी तथा निर्भय स्त्री है । उसने जिन्दगी के उतार-चढ़ाव देखे हैं । उसकी आँखें आदमी को झट से पहचानती है । इसी कारण सत्तार जब पहली बार इस बस्ती में आया और साई ने परिचय करवाया तो—"नसीबन ने गहरी नजरों से सत्तार की ओर देखा था, जैसे वह सब जानती हो कि यहाँ आकर वह कौन-सा काम शुरू कर सकता है ।"[२०]

किसी दूसरे की व्यक्तिगत जिन्दगी में दखल देना नसीबन को जरा भी पसन्द नहीं । साई के ठीक उल्टा उसका यह स्वभाव है । वह तो सब को अपनी सहानुभूति और स्नेह देती रहती है । सल्मा और सत्तार के सम्बन्ध को लेकर साई जब उन्हें खूब डाँटता है, तब नसीबन को यह सब ठीक नहीं लगता । उसके अनुसार "इस सब से क्या फायदा हुआ साई ?......सारी दुनिया की जिम्मेदारी क्यों ओढ़ ली है तुमने, साई ? जिसके जो मन में आता है, करने दो; तुम टाँग क्यों अड़ाते हो ?"[२१] वह यह समझती है कि जिन्दगी अपने ढर्रे से चल रही है, चलती रहेगी । इस जिन्दगी की करवट को बदलने का अथवा उसमें नफरत की आग फैलाने का नापाक काम हमें नही करना चाहिए । सल्मा और सत्तार दोनों बड़े हैं; अगर वे आपसी सम्बन्ध रखना चाहते हैं, तो उन्हें क्यों रोका जाए ? और फिर सल्मा बड़ी ही बदनसीब औरत है । सत्तार कोई बुरा आदमी नहीं है । परन्तु यह साई.........इसीलिए वह सोचती है "बूढ़ा साई भी बहुत नासमझ है । यह क्यों नहीं समझता कि जिन्दगी आखिर जिन्दगी है, वह किसी की बनाई लकीरों पर चलने वाली मुर्दा चीज नहीं ।"[२२] नसीबन हर एक दुःख पर मरहम लगाना चाहती है । मरहम किस चीज का ?

"लेकिन दुनिया में बहुत से ऐसे जख्म होते हैं जिनका मरहम बात कर लेना ही होता है।"** धीरे-धीरे इस बस्ती में देश के राजनीतिक आन्दोलनों की खबरें आने लगीं। मक्सूद और यासीन भी साम्प्रदायिक जहर लेकर इस बस्ती में आ गए। और सभी भी अपने ढंग से इस जहर को फैलाने की कोशिश में हैं। बस्ती के बूढ़े, नौजवान और बच्चे अंग्रेजों के प्रति चिढ़ गए हैं। सत्तार इतना ही समझ गया है कि "यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन इतना मुझे पता है कि अंग्रेज हमारे दुश्मन हैं हिन्दोस्तान के दुश्मन हैं और इन्हें मार भगाना हमारा फर्ज है।"** नसीबन इस बात से घबरा जाती है—सत्तार के प्रति सहज स्नेह के कारण। उस अशिक्षित स्त्री को लगता है कि अंग्रेज तो सर्वाधिक शक्तिशाली हैं, अकेला सत्तार उन्हें कैसे मार सकेगा? इसीलिए वह कहती है—"सुन, मेरे पास एक असली लोहे की गुप्ती है तू इधर आ तो, मैं तुझे दे दूं किसी से कहियो मत, समझा।"** स्पष्ट है कि नसीबन अंग्रेजों को मारने के लिए गुप्ती दे रही है। परन्तु इस गुप्ती देने के मूल में अंग्रेजों के प्रति चिढ़ नहीं सत्तार के प्रति सहज वात्सल्य से निर्मित चिन्ता ही है।

नसीबन और बच्चन को लेकर इस बस्ती में तरह-तरह की अफवाहें हैं। इन अफवाहों को फैलाने का कार्य साईं, मक्सूद और यासीन ने ही किया है। बस्ती के एक हिन्दू परिवार 'बच्चन' के यहाँ नसीबन अक्सर जाती है। बच्चन की पत्नी मर चुकी है और उसके दो छोटे-छोटे बच्चे हैं। ये दोनों बच्चे नसीबन के बच्चों के दोस्त हैं, साथी हैं। विशाल हृदया नसीबन इन बच्चों की असहायावस्था देख नहीं पाती। इसीलिए वह इन्हें माँ का प्यार देती है। लोग इसी सहायता का मतलब निकालते हैं कि नसीबन और बच्चन दोनों में गलत सम्बन्ध है। बच्चन के लड़के रमुआ के पाँव की हड्डी टूट जाने के बाद तो नसीबन "रातभर वहीं रमुआ के बिस्तर के पास बैठी रही। बच्चन ने कहा कि वह कुछ देर सो ले, पर वह नहीं हटी, "मरद नहीं समझ सकते बाल-बच्चों का सुख दुख।"** साईं, मक्सूद और यासीन निरपराध बच्चन को एक चोरी के कांड में फँसा देते हैं और बच्चन जब घर से मारा-मारा फिरने लगता है, तब नसीबन ही उसके बच्चों की देखभाल करती है। "पता नहीं कैसा बाप है, जो अपने बच्चों तक का ख्याल नहीं रखता। इतनी रात उतर आई, घर में बच्चे अकेले पड़े होंगे—भूखे-प्यासे और यह पट्ठा घूम रहा है। अजीब आदमी है बड़बड़ाती हुई नसीबन बाहर निकल गई। सत्तार ने देखा, उसकी बगल में रोटियों की पोटली थी और गिलास में सालन।"** इस उद्धरण से स्पष्ट है कि नसीबन का मातृहृदय सम्प्रदाय और धर्म को भी लाँघ गया है। निस्वार्थ भाव से वह बच्चन के बच्चों की देखभाल करती है। इतना ही नहीं, उसे हर बार आने वाले खतरे से आगाह कर देती है। जब बच्चन के आने की संभावना नहीं

दिखती, तो उन बच्चों को सीधे अपने घर ले आती है; यह कहते हुए—"जो होगा सो देखा जाएगा।"[४८] इसप्रकार हिन्दू के बच्चों को एक मुसलमान स्त्री द्वारा अपने घर रख लेना किसी को पसन्द नही। और जब इस हिन्दू को एक अपराध के सिलसिले में पकड़ने की कोशिश की जा रही है; तब तो बात और भी भयानक है। इसी कारण साईं उसे समझाने का प्रयत्न करता है। कस्बे के अधिकतर लोग यही समझते है कि यह तो बच्चन और नसीबन के बीच की 'आशनाई' है। इन गलत, गन्दे और विकृत आरोपो से नसीबन को चिढ है। इसीलिए वह कहती है—"......अब पचास के आस-पास आकर क्या यही सब बाकी रह गया है मेरे लिए......इस उमर में हूँ और लोगों को शरम नही आती ऐसी बातें करते हुए......"[४९] वह यह साफ जानती है कि "बच्चन का चोरी मे कोई हाथ नही है।"

नसीबन तो कह रही है कि उसके मन मे बच्चन के प्रति ऐसी कोई भावना नही है, तो फिर क्या बच्चन उसे कुछ अन्य निगाहों से देखता है? "पर जब बस्ती में उसे लेकर फुसफुसाहट शुरू हुई थी, तो बच्चन ने पूरी आँखें खोलकर नसीबन को देखा था....शायद कही पर....शायद कुछ....पर दूसरे ही पल उसे अपने पर गुस्सा आया था और मन उचाट हो गया था....नसीबन के बाएँ हाथ की बीच वाली अँगुली से टूटा हुआ नाखून उसे बार-बार कुछ याद दिलाता था......जब माँ मरी थी और उस पर कपड़ा डाल दिया गया था तो बायाँ हाथ मूल से बाहर रह गया था....और उसकी बीचवाली अँगुली का नाखून कुछ इसी तरह टूटा हुआ था।"[५०] स्पष्ट है कि न नसीबन के मन में बच्चन के प्रति और न बच्चन के मन मे नसीबन के प्रति इस प्रकार के भाव थे। और फिर बच्चन केवल अपने मन की तुष्टि के लिए, किसी के प्रति अतृप्त चाह की पूर्ति के लिए मन-ही-मन किसी स्त्री की काल्पनिक कहानी कहता है, तो सत्तार को उस काल्पनिक कहानी में नसीबन ही झांकती हुई मिल जाती है। सत्तार को बच्चन पर चिढ आ जाती है। जो स्त्री शुद्ध मातृ-हृदय से उसकी ओर आकृष्ट हुई है; उसके सम्बन्ध में बच्चन यूँ कुछ कहे, उसे बिल्कुल मान्य नही था। इसी कारण जब वह नसीबन से सब कुछ साफ-साफ कह देता है तब—"उसने नसीबन की आँखों मे झांका था—वहाँ बादल-से घुमड़ रहे थे....और एक उठता हुआ सैलाब नजर आ रहा था।"[५१] और वह इतना ही कह पायी—"खैर, वह अपनी जाने।"[५२] यही स्वभाव है नसीबन का। "खैर, वह अपनी जाने" मैं तो वही करूँगी, जो मुझे और मेरे ईमान को ठीक लगता है। अशिक्षित नसीबन केवल वही करती रही जो उसे ठीक लगा। बच्चन, सत्तार, सलमा आदि के प्रति अपना कर्त्तव्य करते हुए उसने एक क्षणभर के लिए भी यह नही सोचा कि वे क्या सोचते होंगे अथवा लोग क्या कहेंगे। "खैर, वह अपनी जाने" इस संक्षिप्त से उत्तर मे कर्त्तव्य के प्रति उसकी तटस्थता की अभिव्यक्ति हुई है। परिस्थिति जब

और अधिक भयानक हो गई और पाकिस्तान बनने का जब ऐलान हो गया तब बच्चन ने आदमी भेजा था, अपने बच्चे ले आने के लिए। नसीबन ने सत्तार के साथ उसके दोनों बच्चे भेज दिए थे। तब उसकी मन स्थिति—" दिनभर नसीबन बहुत उदास रही। रात को जब सत्तार दोनों बच्चों को लेकर चलने लगा, तो नसीबन ने एक पोटली उसके हाथ में थमाई थी।—'यह भी बच्चन को दे देना। उसके जेवर हैं।'"[११] केवल जेवर ही नसीबन ने नहीं दिए हैं, जेवर के साथ साथ कुछ चाँदी के रुपये भी हैं। ये रुपये उसके अपने हैं—क्योंकि 'हैं तो अपने पर विपदा में घिरा है बिचारा इधर चोरी छिपे रहते हुए काम धाम भी नहीं कर पाया होगा, ऊपर से बच्चे जा रहे हैं, कुछ जरूरत भी तो पड़ेगी उसे यह देना, अपने समझकर ही खर्च कर ले। कोई बात मन में न लाए।'"[१२]

क्या कहे इस नसीबन को ? जो बच्चन उसकी बदनामी कर रहा है, उसे वह रुपये दे रही है, जो उसने पेट काट-काटकर जमा किए थे। 'नसीबन' इसी कारण तो बहुत ही ऊँची उठ जाती है। इस सामान्य चरित्र के भीतर की यही तो असामान्यता है। उसकी इसी असामान्यता के कारण "सत्तार कुछ कह नहीं पाया था, कुछ भी कहते हुए जैसे वह अपनी नजरों में अब बहुत छोटा हुआ जा रहा था।"[१३]

अन्य पात्रों की तुलना में नसीबन निर्भीक है तथा स्पष्टवादी। इन्हीं दो गुणों के कारण वह साईं को कई बार झिड़कती है। उसकी इस निर्भीकता का सब से बड़ा प्रमाण संघी लोगों के साथ उसके व्यवहार में मिलता है। बच्चन के हिन्दू बच्चे एक मुस्लिम स्त्री के घर में हैं यह सुनकर संघी लोगों का एक दल नसीबन के घर पर आता है। संघियों के प्रति मुस्लिमों के मन में 'डर' की भावना है ही। परन्तु नसीबन इनको निरुत्तर कर देती है। संघी लोग जब उस पर यह आरोप लगा देते हैं कि "हमें पता चला है कि आप दो अनाथ हिन्दू बच्चों का धर्म परिवर्तन करने वाली हैं यह हो नहीं सकता।"[१४] तब नसीबन इतना ही कह पाती है "क्या धरम" उसे और अधिक परेशान करने के बाद वह कह देती है—"बच्चे किसी अनाथालय में नहीं जाएँगे। हम यह झंझट जानते नहीं रही उनके मुसलमान होने की बात, सो सोलह आने गलत है।"[१५] और इसके बावजूद भी संघी लोग बच्चों को माँगते ही हैं तो नसीबन कहती है—'अरे बच्चे हैं ये, कोई काठ किवाड़ तो नहीं जो पड़े रहेंगे वहाँ। खूब आये आप लोग बच्चे हवाले कर दो। वाह भई वाह ! *जो करना हो करो जाकर पुलिस नहीं, लफ्टैन को बुला लाओ। अरे हम* काहे को बनाएँगे किसी को मुसलमान हमारे क्या बाल-बच्चे नहीं हैं हाँ नहीं तो " बड़बड़ाती हुई वह भीतर चली गई और गुस्से में ही उसने किवाड़ लगा लिए।"[१६] संघी-स्वयंसेवक अपना-सा मुँह लेकर खड़े थे। स्पष्ट है कि नसीबन इन

बच्चों को किसी भी स्थिति में पराये के हाथों में देना नहीं चाहती।

विभाजन के बाद धीरे-धीरे लोग पाकिस्तान की ओर निकल पड़े। परन्तु नसीबन इस बस्ती को छोड़कर जाना नहीं चाह रही थी। उसे इस बस्ती से अत्यधिक प्यार था; तथा यूँ अपनी मिट्टी को छोड़कर जाने की बात उसे बड़ी अजीब-सी लगती है। इफ्तिकार जब उससे पूछता है—"तुम जा रही हो......" "कहाँ जाऊँगी ?" "जहाँ और सब जा रहे हैं।" नसीबन हँस दी। उसकी हँसी में कोई अर्थ नहीं था।"[९] वह यह समझती ही नहीं "आखिर घर-बार छोड़कर लोग गए हैं।...कई-कई पुश्तों के नाल यहीं गड़े हैं...ऐ खुदा।"[१०] और इसी कारण बस्ती उजड़ जाने के बाद भी वह वहीं रहती है। आज इस घटना को हुए १४-१५ वर्ष बीत गए। परन्तु आज भी नसीबन को लगता है कि सब लोग कल तक तो यहीं पर थे। यह सब क्या हुआ है ? यह बस्ती यूँ उजड़ क्यों गई है ? आज जब कभी "नसीबन का मन डूबता, वह उधर ही ताकने लगती और उसे वे दिन याद आते जब वह बस्ती के बच्चों को खोजती हुई वहाँ जाया करती थी......"[११] नसीबन शायद किसी अनागत की प्रतीक्षा में है। इसीलिए वह उन रास्तों की ओर ही देखते रहती है, जो बस्ती की ओर आते हैं। एक दिन उसकी यह प्रतीक्षा समाप्त हो जाती है। क्योंकि वह अनुभव करती है कि सात-आठ नौजवान इसी बस्ती की ओर आ रहे हैं। "और मिनट भर में सारी पहचानें उभर आयी थीं......उन्हीं गए हुए और बिखर गए घरानों के बच्चे अब मजदूरी करने के लिए फिर लौटे थे...... और अपने पुराने घरों की जगह खोज रहे थे......चलते वक्त उनके अब्बा या घर-वालों ने बताया था—"उधर अपने घर हैं।"[१२] इनके आ जाने से "नसीबन खुशी से रो पड़ी थी।...और उन्हें अपने साथ ले गई थी......उन निशानों के पास जो अब भी बाकी थे..."[१३]

नसीबन के इस चरित्र के विकासात्मक अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष दिए जा सकते हैं—

नसीबन का मन 'अपरिवर्तनशील' है। अर्थात् अन्य पात्रों में जिस प्रकार नफरत की चिनगारी फैलती जाती है और उनमें जो भयानक परिवर्तन दिखाई देता है, उसका यहाँ पूर्णतः अभाव है। सहज मातृ-हृदय को लेकर वह जीती रही। इस मातृ-हृदय पर बाहरी बातों का, अफवाहें निन्दा अथवा बदनामी का कोई असर नहीं हुआ। 'बच्चे' यह नसीबन की बहुत बड़ी कमजोरी है और उसकी विशेषता थी। "उसकी आँखों में असीम ममता थी उन बच्चों के लिए...और शायद अपने लिए गहरा सन्नाटा।"[१४] सल्मा, सत्तार, बच्चन तथा इफ्तिकार के लिए भी उसके मन में इसी प्रकार की ममता है। प्रत्येक के दुःख में वह सहज रूप से घुल-मिल जाती है। उनके दुःखों के निराकरण के लिए वह प्रयत्नशील हो जाती है। दुःखों

के इसी अन्तीकरण के कारण वह सबको स्वीकार करके चलती है ।

प्रवाह के साथ वह बहती नहीं, अपितु 'स्थिर' रहकर दूसरों को सहारा पहुँचाती है । वास्तव में इस जलती हुई बस्ती में वह 'ओएसिस' की तरह है । अपनी मिट्टी से उसे बेहद प्यार है । इसी कारण वह यह नहीं समझ पाती कि लोग अपनी बस्ती को छोड़कर हमेशा के लिए दूर कैसे जा सकते हैं । 'नफरत' की इस चिनगारी से उसे चिढ़ है । इस चिनगारी को फैलाने वालों को वह कभी स्वीकार नहीं कर पाती । साईं को वह अन्त तक समझाते रहती है कि वह जो कुछ कर रहा है, वह गलत है और इसके बुरे परिणाम होने वाले हैं । इसी कारण "अब साईं भी दुखी था और किसी हद तक अपनी गलती मन ही मन स्वीकार कर चुका था ।"" साईं के इस पश्चात्ताप दग्ध वाक्य के नसीबन के चरित्र की ही विजय है । अशिक्षित होते हुए भी वह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अन्तर मानती है ।

नसीबन अत्यधिक स्वाभिमानी है । किसी के अपमान अथवा गलत व्यवहार को वह सहन नहीं कर पाती । स्वाभिमान के कारण वह साईं को डाँटती है, सभी रतन को मुँहतोड़ जवाब देती है । बच्चन के गहने, रुपयों के साथ लौटा देती है । वह स्वाभिमानी ही नहीं, जिद्दी भी है । इसी कारण वह सब का विरोध सहते हुए भी बच्चन के बच्चों को सहारा देती है, सत्तार को रहने के लिए अपनी जगह देती है तथा सलमा के साथ सहानुभूति जताती है ।

बच्चन के स्वभाव को समझ जाने के बाद तो उसे उसका तिरस्कार करना चाहिए था, पर वह नहीं कर सकी । तिरस्कार और नफरत ये उसके स्वभाव में हैं ही नहीं । उसका तो लक्ष्य है—कर्तव्य करते जाना । लोग क्या कहते हैं या कहेंगे, पर विचार करने वह कभी नहीं बैठती । यह नसीबन की त्रासदी है कि उसकी मन स्थिति को समझने वाला कोई नहीं था—सिवा सत्तार के । उसके पास अपने लिए केवल गहरा सन्नाटा है । उसके बारे में इतना ही कहना होगा "She is just a silent flame of love" प्यार और स्नेह की शांत ज्योति की तरह उसका व्यक्तित्व है । स्नेह की वह ममतामयी मूर्ति है ।

नसीबन जिस मार्ग पर से जा रही थी वही मार्ग श्रेष्ठ, व्यावहारिक और विधायक था—यह अन्त में सिद्ध हो जाता है । साईं भी इसे स्वीकार करता है । वास्तव में नसीबन का चरित्र लेखक के विश्वासों का प्रतीक है । वह मानवतावादी भावना का श्रेष्ठ मानवी मूल्यों का, करुणा, उदारता, सहनता, स्नेहशीलता, स्पष्टता, निर्भयता, धर्मनिरपेक्षता का प्रतीक है ।

धर्म और सम्प्रदाय से भी ऊपर उठकर केवल मनुष्य मात्र को लेकर सोचने वाली यह अशिक्षित गँवार स्त्री हजारों पढ़े लिखे परन्तु संकुचित और साम्प्रदायिक

लोगों को पराजित कर देती है, अपने इन्हीं मानवीय गुणों के कारण !

साईं :— एक ओर नसीबन प्रवाह-पतित न होते हुए अपने व्यक्तित्व तथा मानवीय भावों की गरिमा अन्त तक बनाए रखती है तो दूसरी ओर साईं प्रवाह के साथ बह जाता है। 'नफरत' की चिनगारी उसके भीतर प्रज्वलित हो उठती है और इसीलिए वह इस चिनगारी को और अधिक लोगों में फैलाने लगता है। साईं फकीर है। ऐसे फकीर भारत के किसी भी बस्ती में पाए जाते हैं। नफरत की यह चिनगारी साईं के भीतर प्रचलित होने के पूर्व साईं आम भारतीयों की तरह सबके साथ मिल-जुलकर रहा करता था। "जुम्मन साईं की कोठरी के सामने धूनी रमी रहती थी। ......इक्के और तांगे वाले, स्टेशन के कुली और छोटे दूकानदार वहाँ शाम को इकट्ठे होते और गप्पें लड़ाते।"[६६] जुम्मन साईं की चिकवों की इस बस्ती में काफी इज्जत थी। "साईं ही इस बस्ती के सभी झगड़ों का निपटारा किया करता था।"[६७] साईं जैसे बाहर से दिखता है, वैसे भीतर से नहीं। "यूं साईं दुनिया की बातों से बहुत दूर होने का नाटक करता था, पर भीतर-ही-भीतर वह उसी में रमा हुआ था। उसकी सुरमा लगी आँखें बाज की तरह तेज थीं। वह हरफ निगाह रखता था।"[६८] इसी कारण वह सलमा और सत्तार के व्यक्तिगत जीवन में झाँकता है। साईं खुद को इस बस्ती के मुसलमानों का प्रमुख मानता है। इसी कारण वह प्रत्येक के व्यक्तिगत जीवन की पूछताछ करते रहता है। यह साईं के व्यक्तित्व की कमजोरी ही है। इसी कारण नसीबन द्वारा बार-बार डाँटने पर भी वह दूसरों की जिन्दगी में टांग अड़ाते रहता है। वह लोगों को यह बतलाता है कि सारी दुनिया की जिम्मेदारी उसने ओढ़ ली।

अलीगढ़ का सियासी कारकून यासीन और सलमा का पति मकसूद के कारण साईं 'साम्प्रदायिकता' के जहर को फैलाने लगता है। इन लोगों के आने से पहले ...."रोजाना यह सब देखते हुए साईं निकल जाता था।......सब जैसे के तैसे रहते आ रहे थे और अपने कटोरे में पैसे खटका हुआ और तूंबी लिए हुए जब वह लौटता, तो जैसे शहर-भर का दर्द बटोर लाता।"[६९] तब जुम्मन साईं की बैठक में मुसलमान तांगे वाले और हिन्दू कुली समान रूप से आकर बैठते थे।........."इक्के वाले ज्यादातर मुसलमान थे और कुली हिन्दू, पर इनमें कहीं भी फर्क नहीं था। सब पर जमाने की मार थी और सब के नासूर एक-से रिस रहे थे और सब के मसले समान थे। उन्हें धर्म-चर्चाओं से मतलब नहीं था, पर इससे मतलब जरूर था कि धर्म उन जैसे बदनसीबों के लिए क्या कहता है ?"[७०] परन्तु यासीन और मकसूद के आने के बाद हिन्दू और मुसलमानों के मसले बदल दिए जाते हैं। यासीन उन्हें बतलाता है कि हिन्दू, हिन्दू हैं और मुसलमान, मुसलमान। परिणामतः साईं भी उसी दृष्टि से सोचने लगता है और अब उसकी बैठकें मस्जिदों में, और वह भी केवल

मुस्लिमो की ही होने लगती हैं और साई कहने लगता है, 'कानगरेस तो हिन्दुओ की जमात है।"[31] अथवा—' हिन्दू नेता यह चाहते हैं कि वे मुसल्मानो को साथ लेकर अभी तो अंग्रेजो से हुकूमत छीन ले, बस । बाद में वे मुसलमानो को अँगूठा दिखा देंगे, यही उनकी चाल है। "[1] साई के इन वक्तव्यों से स्पष्ट है कि वह प्रवाह-पतित हो रहा है। 'धर्म' के असली स्वरूप को जानते हुए भी वह अनजान बन रहा है। यासीन और मकसूद के कारण वह साम्प्रदायिक आग भड़काने के लिए प्रयत्नशील है। बच्चन के बच्चे उसे 'हिन्दू' लगते हैं, केवल बच्चे नही। अथवा बच्चन-नसीबन में वह गलत सम्बन्ध देखने लगता है। हर हिन्दू उसे अब मुस्लिम कौम के शत्रु लगने लगते हैं। इसी कारण वह लोगो को समझाने बैठता है—"हम सिर्फ अपनी कौम पर भरोसा कर सकते हैं। हिन्दू और अंग्रेज दोनो दगा देंगे हमें।'"[1] सत्तार जब साई, मकसूद और यासीन की नीतियो का विरोध करता है, तो साई उस पर न केवल चिढ जाता है अपितु 'साई ने उसी रात सत्तार को मस्जिद की कोठरी से निकलवा दिया था।"[3] आखिर सत्तार भी तो एक मुसलमान ही है। परन्तु साई को ऐसे व्यक्तियो से चिढ-सी हो गई है जो इस प्रकार साम्प्र-दायिकता को उभरने नही दे रहे हैं, जो विभाजन के विरोध मे हैं। पूरी बस्ती मे साई के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को जानने वाला एक ही व्यक्ति मौजूद है—इफ्तिकार तांगे वाला। इसी कारण इफ्तिकार साई की प्रत्येक नीति का विरोध करता है। सत्तार की विचारधारा को भी वही सही दिशा देता है। इफ्तिकार एक स्थान पर साई के सम्बन्ध में कहता है—"यह साई बडा घुटा हुआ आदमी है, सत्तार! शहर भर में घूम घूमकर यह करता क्या है? जितने बुरे फेलवाले लोग हैं, सबसे दोस्ती है इसकी। इससे अल्लाह का क्या वास्ता?"[4] स्पष्ट है कि उसकी 'कथनी' और 'करनी' में अन्तर है। इसको किसी षड्यन्त्र मे फँसाना भी मुश्किल है। क्योंकि "पुलिसवालों से बडी घुटती है उसकी।"[5] पुलिसवालों के साथ इसी घनिष्ठता के कारण साई निरपराध बच्चन को चोरी के मामले मे फँसा देता है। उसके बच्चो को निराधार बनाता है और बच्चन की सारी जानकारी सत्तार को है, इस सन्देह मे सत्तार को भी पुलिस की ओर से पिटवाता है। साई नसीबन के विशाल मातृ-हृदय को समझ नही सका है।

पाकिस्तान के प्रति इतना आग्रह रखनेवाला, लोगो के दिलो दिमाग पर 'पाकिस्तान' इस नये राष्ट्र का नशा चढानेवाला साई खुद पाकिस्तान नहीं जाता। इस बस्ती के प्रति उसके मन मे जो मोह है उस कारण वह नही गया अथवा कुछ अन्य कारण थे, नही मालूम। लगता ऐसा है कि बस्ती के मोह के कारण ही वह जा नही सका है। इस उजडी हुई बस्ती को देखकर साई अक्सर निराश हो जाता है और "अब साई भी दुखी था और किसी हद तक अपनी गलती मन-ही मन स्वी-

कार कर चुका था।"७७ लेखक के इस अन्तिम वाक्य के कारण साईं के चरित्र पर दूसरे ढंग से विचार करना पड़ता है। पश्चात्ताप के इस वाक्य से ही स्पष्ट है कि साईं मूलतः बुरे स्वभाव का नहीं है। मनुष्य-मन की कमजोरियाँ उसमें हैं औरों के विचार-प्रवाह में वह जल्दी बह जाता है। उसके पास किसी निश्चित सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक दृष्टि का पूर्णतः अभाव है। दृष्टि के इसी अधूरेपन के कारण वह यासीन और मकसूद के विचारों से बहक जाता है। दूर-दृष्टि का अभाव रहने के कारण ही वह इस नफरत की आग को फैलाते जाता है। धर्म और सम्प्रदाय से परे हटकर सहजता से जीने वाले लोगों के जीवन में ऐसे लोग व्यर्थ का तूफान निर्माण कर देते हैं।

'किसी के व्यक्तिगत जीवन में प्रवेश करना'—यह साईं की चरित्रगत कमजोरी है। स्वाभिमान भी इसमें नहीं है। इसी कारण सत्तार, सलमा और नसीबन द्वारा अपमानित होने के बाद भी वह उनके साथ बातें करता है। इस व्यवहार के मूल में 'उदारता' नहीं 'धूर्तता' है। अपने अपमान का बदला वह बहुत ही बुरे और विकृत पद्धति से लेना चाहता है। मानसिक दृढ़ता का भी उसमें अभाव है। पश्चात्ताप उसे तब होता है, जब बस्ती पूर्णतः खाक हो जाती है। असल में धोखा ऐसे ही लोगों से अधिक है; जो धर्म का चोला पहनकर धर्म के विरोध में कार्य करने लगते हैं।

सत्तार :— सत्तार किसी दूसरे कस्बे से इस कस्बे में आया था। इसके पहले वह किसी सर्कस कम्पनी में घोड़ों की जीन कसा करता था।७८ शहर में साईं से उसकी मुलाकात हुई थी। वहीं से साईं उसे इस बस्ती में ले आया था। शहर से इस बस्ती की ओर आते समय ही सत्तार के कानों में 'पाकिस्तान' की भनक पड़ चुकी थी। इसीलिए वह साईं से कह रहा था—"लगता है अब अपना पाकिस्तान बन जायेगा.........शायद एक बेहतर जिन्दगी मिले मुसलमानों को.........यहाँ तो बड़ी गरीबी है; न करने को काम, न रहने को जगह।"७९ पाकिस्तान के प्रति सत्तार के मन में आरम्भ में इस प्रकार का आकर्षण था। परन्तु इस बस्ती में आने के बाद धीरे-धीरे उसका यह आकर्षण समाप्त हो जाता है। इफ्तिकार तांगेवाला और नसीबन के कारण भविष्य में बनने वाले इस 'पाकिस्तान' के प्रति उसकी हमदर्दी खत्म हो जाती है और यासीन-मकसूद के कारण तो वह इस नये राष्ट्र का विरोध करने लगता है।

"इस बस्ती की मस्जिद की बाहर वाली एक कोठरी में सत्तार को रहने की जगह मिल गई थी।"८० नसीबन से उसका परिचय यहीं पर हुआ और सल्मा से भी परिचय हो गया। सल्मा का परिचय धीरे-धीरे प्यार में बदल गया। प्यार—जिसमें

शारीरिक प्यास ही अधिक है। शहर मे आए हुए इस युवक का बस्ती की किसी विवाहित स्त्री से इश्क शुरू हो गया है—यह सुनकर साई भडक उठता है। इसी कारण उसकी "कोठरी पर पेशी भी हुई।"[८] इस पेशी के बाद सत्तार यह अनुभव करता है कि सलमा और उसे लोग उनकी इच्छा के अनुसार जीने नही देना चाहते और फिर इसके कुछ ही हफ्तो बाद—'पर इधर पिछले कुछ हफ्तो से नसीबन देख रही थी कि सत्तार बहुत उदास रहने लगा था।"[९] इस उदासी का कारण सल्मा के प्रति मकसूद का लौट आना है।

मकसूद के वापिस आ जाने के बाद से ही सत्तार की जिन्दगी म जो उदासी छा जाती है, वह उसकी मृत्यु तक बनी रहती है। सत्तार अब अपने को बेहद अकेला अनुभव करने लगता है। उसे यह मालूम है कि सल्मा को मकसूद पसन्द नही है। मकसूद के यहाँ से तो वह भाग आई है। फिर वह तलाक देकर उससे शादी क्यो नही करती? सलमा की अपनी कुछ मजबूरियाँ हैं। 'और एक दिन सलमा भागी भागी आई थी और सिर्फ इतना ही कहकर चली गई थी कि "कल रात मुझे पीपल वाले घर म मिलना "[१०] शायद वह कुछ ठोस निर्णय लेना चाहती है। शायद वह अपने पति से तलाक लेना चाहती है। इसी सिल्सिले मे यह सत्तार से बात करना चाहती है और सत्तार उस रात "सोता ही रह गया था यह क्या हुआ? वह समझ ही नही पाया। यह कैसे हुआ और क्यो हुआ।"[११] "और उस रात के बाद सलमा बदल गई थी। साथ ही दूसरे दिन सत्तार को अस्पताल की नौकरी से भी जवाब मिल गया था।"[१२] सत्तार अब अपने को अत्यधिक अकेला और निराश अनुभव करने लगता है। नेताओ के भाषण सुनकर वह अंग्रेजो को मारने की तैयारियाँ शुरू कर देता है। यह सुनकर सलमा उसे मिलने का प्रयत्न करती है। परन्तु सत्तार बस इतना ही जवाब देता है 'अब मिलकर क्या करूँगा। उससे कहना जब मर जाऊँ तो मेरी कब्र पर मिलने चली आये, वही मुलाकात होगी।"[१३]

साम्प्रदायिकता की आग इस बस्ती मे फैलने लगी। यासीन और मकसूद इस आग को फैलाने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। सत्तार को ये साम्प्रदायिक बातें ठीक लगती थी। इसी कारण तो वह सोचता है कि "नसीबन को उसकी गुप्ती ही वापस कर आये, क्योंकि अब वह हिन्दुओ के साथ मिलकर अंग्रेजो को मारने मे मदद क्यो दे।"[१४] और फिर यह भी सोचता है कि इस प्रकार हिन्दुओ से नफरत करके वह सलमा के पति और उसके दोस्त की बातो की इज्जत कर रहा है, उन्ही के इशारे पर चल रहा है। इसीलिए फिर वह तय करता है कि—"वह ऐसा कोई भी काम हरगिज नही करेगा जिसमे मकसूद का हाथ हो।"[१५] सत्तार की द्वन्द्वात्मक स्थिति अन्त तक रहती है। साम्प्रदायिकता की ओर वह नहीं बढ सका, इसके पीछे यही

मनोवैज्ञानिक कारण है। यासीन और मकसूद के स्थान पर कोई और होता तो सत्तार भी इस आग को और फैलाता। विभाजन और नफरत की ओर देखने की उसकी अपनी कोई दृष्टि नही है। 'जो मकसूद और यासीन करेंगे वह मैं नहीं करूँगा।"— इतना ही वह तय कर लेता है। उसकी भावनात्मक जिन्दगी में मकसूद के आने से दरारें पड़ चुकी थीं; इसीलिए उसे मकसूद से नफरत है और इसी कारण मकसूद के हर कार्य से। और एक दिन नसीवन द्वारा उसे मकसूद की कमजोरियों का भी पता चलता है। मकसूद की स्त्रैणता से उसे और भी चिढ़ आ जाती है। वह सोचता है कि सलमा को लेकर वह कहीं भाग जाएगा। 'कहाँ ?' 'पाकिस्तान'। परन्तु इस पाकिस्तान के प्रति उसकी यह विरक्ति और भी बढ़ जाती है। जब उसे नसीबन याद दिलाती है कि मकसूद भी इसी पाकिस्तान के लिए तैयारी करवा रहा है और सलमा खुद अपनी भयावह स्थिति का रोते हुए जब वर्णन करती है तब "उन आँसुओं से नहाई सलमा उसे बहुत पाक लगी थी—बहुत सहनशील लगी थी।"[९] परन्तु दूसरे ही क्षण सन्देहों की छायाएँ उसकी चेतना पर मँडराने लगी थीं। मकसूद का बच्चा कैसे हो सकता है—"और उसे लगा था कि सलमा अपने किसी बहुत बड़े रहस्य को छिपाए हुए है। तब वह उसे बहुत ही हीन, गिरी हुई और नापाक लगी थी और उसने अपने सब सहारे टूटते हुए महसूस किए थे।"[१०] और "उसके सामने शून्य छाई हुई थी। कोई भी चीज साफ नजर नहीं आ रही थी। हर तरफ एक शोर था—ऐसा शोर, जिसमें कोई भी आवाज पहचानी नहीं जा रही थी।"[११]

साम्प्रदायिकता की इस आग के फैलने से जो सूक्ष्म परिवर्तन इस बस्ती में हो रहे थे; वह सत्तार के लिए असह्य था। वह किसी भी प्रकार का निर्णय नहीं ले पा रहा था। वह सलमा की मजबूरी को समझ पा रहा था, परन्तु उसे मुक्त कराने में असमर्थ था। साईं की ओर देखने की उसकी दृष्टि बदल गई थी। उसे विश्वास था तो केवल नसीवन पर। नसीवन के मानवीय गुणों के आगे वह अपने को बहुत ही छोटा अनुभव करता था। यासीन और मकसूद के प्रति उसके मन में जो गुस्सा है; उसे वह एक दिन क्रिया-रूप में उतारता है।........."पर मार-पीट की उसी झोंक में उसने मकसूद की नाक तोड़ दी थी।"[१२] और साईं ने उसी रात सत्तार को मस्जिद की कोठरी से निकलवा दिया था। और उसी वक्त नसीवन उसे अपने घर ले आयी थी।

नसीवन के यहाँ आने के बाद सत्तार की जिन्दगी का तीसरा और आखिरी हिस्सा शुरू हो जाता है। बच्चन और उसके बच्चों के प्रति नसीवन का सहज स्नेह देखकर वह इस स्त्री के सम्मुख मन-ही-मन नतमस्तक हो जाता है। सलमा पर होने वाले मकसूद के अत्याचारों को सुनकर और देखकर वह उसके खून का प्यासा हो जाता है। साईं सत्तार को पुलिस से चक्कर में फँसाने की पूरी कोशिश करता है।

नसीबन के प्रति बचपन के साथी माणिक और रुक्मिन के मद मवेता को सुनकर सत्तार और भी निराश हो जाता है। और लौटते हुए सत्तार को फिर अपना आना बेकार सा लगने लगा था । *नसीबन को लेकर जो जो और जिस जिस तरह की बातें* उसने सुनी थी उनसे उसकी परेशानी और बढ़ गई थी। " और इस सारी निन्दा के बाद भी नसीबन का अपने कर्त्तव्य के प्रति तटस्थता का भाव देखकर सत्तार मौन और गम्भीर हो गया था। सत्तार कुछ कह नही पाया था, कुछ भी कहते हुए जैसे वह अपनी नजरो म अब बहुत छोटा हुआ जा रहा था। "

और एक दिन पाकिस्तान बन गया। इस बस्ती के लोग धीरे धीरे पाकिस्तान की ओर जाने लगे। एक दिन सलमा भी मक़सूद के साथ निकल गई। जाने के पहले वह सत्तार से मिलकर गई। वह उस भी पाकिस्तान ले जाना चाह रही थी। परन्तु 'मैंने तो यहा तक कहा था हमारे साथ ही चलो पर वह माना ही नही। कहने लगा—वहाँ जाकर क्या मिल जायगा और नाराज होकर चला गया। " और वही मस्जिद के अहाते की एक कोठरी म उसने आत्म हत्या कर ली।

इस प्रकार सत्तार इस बस्ती म ही खत्म हो गया। पाकिस्तान गया नही। हालाँकि पाकिस्तान के सपने लेकर ही वह इस बस्ती म आया था। नसीबन की तरह सत्तार को भी लेखक की पूर्ण सहानुभूति मिल गई है। सत्तार उन आम भारतीयो का प्रतिनिधित्व करता है—जिनके पास घटनाओ के अर्थ लगाने की शक्ति नही होती, जो बड़े ही भावुक और सरल मन के होते हैं। सत्तार इसलिए बचा रहा क्योंकि उसे *'आग लगाने वालो से नफरत थी, आग से नही'*। इसी कारण नसीबन म और सत्तार म बहुत बड़ा अन्तर है। दोनो पाकिस्तान और विभाजन का विरोध करते हैं। साम्प्रदायिक आग से दोनो दूर रहते हैं। परन्तु कारण अलग अलग हैं। सलमा और उसके बीच मक़सूद और यासीन दीवार बनकर खड़े हो गए इस कारण वह उनस नफरत करने लगता है और इसी कारण नसीबन की तरह सोचने लगता है।

सलमा को पा जाने की सत्तार की इच्छा पूर्ण नही हो सकी है। वह सलमा की मजबूरी को पहले समझ नही सका। उल्टे उसके चरित्र पर गलत आरोप लगाता है। पूरी जिन्दगी म सत्तार को सहज, स्वाभाविक प्यार नहीं मिल सका है। इसी प्यार के लिए वह तड़पता रह गया। वह भावुक था, इसी कारण तो उसने आत्म हत्या कर ली। उसके मन म समाज राजनीति, धर्म आदि को लेकर अनगिनत प्रश्न निर्माण हो जाते हैं। इन सारे प्रश्नो का योग्य उत्तर उसे नहीं मिल सका है। वास्तव म सत्तार जैसे लोग ही इस देश मे बहुत बड़ी संख्या म हैं। योग्य मार्गदर्शन संस्कार और शिक्षा के अभाव म तथाकथित पढ़े लिखे लोग इन्हे बहकाकर अपने स्वार्थ के लिए सीढ़ियो की तरह उपयोग

कर लेते हैं। धर्म का गलत अर्थ इनके दिलो-दिमाग में भर कर आर्थिक प्रश्नों से उनका ध्यान खींच लेते हैं और साम्प्रदायिकता का जहर फैलाकर अपना फायदा कर लेते हैं।

टिप्पणियाँ

१, ३, ,४ २६ : लौटे हुए मुसाफिर, पृ० १
२. वही, पृ० ५
५, ६, ७. वही, पृ० २
८, ६६. वही, पृ० ४
९, १०. वही, पृ० १६
११, १२, ७१ वही, पृ० २७
१३. वही, पृ० ३६
१४. वही, पृ० १९
१५. वही, पृ० ३८
१६. वही, पृ० ६८
१७. वही, पृ० ७२
१८. वही, पृ० ५६
१९, २०. वही, पृ० ९७
२१. वही, पृ० ९८
२२. वही, पृ० १०२
२३. वही, पृ० १०४
२४, ३५, ३६ वही, पृ० १०५
२५. वही, पृ० १०७
२७. वही, पृ० ३
२७, ६५, ७७ वही, पृ० १११
३०. वही, पृ० २९
३१. वही, पृ० ३०
३२. वही, पृ० ३२
३३. वही, पृ० १०३
३४. वही, पृ० १०४
३७. वही, पृ० १०९
३८. वही, पृ० ११०
३९. वही, पृ० ७

४० लौटे हुए मुसाफिर, पृ० १०
४१ वही, पृ० १४
४२, ४३, ८५ वही, पृ० १५
४४, ८६ वही, पृ० २५
४५ वही, पृ० २६
४६ वही, पृ० ५२
४७ वही, पृ० ६०, ६१
४८ वही पृ० ६५
४९ वही पृ० ७४
५० वही, पृ० ८०
५१, ५२ वही, पृ० ८८
५३, ५४, ५५ वही, पृ० ९९
५६, ५७ वही, पृ० ९२
५८ वही, पृ० ९३
५९ वही, पृ० १०६
६० वही, पृ० १०७
६१ वही, पृ० ११३
६२, ६३ वही, पृ० ११६
६४ वही, पृ० १०१
६७, ६८, ७९ वही, पृ० ९
६९ वही, पृ० १७
७० वही, पृ० १८
७२ वही, पृ० २८
७३ वही पृ० ४७
७४ वही, पृ० ४८
७५, ७६ वही, पृ० ५८
७८ वही, पृ० ८
८० वही, पृ० २०
८१, ८२ वही, पृ० २१
८३ वही, पृ० १०
८४ वही, पृ० १२
८७, ८८ वही, पृ० २१
८९ वही, पृ० ४५

९०, ९१. लौटे हुए मुसाफिर, पृ० ४६
९२. वही, पृ० ४८
९३. वही, पृ० ८५
९४. वही, पृ० ९९
९५. वही, पृ० १०७
२९. साहित्यकोश, भाग १, पृ० ३०७
(सं० : धीरेन्द्र वर्मा)

शह और मात : तरल प्रेम की सहज अभिव्यक्ति

सूर्यनारायण रणसुभे

राजेंद्र यादव की उपन्यास कला का उद्देश्य प्रगतिवादी चिन्तनधारा के आधार पर मध्यवर्गीय समाज के पारिवारिक जीवन का विश्लेषण तथा चित्रण करना है।

—डा० सुषमा धवन

इसकी (शह और मात) भी कथावस्तु यादव के अन्य उपन्यासों की भाँति व्यक्तिनिष्ठ और आत्मपरक है तथा सामाजिक सम्बन्धों का अन्तर्भाव केवल परिवेश के रूप में किया गया है।

—डा० महेंद्र चतुर्वेदी

'शह और मात" व्यक्तिपरक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है।

—डा० महावीर लोढा

'शह और मात' की कथा एक सस्ती और रोमानी कथा है।

—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

इसमें (शह और मात) *युग के सन्दर्भ में संक्रान्तिकालीन अन्तर्द्वन्द्व का* चित्रण हुआ है।

—डा० शान्ति भारद्वाज

औरत की हालत सभी जगह एक-सी है। चाहे वह राजकुमारी हो या नौकरानी—वह हमेशा पुरुष का तेवर देखकर चलती है। उसकी इज्जत उसके चाहने न चाहने पर है। उसकी प्रतिष्ठा उसकी शरीर शुद्धता की परम्परागत मान्यता पर है।"

—लेनिन

९

शह और मात

'शह और मात' के पूर्व यादव के दो और उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं—'उखड़े हुए लोग' तथा 'प्रेत बोलते हैं' (सारा आकाश)। इन दोनों उपन्यासों की कथावस्तु के सम्बन्ध में विविध मत व्यक्त किए गए हैं। डा० शान्ति भारद्वाज के अनुसार "इन दोनों उपन्यासों में यादव प्रगतिवादी चिन्तनधारा को अपनाते हुए मध्य वर्ग के जीवन का चित्रण करते हैं।"[1] अथवा "राजेन्द्र यादव की उपन्यास-कला का उद्देश्य प्रगतिवादी चिन्तनधारा के आधार पर मध्यवर्गीय समाज के पारिवारिक जीवन का विश्लेषण तथा चित्रण करना है।"[2] आलोचकों का यह वर्ग मानता है कि राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में प्रगतिवादी चेतना है, समाज की विसंगतियों का चित्रण है। उनके तीनों उपन्यासों को पढ़ने के बाद यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके उपन्यासों में प्रगतिवादी चेतना उस रूप में नहीं है जिस रूप में वह यशपाल, नागार्जुन तथा इस काल के अन्य साहित्यकारों में अभिव्यक्त हुई है। प्रगतिवादी विचारधारा को यादव वैयक्तिक स्तर पर झेलते हैं तथा उनके पात्र भी अपनी व्यक्तिगत जिन्दगी में ही सनातनी तथा प्रगति-विरोधी तत्वों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। इसलिए यादव की मूल पकड़ व्यक्ति और उसके परिवेश के परस्पर-विरोधी संघर्ष पर ही है। यादव मूलतः व्यक्तिमन का सूक्ष्म चित्रण करने वाले सजग कथाकार हैं। उनके उपन्यासों की कथावस्तु के सन्दर्भ में डा० महेन्द्र चतुर्वेदी का यह कथन अत्यंत ही सार्थक लगता है कि— "इनकी (शह और मात) भी कथावस्तु यादव के अन्य उपन्यासों की भाँति व्यक्तिनिष्ठ और आत्मपरक है तथा सामाजिक सम्बन्धों का अन्तर्भाव केवल परिवेश के रूप में किया गया है।"[3] अर्थात् प्रस्तुत उपन्यास पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ और आत्मपरक है। सामाजिक सम्बन्ध तथा सम्पूर्ण परिवेश यहाँ पृष्ठ-भूमि के रूप में ही आया है। संभवतः इसीकारण डा० महावीरमल्ल लोढ़ा इसका विवेचन "व्यक्तिपरक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास"[4] के अन्तर्गत करते हैं। इसकी कथावस्तु को लेकर आलोचकों में विभिन्न प्रकार के मत हैं। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय इसे "एक सस्ती रोमानी कथा" कहते हैं। और डा० भारद्वाज यह मानते हैं कि

"इस युग के सन्दर्भ में संक्रान्तिकालीन अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण हुआ है।"[1]

मतमतान्तरों के इस जंगल में इसकी कथावस्तु पर एक निश्चित निष्कर्ष देने से पूर्व संक्षेप में इसकी 'कथावस्तु' को समझ लेने की कोशिश करें और फिर तभी इन सारे मतों पर विस्तार से विवेचन सम्भव होगा।

'शह और मात' सुजाता नामक एक युवा लेखिका की मन स्थिति को लेकर लिखा गया उपन्यास है। सम्पूर्ण उपन्यास में सुजाता की डायरी के पृष्ठ ही अधिक मात्रा में दिए गए हैं। डायरी के इन पृष्ठों से स्पष्ट हो जाता है कि शह और मात' उदय और सुजाता की प्रेम-कहानी है। एक प्रसिद्ध लेखक के सम्पर्क में सुजाता नामक एक प्रबुद्ध और अपने अहं के प्रति अत्यधिक सजग ऐसी युवती आती है। जाने-अनजाने में इस सुजाता के मन में उदय के प्रति प्रेम की सूक्ष्म तरंगें निर्माण हो जाती हैं। उसके व्यक्तित्व में सूक्ष्म परिवर्तन होने लगता है। फिर भी वह किसी से स्पष्ट करना नहीं चाहती कि उसका किसी उदय से प्यार है।

कॉलेज की ओर से होने वाले नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में सुजाता ध्रुवस्वामिनी की भूमिका अभिनीत कर रही है। उसकी बड़ी इच्छा है कि इस नाट्य प्रयोग के समय उदय उपस्थित रहे। परन्तु उदय वहाँ नहीं आता। उलटे नाटक की समाप्ति के बाद उसके अभिनय पर बेहद खुश होकर उसे प्रशंसा देने चली आती है—अपर्णा नामक कोई एक प्रिन्सेस। और इस प्रकार सुजाता का परिचय प्रिन्सेस अपर्णा से हो जाता है। यह परिचय निकट सम्पर्क में तथा सुख दुःख के परस्पर आदान प्रदान तक व्यापक हो जाता है। प्रिन्सेस अपर्णा की सम्पूर्ण जिन्दगी का, उसके सुख दुःखों का सुजाता बड़े विस्तार से वर्णन करती है—उदय के यहाँ। अब तो उसकी दैनन्दिन जिन्दगी का एक क्रम ही बन जाता है कि जो कुछ प्रिन्सेस के सम्बन्ध में वह नया जान सकी है, उसे तुरन्त उदय को बतला देना। "और मुझे लगा कि मेरे दिल की इतनी देर की बेचैनी, व्याकुलता, उद्वेलन और उद्वेग उदय को सारा किस्सा बताकर एकदम शान्त हो गया • जैसे यह बोझ था जो उन्हें सौंपना था।"[1] धीरे-धीरे सुजाता उदय और प्रिन्सेस को अपनी उपलब्धि मानने लगती है। परन्तु अचानक एक दिन उसे पता चलता है कि उदय तो उसके साथ गम्भीरता का नाटक ही कर रहा था। वास्तव में उदय सुजाता का माध्यम के रूप में उपयोग कर रहा था—अपर्णा के अध्ययन के लिए। प्रिन्सेस अपर्णा से वह न केवल परिचित ही अपितु उसी ने प्रिन्सेस तथा सुजाता के परस्पर परिचय का षड्यन्त्र बनाया था। सुजाता का निरीक्षण उदय कर रहा था—सभी कोणों से और सुजाता के माध्यम से वह प्रिन्सेस अपर्णा का भी अध्ययन कर रहा था। और सुजाता समझ रही थी कि वह उदय का निरीक्षण कर रही है—सभी कोणों से। लेकिन उदय को प्रिन्सेस अपर्णा का अध्ययन सभी कोणों से करना सम्भव नहीं था। उसे किसी माध्यम की आवश्य-

कता थी। और उसने सुजाता को माध्यम बनाया है। लेखिका सुजाता समझ रही थी कि वह उदय का अध्ययन एक लेखकीय दृष्टि से कर रही है; परन्तु बाद में उसे पता चलता है कि उदय के जिस व्यक्तित्व के अंश का और व्यवहार का वह निरीक्षण कर रही थी, वह वास्तव में उसका अभिनय था। इस प्रकार 'शह और मात' दो लेखकों के परस्पर-विरोधी अध्ययन के प्रयत्न की कहानी है। निरीक्षण और अध्ययन की इस स्पर्द्धा में उदय मात कर चुका है—सुजाता को। और सुजाता? वह उदय को शह देना चाह रही थी, परन्तु खुद मात खा चुकी है।

एक लेखक-लेखिका के जीवन की घटनाओं को लेकर उपन्यास लिखने का यादव जी का प्रत्यन स्तुत्य ही है। क्योंकि कलाकरों की जिन्दगी से सर्वसाधारण पाठक अपरिचित ही होता है। इस उपन्यास के दोनों पात्र—उदय और सुजाता—कलाकार की जिन्दगी जीने की कोशिश करते हैं और हर बार इसमें हार जाते हैं। क्योंकि उनके भीतर बैठा हुआ "सनातन मनुष्य" उनके कलाकार व्यक्तित्व को मात कर देता है। माध्यम के रूप में सुजाता का उपयोग करने का बहुत बड़ा खेद उदय को है—इसलिए उदय मात खा चुका है तथा उदय का अध्ययन करने निकली सुजाता उसी पर प्यार करने लगती है—यह सुजाता की हार है। चूंकि इस उपन्यास की कथावस्तु का सम्बन्ध लेखन-कर्म से जुड़ा हुआ है, इस कारण इस में लेखन के सम्बन्ध में अनेक विचार आए हुए हैं; उनकी भी परीक्षा करनी पड़ेगी। इस प्रकार इसकी कथावस्तु में—(१) लेखक-लेखिका की एक-दूसरे को समझ लेने की कोशिश, (२) स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे के प्रति प्यार और उस समय की उनकी मनःस्थिति, (३) लेखन के सम्बन्ध में विभिन्न विचार, (४) अत्यन्त सम्पन्नता में परन्तु बन्धनों के बीच जीनेवाली स्त्री की मनःस्थिति—इन चार विभिन्न स्थितियों का उद्‌घाटन किया गया है।

समीक्षा :—प्रेम-कहानी अथवा अधिक-से-अधिक रोमांसभरी प्रेम-कहानी के रूप में आलोचकों ने इसकी कथावस्तु को स्वीकार किया है। वैसे तो हिन्दी में नब्बे प्रतिशत उपन्यास प्रेम के सम्बन्ध को ही लेकर लिखे जाते हैं। फिर क्या 'शह और मात' भी इसी कोटि का उपन्यास है? क्या इसे भी हम सस्ती और रोमानी प्रेम-कहानी के रूप में स्वीकार कर सकेंगे? तटस्थता तथा गम्भीरता के साथ इस उपन्यास का अगर हम अध्ययन करेंगे, तो ये निष्कर्ष झूठे साबित हो जाएँगे। क्योंकि इसमें प्रेम की मानसिक अवस्था का बड़ा ही जीवन्त चित्रण किया गया है। युवावस्था तो स्वप्नों और प्रेम के मूड्स की अवस्था है। यह प्रेम मात्र मानसिक ही होता है। भारत के सन्दर्भ में तो इस प्रेम के क्षेत्र में कोई चमत्कारिक घटना लाखों में से किसी एक के जीवन में घटती है। युवक-युवतियां प्रेम के स्वप्नों में डूबी रहती हैं और बाद में परम्पराबद्ध पद्धति से किसी और के साथ विवाहबद्ध हो जाती हैं।

खुलकर प्रेम प्रकटीकरण यहाँ सम्भव नहीं है। इस प्रेम की न अभिव्यक्ति होनी है और न वह क्रियारूप मे उतरता है। इस उपन्यास मे सुजाता इस नियति को स्वीकार करती है और कहती है—अंग्रेजी लडकियो की तरह हमारा प्रेम न तो किलकारियो और कहकहे वाले उन्मुक्त आलिंगनो मे निकलता है, न हमारा क्रोध हिस्टीरिया के दौरो जैसी चीखो मे। चाहो तो कह सकते हैं, हममे जीवन की कमी है, इसीलिए न तो खुले और सम्पूर्ण मन से प्यार कर सकती हैं, न क्रोध।"* इस स्थिति मे हिन्दुस्तानी लडकी चुपचाप भीतर-ही-भीतर घुटती रहती है। अथवा "हम हिन्दुस्तानी लडकियो को चुपचाप रोने का रोग है जैसे अगरबत्ती चुपचाप जलती है।" सम्पूर्ण उपन्यास मे सुजाता इस प्यार को लेकर क्षुब्ध है, परेशान है। मानसिक स्तर पर वह उदय के साथ पूर्णत जुड चुकी है। परन्तु उसका विवाह किसी और के साथ होने वाला है। परम्परावद्ध प्रेम-कहानियो मे और इस उपन्यास की कथावस्तु मे यही पर अन्तर है क्योकि इस उपन्यास में प्रेम के विशुद्ध मानसिक स्वरूप की ही चर्चा की गई है। यह प्रेम 'व्यक्तित्व को किस प्रकार परिवर्तित करता है—इसे लेखक देखना चाह रहा है। परम्परावद्ध प्रेम कथाओ मे एक-दूसरे के प्रति आकर्षण शुरू हो जाता है, यह आकर्षण 'प्यार' मे परिवर्तित हो जाता है, फिर नायक-नायिका के मिलन मे बाधाएँ आती हैं, उन सारी बाधाओ को पार करके अन्त मे उनका विवाह हो जाता है। अगर परस्पर विवाह नहीं हो सका तो फिर किसी दूसरे के साथ विवाह हो जाता है। परन्तु वहाँ पर भी वे एक-दूसरे के लिए तडपते रहते हैं और अन्त मे एक-दूसरे का नाम लेते हुए या तो मर जाते हैं या फिर मिल जाते हैं। 'प्रेम' का यह रूमानी स्वरूप है। वास्तव मे भारतीय समाज मे ऐसा नहीं होता। यहाँ 'प्रेम' एक विशेष आयु की मानसिक अवस्था मात्र है। एक-दूसरे के प्रति मानसिक खिचाव है, जबरदस्त भूख है। परन्तु सस्कार, परिवेश, परिस्थिति तथा अन्य कारणो से यह प्रेम भीतर-ही-भीतर रह जाता है। इसकी अभिव्यक्ति न होने से घुटन पैदा हो जाती है। यह घुटन, ये स्वप्न, ये मन स्थितियाँ जाने-अन-जाने में उस व्यक्ति के व्यक्तित्व मे सूक्ष्म परिवर्तन कर देते हैं। उस व्यक्ति के सारे सस्कार, सारी आशाएँ, सारा भविष्य इस मन स्थिति से झाँकने लगता है। इस मानसिक स्थिति को कल्पनाजीवी कहकर हम चाहें जितना दुतकारें तो भी इस स्थिति की प्रामाणिकता को तथा उसके सूक्ष्म कार्य को हम नकार नहीं सकते। दुर्भाग्य से हिन्दी के अब तक के उपन्यासकारो ने प्रेम को अत्यन्त ही नकली, भावुक और अश्रुजीवी रूप मे ही बतलाया है। श्री राजेन्द्र यादव प्रेम की इसी स्थिति को अधिक गहराई और गम्भीरता से देखना चाह रहे हैं। वे इस प्रेम को सफल-असफल बनाने के चक्कर मे नहीं जाते। उलटे इस मानसिक स्थिति के भीतर उतर कर व्यक्ति के अहं को, उसके भीतरी सूक्ष्म परिवर्तनो को देखना, परखना चाह रहे हैं। सम्भवत इसी कारण नामवर सिंह जैसे

आलोचक ने कहा है कि "बारह साल से लेकर सत्तर साल तक का हर लेखक हमारे यहाँ प्रेम की थीम जरूर घसीटता है; लेकिन एक भी तो ऐसा उपन्यास नहीं है जो आप को आकंठ डुबा दे। लगे कि आप सचमुच प्रेम की गहराइयों में उतर आए हैं·········प्रेम का अर्थ या तो उनमें घोर शारीरिक उत्तेजना में किए गए आलिंगन-चुम्बन में मिलता है या फुसफुसे लोगों की गिलगिलाती छिछली आदर्शवादी भावुकता में······प्रेम सूक्ष्म और अनजाने रूप में सारी मानसिक बनावट के स्तर बदलता है······वह एकान्त और मधुर आत्मीय क्षण देता है।"[¹] एकान्त मधुर और आत्मीय क्षणों को पकड़ने का प्रयत्न लेखक ने इस उपन्यास में किया है। मध्यवर्गीय युवती का किसी युवक के सम्पर्क में आने पर उसकी मानसिक उथल-पुथल का बड़ा ही सजीव चित्रण इसमें किया गया है। इस युवती के मन की कुण्ठाएँ, हीन-ग्रंथियाँ, दमित वासनाएँ, भय, अहं आदि का अत्यन्त ही सहज, सूक्ष्म तथा गम्भीर चित्रण इस उपन्यास में हुआ है—और यही उसकी कथावस्तु है।

कथावस्तु की यथार्थता पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाए जा सकते; क्योंकि इस प्रकार मात हो जाने की स्थिति किसी लेखक-लेखिका के जीवन में ही नहीं, आम आदमी में भी संभव है। किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व की किसी विशेषता के सम्मुख हम नतमस्तक हो जाते हैं; उसकी उस विशेषता के कारण हम उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी करने लगते हैं। और अचानक हमें किसी दिन पता चलता है कि वह उसकी विशेषता नहीं, चतुराई थी या अभिनय था तो हमें एक जबरदस्त मानसिक आघात हो जाता है। ठीक यही स्थिति सुजाता की है। उदय की डायरी का आखिरी पन्ना पढ़कर उसका स्वप्न-भंग हो जाता है। उदय वास्तव में सुजाता का माध्यम के रूप में उपयोग कर रहा था और पगली सुजाता उदय और अपर्णा को अपनी उपलब्धि मान रही थी। वास्तव में माध्यम की अपनी कोई उपलब्धि नहीं होती। सुजाता के क्षुब्ध होने का एक मात्र कारण यह है कि उसके अनजाने ही उसका उपयोग सेतु के रूप में किया गया है। उसका सारा अहं टूट जाता है। आधुनिक युग में व्यक्ति की इस प्रकार की भीतरी टूटन आम स्थिति हो गई। राजनीति, धर्म, व्यापार आदि प्रत्येक क्षेत्र में 'सेतु' के रूप में प्रतिभाशाली व्यक्तियों का उपयोग कर लिया जा रहा है। भावुक, ईमानदार और मेहनती युवक-युवतियों का इस प्रकार 'सेतु' की तरह उपयोग—२०वीं शती की अपनी विशेषता है। 'साहित्य' में भी यही चल रहा है—यह इस उपन्यास ने सिद्ध कर दिया है। इसलिए सुजाता का इस प्रकार ठगा जाना अपने आप में आधुनिक युग की यथार्थता को ही स्पष्ट करता है। यह यथार्थ भयावह, क्रूर और निष्ठुर है। परन्तु इसको नकारा भी नहीं जा सकता।

इस उपन्यास को यथार्थवादी टच देने की इच्छा से ही यादव ने इसकी भूमिका लिखी है और वह भी उपन्यास की डायरी शैली में ही। १० जुलाई,

१९५८ ई० की डायरी के पृष्ठ पर वे लिखते हैं कि 'कथाकार सुजाता की मृत्यु का समाचार मुझे एक विचित्र-से सन्तुष्ट उल्लास से भर गया है। अब मैं निर्द्वन्द्व होकर उसकी डायरी के इन कुछ पन्नों को पाठकों के सामने रख सकूँगा।''[१०] सुजाता आज गुजर गई हैं। मृत्यु के समय उनकी क्या आयु थी, नहीं मालूम। परन्तु लेखक को डायरी सौंपते समय सुजाता ने यह जो कहा है—"देख भैया, उसमें जाने क्या-क्या बचपने की उलटी-सीधी बातें लिखी हैं।"[११] उससे ऐसा लगता है कि मृत्यु-समय सुजाता प्रौढ़ आयु की स्त्री रही होगी। क्योंकि वह उदय के साथ के सम्पर्क के उन दिनों को "बचपने की उलटी-सीधी बातें" कह रही है। सुजाता की मृत्यु सन् १९५८ में हुई है। उदय के सम्पर्क के समय सुजाता की आयु २१-२२ अगर समझें (क्योंकि वह एम ए की छात्रा है) तो उसकी मृत्यु ४०-४५ वर्ष में हुई है। इसका अर्थ हुआ कि १९३२ ३३ ई० में वह उदय के सम्पर्क में आयी थी। परन्तु उपन्यास में बम्बई का जो वर्णन हुआ है वह सन् १९३२-३३ का नहीं १९५५-५८ ई० का है। "और जब यह सुना कि सरदार पटेल ने तेजी से रियासतों का विलीनीकरण शुरू कर दिया है तो यहीं जम गए।"[११] अपर्णा के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि रियासतों के विलीनीकरण के बाद वह बम्बई में रह रही है और आज इस बात को १० से अधिक वर्ष हो गये। स्पष्ट है कि सुजाता की यह प्रेम-कहानी, सन् १९५८ के बीच ही घटित हो रही है। फिर इन विरागत वक्तव्यों का कौन-सा स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। स्पष्ट है कि लेखक आवश्यकता न होने हुये भी सुजाता को 'यथार्थ चरित्र' घोषित करने गया है और उसमें उसे बेहद असफलता मिली है। कथाकार सुजाता की मौत का जिक्र न करते हुए भी इस उपन्यास को लिखा जा सकता था। तब तो यह उपन्यास अधिक जीवन्त बन जाता। परन्तु यादव वक्तव्य देने के अपने मोह को रोक नहीं सके हैं। वास्तव में सुजाता अपनी डायरी के पन्नों में जीवन्त रूप से उभरकर आयी है।

इस उपन्यास में 'अपर्णा' नामक किसी प्रिन्सेस का जो विस्तार से विवेचन हुआ है, उसकी यथार्थता को लेकर भी अनेक प्रश्न उठाये जा सकते हैं। क्योंकि अपर्णा का सम्पूर्ण जीवन अत्यन्त ही करुण, हृदयद्रावक और यातनामय है तो दूसरी ओर उससे सम्बन्धित उसके पति तथा भाई का जीवन भड़कीला और रोमान्स से परिपूर्ण है। उदय इस जीवन को ही करीब से जानना चाहता है। "संस्कार और वर्ग की दीवारों की दरार टटोलने की बेचैनी" से उदय गुजर रहा है। रियासतों के प्रमुखों का जीवन आज भले ही अयथार्थ लगता हो तो भी उसे एक ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। सुजाता और उदय का यह शह और मात का खेल इसी जीवन को केन्द्र में रखकर चल रहा है। इसीलिए उपन्यास की कथावस्तु में उसकी अनिवार्यता को हम नकार नहीं सकते।

सम्पूर्ण उपन्यास में कुल तीन व्यक्तियों की डायरी के पन्ने हैं। लेखक राजेन्द्र यादव की डायरी के कुछ बिखरे हुए पन्ने भूमिका के रूप में (पृ० १ से ७ तक), सुजाता की डायरी के पन्ने (पृ० १७ से २१९ तक), उदय की डायरी के पन्ने (पृ० २२० से २२७ तक) तथा सुजाता की डायरी : एक नोट (२२९ पृ०)—इस प्रकार कुल २२९ पृष्ठों का यह उपन्यास है। काल की दृष्टि से सोमवार ३ जून से मंगलवार २३ जुलाई तक की कालावधि को (कालावधि की मन:स्थिति को) इसमें रखा गया है। इन कुल इक्कावन दिनों में डायरी केवल पैंतीस दिन ही लिखी गई है। अब इन ५१ दिनों के भीतर घटित घटनाओं की सूची बनाएँगे तो निराशा ही हाथ लगेगी। एक पुरुष के सम्पर्क में आने के बाद एक युवा स्त्री की इक्कावन दिनों की मन:स्थिति इतनी ही इसकी कथावस्तु है। उदय से मिलने जाने के पूर्व की मन:स्थिति, मिलकर आने के बाद की मन:स्थिति, अपर्णा से परिचय हो जाने के बाद की मनःस्थिति—यही डायरी के पन्नों में बिखरा पड़ा है। घटनाओं के अभाव के कारण गतिशीलता का यहाँ पूर्णतः अभाव है। स्वयं लेखक भी कथावस्तु की इस मर्यादा से परिचित है। इसीलिए उसने लिखा है—"........जैसे सिगार जलता है........मंद-मंथर सुलगता रहता है शायद कुछ इसी तरह भी इस कहानी की गति हो गई है।"[११]

कथावस्तु की इसी गतिहीनता के कारण उसने यहाँ तक लिखा है—"आवेश और उत्तेजना से पागल मनोभावों और घटनाओं की आकस्मिकता से भरी हुई कहानियाँ पढ़ने वाला साधारण कथारसग्राही पाठक पता नहीं इसे पढ़ भी पायेगा या नहीं।"[१४] घटनाओं के सम्बन्ध में उसने लिखा है—"प्रथम पुरुष डायरी में लिखी गई कहानी में घटना सीधे रूप में न आकर स्मृतियों और मूड्स में प्रतिफलित होकर आई है।"[१५] इन्हीं विशेषताओं के कारण परम्परावद्ध दृष्टि से इसकी कथावस्तु का मूल्यांकन संभव नहीं है। कथावस्तु के विकास का परम्परावद्ध अर्थ हम घटनाओं की क्रमवद्धता से लेते रहे हैं। प्रेमचन्द तक के उपन्यासों में कथावस्तु के विकास का क्रम इस प्रकार होता था—

घटनाएँ—उनसे उभरने वाली मानसिक अवस्था—फिर घटनाएँ—फिर मन:स्थिति।

वहाँ घटनाओं से मन:स्थिति बनती-बिगड़ती थी। परन्तु जहाँ जीवन अधिक अन्तर्मुख बन गया हो, वहाँ मन:स्थिति पहले होती है बाद में घटनायें। लेखक अब उपन्यास के माध्यम से केवल घटनाओं को क्रमवद्ध नहीं रखना। वह इन घटनाओं के बहाने मानसिक अवस्था का तथा उस व्यक्तित्व का विस्तार से चित्रण करता है। इसीलिए इस "मानसिक अवस्था" का अब अत्यधिक महत्त्व है। घटनायें वही हैं दैनंदिन जीवन की—मामूली, क्षुद्र। अब इस जटिल जीवन में अद्भुत और संयोग से

परिपूर्ण ऐसी घटनाएँ सम्भव नहीं है। अब है तो मात्र मन स्थिति। अलग-अलग मन स्थितियों में जिन्दगी भर जीने की यह मजबूरी अब आम होती जा रही है। वास्तव में यह २०वीं शती विविध मन स्थितियों में जीने वाले लोगों की शती है। कम-से-कम भारतीय मध्यवर्ग की तो यही नियति है। इसी अर्थ में 'शह और मात' की कथावस्तु अधिक यथार्थ है, अधिक स्वाभाविक है।

यादव ने इस उपन्यास के सम्बन्ध में लिखा है—"हो सकता है इस दृष्टि से मैंने अपने को पात्रों के रूप में बाँटकर मुखर चिन्तन या लाउड थिंकिंग ही किया हो और लिखने के दौरान पात्रों के साथ-साथ या उनकी मार्फत अपनी उलझनें और समस्यायें सुलझाने की कोशिश भी की हो।"[१६] एक ओर यादव भूमिका में डायरी के पृष्ठ लिखकर पाठकों को यह बतलाना चाह रहे हैं कि सुजाता की डायरी पूर्णतः यथार्थ है, तो दूसरी ओर यह भी स्पष्ट कर रहे हैं कि इनके माध्यम से उन्होंने 'लाउड थिंकिंग' किया है। फिर एक बड़ी परेशानी हो जाती है क्योंकि यादव इन पात्रों के साथ इतने उलझ गए हैं कि कहीं ये इन्हें अपना प्रतिरूप बतलाने की कोशिश करते हैं, और कहीं अपने से एकदम अलग। प्रश्न मुखर चिन्तन के होने अथवा न होने का नहीं, (क्योंकि प्रत्येक कृति कम-अधिक मात्रा में लेखक के मुखर चिन्तन के कारण ही जन्म लेती है।) यह चिन्तन कलात्मकता की मर्यादा तक पहुँच पाया है अथवा नहीं इसका है। इस दृष्टि से यादव को सफलता मिली है। इन पात्रों के माध्यम से अपने को विविध रूपों में बाँटकर किए गये मुखर चिन्तन से वे सन्तुष्ट हैं अथवा नहीं, यह उनका व्यक्तिगत प्रश्न है। परन्तु इतना जरूर कहा जा सकता है कि वे इसकी यथार्थता को प्रेम की ओर देखने के तटस्थ सही और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अलबत्ता काफी सफलता के साथ निभा सके हैं।

इस कथावस्तु का उद्देश्य "शीशे की दीवार के इधर-उधर चलती हुई जिन्दगियों के बीच एक गवाक्ष है · एक झरोखा है—जहाँ से पूरा युग गुजर रहा है—संस्कार और वर्ग की दीवारों को टटोलने की बेचैनी गुजर रही है—"[१७] यह जो उधर की दुनिया है, जिसके एतराफ शीशों की दीवारें-ही-दीवारें है—देखना इतना सरल नहीं है। इसी कारण सुजाता का माध्यम के रूप में उपयोग किया गया है। वास्तव में साहित्य की किसी भी विधा में लिखते समय लेखक के पास इसी प्रकार की बेचैनी होती है। क्योंकि प्रत्येक नई कृति का अर्थ ही है एक नई दुनिया को टटोलने की बेचैनी! शीशे की दीवार के इधर-उधर की जिन्दगी से तात्पर्य प्रिन्सेस अपर्णा की जिन्दगी का अध्ययन करना यही रहा है। उदय की डायरी के पन्नों से भी यही उद्देश्य उभरकर सामने आया है। "मेरी यह दुर्दम्य महत्त्वाकांक्षा रही है कि मैं उसे उसके सम्पूर्ण परिवेश में जानूँ, उसे अन्तर्मन तक जानूँ।"[१८] परन्तु सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ने के बाद यह बात साफ हो जाती है कि अपर्णा से भी अधिक सुजाता

के अन्तर्मन तक ही लेखक जा पाया है। 'प्रिन्सेस अपर्णा' यह उसकी उत्सुकता और अध्ययन का लक्ष्य था और सुजाता माध्यम। परन्तु यहाँ माध्यम ही साध्य बन गया है। क्योंकि सुजाता के ही अन्तर्तम तक लेखक पहुँच पाया है। सुजाता के ही संस्कार और वर्ग की दीवारों को वह टटोल सका है। उदय के व्यक्तित्व की सीमा है। अपर्णा के दुःखों का तथा उसकी असहाय अवस्था का चित्रण इसमें हुआ जरूर है, परन्तु उसके अन्तर्मन तक पहुँच नहीं पाया है, यह पूर्णतः सही है। संभवतः यह इस कारण हुआ है कि सुजाता अपनी डायरी लिख रही है, अपर्णा नहीं।

इस उपन्यास में "देश-काल और वातावरण" का चित्रण पृष्ठभूमि के रूप में हुआ है। इसमें भी संगति नहीं है, इसे पिछले पृष्ठों में स्पष्ट किया गया है। सुजाता की डायरी में अपर्णा की जिन्दगी के जो चित्र आये हैं, उनसे स्पष्ट है कि इसमें १९५५-५८ की बम्बई का ही वर्णन है। डायरी—लेखन में प्रकृति और वातावरण के चित्रण का महत्त्व नहीं होता। फिर भी चूँकि सुजाता एक लेखिका है; इसमें प्रकृति के विविध रूपों का तथा परिवेश का बड़ा ही सशक्त चित्रण हुआ है। मंगलवार १८ जून, बुद्धवार २६ जून, रविवार १४ जुलाई, सोमवार १५ जुलाई, शुक्रवार १९ जुलाई—डायरी के इन पृष्ठों में प्रकृति तथा बम्बई का बड़ा ही जीवन्त चित्रण किया गया है।

कथावस्तु में उत्सुकता और कौतूहल का समावेश नहीं है। यह सम्भव भी नहीं था। जहाँ कथावस्तु का सीधा सम्बन्ध एक विशेष मनःस्थिति के साथ ही होता है, वहाँ घटनायें नहीं होती। घटनाओं के अभाव में गतिशीलता नहीं होती। और जहाँ गतिशीलता नहीं, वहाँ कथानक अधिक सपाट और सरल होता है। इस कारण उत्सुकता और कौतूहल परम्पराबद्ध अर्थ में सम्भव नहीं है। अलबत्ता सुजाता की मनःस्थिति को लेकर पाठकों के मन में यह उत्सुकता जाग जानी चाहिए। प्रिन्सेस अपर्णा और उदय की बहन अपर्णा का बीच-बीच में संकेत देकर लेखक ने पाठकों की उत्सुकता रहस्य-कथाओं की तरह बनाये रखने की पूरी कोशिश की है; परन्तु इसमें उसे पूरी तरह से सफलता मिली है ऐसा कह नहीं सकते। क्योंकि सजग पाठक दो-तीन संकेतों के बाद ही यह समझ जाता है कि ये दोनों अलग-अलग नहीं, एक ही हैं। हाँ, 'प्रिन्सेस अपर्णा' के अद्भुत और रहस्यमय जीवन के प्रति उत्सुकता बनी रहती है। प्रिन्सेस और बहन अपर्णा को अलग-अलग भावित करते जाना और अन्त में उन्हें एक घोषित करने का प्रयत्न 'फिल्मी' अधिक है; वास्तविक नहीं। क्योंकि इतनी बुद्धिमान सुजाता विविध संकेतों को कैसे समझ नहीं पायी—यह आश्चर्य ही है।

चरित्र : (सुजाता) उपन्यास के केन्द्र में एक ही पात्र है, 'सुजाता'। सुजाता की मृत्यु के बाद लेखक उसकी डायरी के पृष्ठों को—"अनावश्यक प्रसंगों या अप्रासं-

गिक बातों को निर्ममता से सम्पादन कर"[१९] छाप रहा है। "इस डायरी में बचपन की उल्टी-सीधी बातें लिखी गई हैं।"[२०]—ऐसा कहने वाली सुजाता या तो मृत्यु-समय बूढ़ी थी अथवा प्रौढ़। कम-से-कम इतना तो मान लिया जा सकता है कि इस डायरी को लिखकर निश्चित रूप से ८-१० वर्ष हुए होंगे। क्योंकि व्यक्ति अपनी युवावस्था को 'बचपन की उल्टी सीधी बातें' प्रौढ़ावस्था में ही कहता है। आज भूतकाल की जिस मानसिक अवस्था को वह बचपन की उलटी-सीधी बातें कह रही है, कभी इसी अवस्था को वह सम्पूर्ण आत्मीयता के साथ जी चुकी थी।

तब सुजाता एम० ए० में पढ़ रही थी। लेखिका होने का शौक हुआ था। इधर-उधर रचनाएँ छप रही थीं। वह अपने पर बहुत अधिक मुग्ध थी। कुछ-कुछ 'अहंवादी' भी बन रही थी। इस युवती सुजाता के जीवन में भी कुछ दुःखद प्रसंग घटित हो चुके थे। "तेज का विछोह' एक ऐसी ही घटना थी। कभी वह 'तेज' पर सर्वाधिक प्यार करती थी। कैशोर्यावस्था का वह प्रेम था। मैट्रिक की कक्षा से लेकर शायद बी० ए० होने तक 'तेज' और 'सुजाता' एक दूसरे से सम्बन्धित थे। तब तेज उसके सपनों का राजा था। भविष्य का निर्माता था। परन्तु आज तेज की केवल यादें ही शेष हैं। क्योंकि तेज पढ़ाई के लिए लन्दन गया और वहीं पर किसी ब्रिटिश मेम से उसने विवाह कर लिया है। कैसा हो गया होगा जाने ? कैसी होगी उसकी ब्रिटिश मेम ?" तेज के इस अचानक परिवर्तन से सुजाता क्षुब्ध हो गई थी, दुःखी हो गई थी और घण्टों बैठकर रो भी चुकी थी। परन्तु धीरे धीरे वह उसे भूलने की कोशिश भी कर रही थी। और कुछ हद तक उसे इसमें सफलता भी मिली थी। 'पिछले दिनों में तो मैं उसे करीब करीब भूल ही चुकी थी। हफ्तों उसके नाम तक का ध्यान नहीं आता। आज तो यह कुछ नयी ही बात है "[२१] क्योंकि आज 'तेज की बहुत याद आ रही है।"[२२] प्रसिद्ध कथाकार उदय के व्यक्तित्व में और तेज में शायद समानता है अथवा उनके प्रति शायद उसी प्रकार का आकर्षण। सुजाता इसी कारण उदय की ओर आकृष्ट है। और संयोग से उसका परिचय उदय से हो जाता है—पुस्तकालय में। प्रथम भेंट से ही सुजाता के मन में उदय के प्रति जिज्ञासा है। क्योंकि उसने सुना है कि "लड़कियों के सामने इनकी बोलती बन्द हो जाती है और सारा मुँह लाल पड़ जाता है।"[२३] उदय किसी लड़की के साथ फोन पर बात चीत कर रहा था और तभी सुजाता का उससे परिचय किया गया था। उस प्रसंग से ही सुजाता के मन में उत्सुकता है कि "कौन थी दूसरी ओर ?"[२४]

सुजाता के पिता डाक्टर हैं। मध्यमवर्गीय संस्कारों में पढ़ने वाली यह युवती खुले मन की है। किसी भी प्रकार के रहस्य को वह मन में छिपाकर रख नहीं सकती। बातूनी है। पहली ही भेंट में उसने उदय को घर आने का निमंत्रण दे रक्खा है। उसको ऐसी अपेक्षा थी कि उदय उसकी कहानियों की प्रशंसा करेगा अथवा कम-

से-कम यह तो कहेगा कि आप की कहानियाँ मैंने पढ़ी हैं। मगर "कोई कहता था" कहकर मेरी कहानियों के बारे में कहना मुझे भी चुभा।' सुजाता नई पीढ़ी की चर्चित कहानीकार है। एक प्रसिद्ध लेखक द्वारा की गई उपेक्षा से उसका अहं और स्वाभिमान जाग उठा है—प्रथम भेंट में ही। और कहीं से वह उदय के व्यक्तित्व का अध्ययन करने का, उसकी कमजोरी को पकड़ने का निश्चय करती है। और फिर उदय बनता भी बहुत था। "किसी का बनना मुझे बहुत बुरा लगता है।" उसे अपनी 'निगाह' पर अभिमान है। इसी कारण वह उदय को अपने घर आने का निमंत्रण देती है। और उसका विश्वास है कि उदय उसे मिलने जरूर आएँगे ही। क्योंकि "नारी का निमंत्रण हो, और पुरुष वह भी कलाकार अस्वीकार कर दे ?" सुजाता की डायरी के प्रथम पृष्ठ से ही कलाकार सुजाता और नारी सुजाता का आपसी द्वन्द्व दिखाई देने लगता है। कलाकार सुजाता स्वतन्त्र विचारों की, प्रतिभा-सम्पन्न और अपने अहं के प्रति अत्यधिक जागरूक है तो नारी सुजाता पापभीरू, मध्यवर्गीय संस्कारों से पीड़ित, संकोचशील और अपने नारी-व्यक्तित्व के प्रति अत्यधिक सजग है। इसी कारण कलाकार 'सुजाता' उदय को घर आने का निमंत्रण दे देती है तो नारी सुजाता सोचती है—"मैंने एकमदम बुलाकर बुरा तो नहीं किया ? कहीं यों न सोचने लगे कि मुझे एकदम सस्ता समझ लिया है।......मुझे फोन नम्बर नहीं देना चाहिए था।......कहीं उन फूलजी की तरह पीछे लग गए तो......"[२५]

यह नारी सुजाता ही है जो उदय के घर आने की कल्पना से सिहर उठी है। मन-ही-मन तरह-तरह की योजाएँ बना रही है। कब आएँगे, कहाँ बिठाऊँगी, कमरा साफ-सुथरा चाहिए, फूल किस प्रकार रखने चाहिए, कमरा किस प्रकार सजाना चाहिए आदि-आदि। आम मध्यवर्गीय स्त्री के सोचने की पद्धति यहाँ अत्यन्त सहजता के साथ व्यक्त हुई है। मंगल ४ जून तथा बुध ५ जून की डायरी में यही मनःस्थिति व्यक्त हुई है। परन्तु समय देकर भी उदय जब उसके यहाँ नहीं आता, तब वह काफी चिढ़ जाती है। इस चिढ़ में एक नारी की सहज मनःस्थिति व्यक्त हुई है। उसके अहं को यह दूसरा धक्का बैठा है। और उसके न आने का कारण भी उनकी वही बहन है। स्त्री-सुलभ सन्देह भी उसके मन में है। "पर फिर मन तलखी और झुंझलाहट से भर गया है। मुझे साफ लगता है यह बहन-बहन की बात बिलकुल झूठ है। वे या तो अपने आप को बहुत तीसमारखाँ लगते हैं कि नौसिखुओं से क्या मिलें, या फिर सचमुच बहुत ही झेंपू हैं—लड़कियों के सामने प्राण निकलते हैं।........बड़ा दम्भ है।"[२६] उदय की इस बहन के प्रति जिज्ञासा के कारण तथा उसके इस प्रकार के 'दम्भी' व्यक्तित्व के कारण ही बृहस्पति ६ जून की डायरी में सुजाता लिखती है "......इस व्यवहार के पीछे चाहे लड़कियों से झेंपना हो या अपने को बहुत तीसमारखाँ लगाना; इस आदमी की असलियत से एक बार टक्कर जरूर लेनी है।"[२७] इस प्रकार

उदय की "असलियत को जानने का निर्णय लेने के बाद ही इसकी कथावस्तु का तथा सुजाता के 'शह और मात' का खेल आरम्भ हो जाता है। शतरज के इस खेल मे एक ओर उदय बैठा है, दूसरी ओर सुजाता। दोना एक दूसरे की 'असलियत' को जानने की कोशिश मे लगे हैं। उदय की ओर से यह कहना अधिक योग्य है कि शतरज की इस चाल में वह सुजाता के माध्यम से 'प्रिन्सेस अपर्णा की असलियत' जानने के लिए बैठा है। सुजाता अपनी 'लेखकीय निगाहों' से उदय के अध्ययन के लिए प्रयत्नशील है और उदय सुजाता के माध्यम से सुजाता तथा प्रिन्सेस अपर्णा को जानने के लिए। लेखिका सुजाता ने मन-ही मन निर्णय लिया है कि यह आदमी अपने को बहुत बडा समझता है। मुझ जैसी 'नौसिखुए को मिलना नहीं चाहता, तो मैं भी उसे अधिक महत्त्व नही दूंगी। परन्तु नारी सुजाता इस निर्णय को स्वीकार नही करती। इसीलिए रविवार ९ जून को वह उसे अपने घर ले आती है। उदय को प्रभावित करने के अनेक प्रकारो पर वह निरन्तर सोचती रहती है। आखिरी एक नारी ही है जो पुरुषो को प्रभावित करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती है। इसलिए "इससे इनको यह भी पता लग जाएगा कि मैं सचमुच इंटेलिजेण्ट और समझदार हूँ, यो ही बेचारी लडकी नहीं हूँ।"[१८] सुजाता को यह मालूम है कि "कॉलेज के कुछ लोगो के बीच उदय का नाम अच्छे सन्दर्भ में नही लिया जाता है।"[१९] और बहन अपर्णा का नाम लेने से "उनका चेहरा झनझनाकर लाल हो उठा। अरे, यह तो दम्भी-वम्भी कुछ नही, झेंपू है।'"[२०] फिर भी वह उनके निकट आना चाहती है केवल 'असलियत' जानने के लिए। यह सही है कि लेखिका सुजाता के आग्रह से ही वह उदय के निकट जा रही थी। परन्तु भीतर बैठी 'नारी सुजाता' उदय की ओर अन्य दृष्टिकोण से देख रही थी। लेखिका सुजाता को यह मान्य नहीं है, फिर भी वह नारी सुजाता के सम्मुख मजबूर है। नारी सुजाता यह भी सोच रही है कि उदय उसकी ओर कहानीकार सुजाता की निगाहो से देख रहे हैं अथवा नारी सुजाता की। "विशेष रूप से उन निगाहो से वे कहानीकार सुजाता को नही, युवती सुजाता को देख रहे हैं।"[२१] उदय घर पर आने के बाद सुजाता की जो भाग-दौड की स्थिति हुई वह उसके नारी-मन को ही स्पष्ट करती है। यहीं पर वह सोचती है—"और मेरे मन मे उस क्षण बडी विकट कसमसाहट हुई कि चाहे एक बार शालीनता और नैतिकता की सारी हदें तोड देनी पडें लेकिन इस व्यक्ति को उँगलियो पर नचा डालूँ?"[२२] स्पष्ट है कि यहाँ 'नारी सुजाता' की मन स्थिति तथा स्त्री के सनातन अह (पुरुष को ऊँगलियों पर नचाना और उस विजय को महान् समझना) की अभिव्यक्ति हुई है। इसी कारण उसके मन मे प्रश्न उठता है कि "ये विवाहित हैं या अविवाहित।"[२३] उदय के जीवन के सम्बन्ध मे चार-पाँच ही प्रश्न सुजाता के सम्मुख हैं—अपर्णा नाम की स्त्री कौन है? क्या वह सचमुच ही इनकी

बहन है ? ये विवाहित है अथवा अविवाहित ? इनके लेखकीय व्यक्तित्व की कमजोरियाँ कौन-सी हैं ? इनके उपन्यास के स्त्री-पात्र यथार्थ हैं अथवा काल्पनिक ? अगर यथार्थ हैं तो इनके सम्बन्ध स्त्रियों के साथ किस प्रकार के हैं ? इन्हीं प्रश्नों की खोज में लेखिका सुजाता भटक रही है। तो दूसरी ओर नारी सुजाता के प्रश्न हैं—ये 'तेज' की तरह ही दिखते हैं। इन्हें देखकर मुझे तेज की ही याद क्यों हो जाती है ? क्या ये मेरे जीवन साथी बन सकते हैं ? क्या ये प्रेम करने योग्य हैं ? वास्तव में सुजाता के भीतर की नारी तथा उसके भीतर का लेखक इन्हीं प्रश्नों की खोज करते रहा है। डायरी के सभी पन्नों में इन्हीं प्रश्नों की अनवरत खोज की गई है। अन्त में जब उसे पता चलता है कि यह सम्पूर्ण खोज ही निरर्थक थी; तब वह भीतर से टूट जाती है।

एक-दूसरे की असलियत को जानने का यह खेल शुरू हो जाता है—रविवार ९ जून से। सुजाता अपने को 'मर्दानी लड़की' समझती है। और फिर सोचती है—"तभी दिमाग में टकराया, क्या अजब लोगों की टक्कर है : एक मर्दानी लड़की है तो दूसरा जनाना पुरुष। एक को कम उम्र में ही यश ने बिगाड़ दिया है तो दूसरे को प्यार ने।......क्या सचमुच यह टक्कर है ? हर एक से यों टकराते फिरने की बात मन की नैतिकता के संस्कार नहीं स्वीकारते। लेकिन, आखिर अपने को कुछ लगने वाले से टकराकर उसकी असलियत देख लेने में हर्ज ही क्या है ?"[१४] इस उद्धरण में भी नारी और लेखिका का संघर्ष स्पष्ट है। संस्कारों में फँसी हुई नारी को इस प्रकार की टक्कर मान्य नहीं है। परन्तु लेखिका सुजाता की यह मजबूरी है—किसी से टकराने की। यूँ किसी से अगर वह नहीं टकराएगी तो व्यक्तित्व-अध्ययन कैसे होगा ? और बगैर व्यक्तित्व-अध्ययन के साहित्यकार बनना भी तो दुष्कर है।

लेखिका सुजाता उदय की भौंहों से बहुत परेशान है। क्योंकि ये भौंहें उसे तेज की याद दिलाते हैं। और तेज की याद आ जाने से उसके भीतर की नारी छटपटाने लगती है, किसी के प्यार के लिए। "......एक बार जब उनके चेहरे को फिर से देखा तो निगाहें फिर भौंहों पर अटक गईं। इन भौंहों को मैंने बहुत पास से देखा है......याद आया, ये तो तेज की भौंहों से कितनी मिलती है।"[१५] संभवतः इसी कारण वह उदय की ओर आकृष्ट है। तेज तो अब उसके जीवन से चला गया है। उसने विश्वासघात किया है। परन्तु इस उदय की जिन्दगी के सम्बन्ध में वह अधिक नहीं जानती। जब तक इनकी जिन्दगी साफ न दीखे, तब तक कुछ सोचना भी तो मुश्किल है। इनकी जिन्दगी का सब से बड़ा रहस्य 'अपर्णा' है। "यह इनकी कौनसी बहन है, जो अक्सर इनके दिमाग पर छाई रहती है और उसे वे ऐसे तन्मय भाव से फोन किया करते हैं।"[१६] नारी की सहज-सुलभ ईर्ष्या और सन्देह की वृत्ति यहाँ व्यक्त हुई है और इसी कारण वह पूछती है—"आप की बहन क्या यहीं रहती

है ?"[17] और "इस बार वे टूटकर चौंके।"[18] उदय के इस निराश उदगार से कि "यहाँ हमारे साथ कौन रहेगा, अकेले पड़े रहते हैं" सुजाता समझ जाती है कि "इन्हें किसी की सहानुभूति चाहिए। यह इनके गढ़ का सब से कमजोर कोना है।"[19] पागल सुजाता समझने लगी है कि उदय को उसकी सहानुभूति की आवश्यकता है। और सहानुभूति देकर वह उसे "समग्र रूप से समझ लेने का" प्रयत्न करती है। परन्तु इस प्रकार किसी को सहानुभूति देने वाला व्यक्ति खुद 'कोरा' नहीं रह सकता। सुजाता के सन्दर्भ मे भी यही हुआ है। एक ओर लेखिका सुजाता का उदय को सहानुभूति देने का निर्णय है, तो दूसरी ओर "मगर साँझ होते-होते यह विश्वास हो गया कि जो मैं कर रही हूं, वह वर्जनीय है, अनुचित है और शायद किसी के प्रति विश्वासघात है"[20] नारी सुजाता की यह मन स्थिति है। सोमवार दस जून की डायरी मे यह संघर्ष अधिक सहज और स्पष्ट रूप मे व्यक्त हुआ है। नारी सुजाता अपने मध्यवर्गीय संस्कार तथा तेज के प्रति अपने पुराने प्यार को लेकर चिंतित है। वह उस प्यार के प्रति प्रामाणिक रहना चाहती है। परन्तु लेखिका सुजाता सोचती है कि तेज ने अगर उसके साथ विश्वासघात किया है तो वह क्यों प्रामाणिक बनी रहे। और फिर "व्यक्ति उदय पर तो मैंने कृपा ही की है—यह मैं भीतर ही भीतर महसूस कर रही थी।"[21] यहाँ सुजाता उदय के व्यक्तित्व को विभाजित करके देख रही है—व्यक्ति उदय और लेखक उदय। लेखक उदय से वह टक्कर लेने बैठी है। उसके इस व्यक्तित्व के प्रति उसके मन मे बहुत अच्छे भाव नहीं हैं। परन्तु व्यक्ति उदय के प्रति उसके मन में 'दया' है। अपने नारी-मन को समझाने की ये अलग अलग कोशिशें हैं। इधर वह उदय को अपना पुराना परिचित ही मान रही है। उसके अनुसार—"अपरिचित परिस्थितियों में दो परिचितों का मिलना'[22] है। नारी सुजाता अपने प्रत्येक व्यवहार के प्रति सजग है, चिंतित है। वह किसी भी प्रकार का ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहती जिससे "कहीं मेरी बातचीत, उन्मुक्त सिगरेटबाजी से उन्हें ऐसा तो नहीं लगा कि मैं कुछ यों-ही-सी लड़की हूँ।"[23] लेखिका सुजाता उन्मुक्त व्यवहार करना चाहती है और नारी सुजाता उसे उसके बन्धनों का एहसास करा देती है। लेखिका सुजाता के मन में एक ही इच्छा है "यह जानने की इच्छा भी बड़ी प्रबल है कि ये 'सफल' और श्रेष्ठ कहे जाने वाले लेखक व्यक्तिगत जीवन मे कैसे होते हैं ? शायद जल्दी-से-जल्दी उनसे घनिष्ठता बढ़ा लेने की आतुरता के पीछे भी यही भाव हो।"[24] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि लेखिका और नारी सुजाता का अद्भुत समन्वय यहाँ हुआ है। इन दोनों में अन्तर करना कठिन हो जाता है। लेखिका सुजाता उदय से अधिक सम्पर्क बढ़ाना चाह रही है। उसके व्यक्तिगत जीवन को जानने के लिए; ठीक उसी समय नारी सुजाता इसका उपयोग करना चाह रही है—अपने प्रणय के लिए।

दो-एक बार की भेंट के बाद सुजाता के मन में उदय के प्रति आकर्षण बढ़ने लगता है। उसे लेकर अनेक प्रकार के स्वप्नों में वह खो जाती है। इन स्वप्नों में भावुकता है, भविष्य के प्रति आशा है और अपने अहं पर विश्वास। उदय की मुलाकात कुछ दिनों के लिए जब नहीं होती, तब नारी सुजाता भयभीय हो जाती है। "आखिर हो क्या गया? कहीं किसी बस, कार की चपेट में तो नहीं आ गए?"[४५] सुजाता उदय के प्रति कितनी भावुक हो उठी है, इसका यह प्रमाण है। "प्रेमिका की मनःस्थिति" यहाँ से उभरने लगती है। यह प्रेमिका अपने से प्रश्न पूछती है—"मैं चाहती हूँ कि वे आयें। क्यों चाहती हूँ।"[४६] सोमवार तीन जून को उसकी भेंट उदय से हुई थी। और शुक्र १४ जून को वह उसकी 'प्रेमिका' बन गई है। यह सब अनजाने में हुआ है। लेखिका सुजाता इस सम्बन्ध को नकार रही है। परन्तु प्रेमिका 'सुजाता' उदय के सम्मुख समर्पित होने को तैयार बैठी है। इसी कारण उदय के न मिलने से वह छटपटा रही है। वह कहाँ रहता है? उसके सुख-दुःख क्या हैं?—यह जानने को वह उत्सुक है। इस प्रकार यहाँ से सुजाता पर तीन कोणों से विचार करना होगा। लेखिका सुजाता, नारी सुजाता और प्रेयसी सुजाता। प्रेयसी सुजाता इसी कारण सोचती है "विवाह के बाद मुझे क्या कहकर पुकारा जाएगा? हिश्......।"[४७] उदय उसे लगातार मिल नहीं रहा है। भीतरी अहं को चोट पहुँच गई है। कहीं उपेक्षा की एक कसकती हुई कचोट थी, जो आँखों में आँसू ले आई।"[४८] भावुक प्रेयसी की यह मनःस्थिति है जो मिलने न आने से आँसू बहा रही है। तो तीसरी ओर लेखिका सुजाता को यह सन्देह है कि शायद एक लड़की होने की वजह से ही उसकी ऐसी स्थिति हो गई है। "अक्सर यह कसक भी मैंने अपने भीतर अनुभव की है कि मुझे जो प्रशंसा और चर्चा मिल रही है उनके पीछे मेरी प्रतिभा या कृतित्व नहीं, नारी होना ज्यादा है।"[४९] उसे दुःख है कि कोई भी उसकी प्रतिभा का तटस्थ होकर मूल्यांकन क्यों नहीं करता? उसका नारी होना क्या एक शाप है। उसे भय है कि "कोई भी मेरी प्रतिभा और योग्यता को जांच नहीं पाएगा?............हर क्षण खाता रहता है?"[५०] हर बार वह अनुभव करती है कि "देख यह तारीफ तेरी नहीं, तेरे लड़की होने की है।"[५१] लेखिका, नारी और प्रेयसी का यह त्रिकोणात्मक संघर्ष ही सुजाता के चरित्र को विकसित करता गया है। लेखिका के रूप में वह बड़ी बनना चाहती है; स्थापितों के निकट आना चाहती है; उदय जैसे प्रसिद्ध लेखक की असलियत को जानना चाहती है। पिता, माँ अथवा सहेली रेखा के बन्धनों को नारी सुजाता स्वीकार करके जीना चाहती है। दी हुई स्वतंत्रता का वह दुरुपयोग करना नहीं चाहती। और प्रेयसी के रूप में वह उदय के और निकट जाना चाहती है। उसे स्वीकार करना चाहती है। रविवार १६ जून को जब वह उदय के साथ पहली बार किसी होटल में चली जाती है तो वहाँ उसकी

त्रिकोणात्मक मन स्थिति व्यक्त हुई है। किसी पराये पुरुष के साथ इस तरह होटल के 'प्रायव्हेट रूम' मे बैठने के कारण उसका नारी-मन चिंतित है, भयभीत है। उदय के यह कहने के बाद कि उसकी कहानी का प्लॉट उसका नही मोपासा का है–उसका लेखकीय व्यक्तित्व बिखर जाता है, अपमानित हो जाता है और इस झूठ को नकारने का प्रयत्न करता है। तो तीसरी ओर उसका 'प्रेयसीमन' उदय के व्यक्तिगत जीवन को लेकर अनेक प्रश्न पूछने लगता है। (पृ० ५७-६१) यही वह अनुभव करती है कि उदय उसके नारी-व्यक्तित्व को चुनौती दे रहा है। उदय के विभिन्न मुखौटों को 'पीसकर चूर-चूर कर डालने की इच्छा' भी निर्माण हो जाती है। अपर्णा की बात छेड़ने के बाद वह बहुत लाल पीला हो जाता है इसका एहसास भी उसे यहीं पर हो जाता है। और उसकी नारी सोचती है–"मुझे लगा हो-न हो जरूर कुछ दाल मे काला है।"[११] १६ जून को इस मुलाकात के बाद सुजाता उदय से इतनी प्रभावित, आकर्षित और समर्पित हो गई है कि "ओफ, उस दिन की सारी छुट्टी कैसे उदय को ही लेकर बीत गई थी।"[१२] रेखा के सम्मुख वह घंटो उसके सम्बन्ध मे ही बातें करती है। मंगलवार १८ जून की डायरी के पृष्ठो मे यही सब कुछ है। लेखन, यथार्थ, कल्पना, रोमांस आदि अनेक विषयो पर यह चर्चा है। इन चर्चाओ के कारण नारी सुजाता भयभीत है कि इस प्रकार खुलकर किसी पुरुष के साथ यूँ चर्चा करना क्या ठीक है ? लेखिका सुजाता प्रसन्न है क्योंकि सभी कोणो से वह उदय का अध्ययन कर रही है और प्रेयसी सुजाता रोमांचित है क्योंकि वह उनके और निकट जा पा रही है। लेखिका सुजाता को इस बात का गुमान है कि वह यह समझ गई है कि "यह तो बिलकुल साधारण आदमी है। निर्बल आदमी है।"[१३] प्रेयसी सुजाता अनुभव करती है–"और जाने किस लहर मे उस क्षण मेरे मन मे आया कि इस निर्बल व्यक्ति को बाँहो मे भरकर प्यार से इसका माथा चूम लूँ और कहूँ तुम बहुत भटके हो, बहुत थके हो। आओ, तुम्हारी भटकन और थकान को एक समर्थ दिशा दूँ। उस समय मैं सच भूल गई कि मैं कहानी-लेखिका हूँ, और उदय मेरी विषय सामग्री।"[१४] और इसी समय उसके भीतर की नारी कह उठती है–"लेकिन लेकिन इन महाशय को यह भ्रम कैसे हो गया कि मैं चाहती हूँ ? नहीं, यह भ्रम किसी भी तरह पनपने नही देना।"[१५] भीतरी नारी उसे बार-बार आनेवाले खतरो की ओर सूचित करती है। इसी प्रेम के चक्कर के कारण मदा नामक उसकी सहेली की जिन्दगी बर्बाद हो गई है। "मदा के प्रसग ने मुझे भीतर तक सिहरा दिया है। मान लो, यह हालत किसी दिन मेरी हो जाय तो ? नही, नहीं ! आत्म-हत्या करके मर जाऊँगी। लेकिन नहीं, उदय को इतनी लिफ्ट नही देनी है।"[१६] एक ओर उसका नारी-मन उसे रोक रहा है तो दूसरी ओर उसके मन मे उदय के प्रति दया-भाव भी जग रहा है। "पहले यह आदमी मुझे भी बड़ा उद्दण्ड और जिसी

हद तक बदतमीज लगा था, लेकिन अब कुछ-कुछ दया आने लगी है।"[९] उदय की ओर उसका यह आकर्षण रेखा को मान्य नहीं। अपर्णा और रश्मि ये दोनों उदय से सम्बन्धित हैं ही। इसलिए रेखा को लगता है कि कहीं धोखा है। इसलिए वह कहती है "पहले उसके पास दो थीं, अब तीसरी तू और हो जाएगी।"[१०] संभवतः इसीलिए सुजाता अपने नारी और प्रेयसी मन को दबाना चाहती है। उदय की ओर इस प्रकार भावुक दृष्टि से देखना उसके लेखकीय व्यक्तित्व को मान्य नहीं है। "और पहले उदय को पुरुष और अपने को नारी मानकर जो संकोच मन में भरा था, वह जैसे एकदम गायब हो गया। मैं अध्येता हूँ, वह मेरे अध्ययन का विषय।... नहीं बिलकुल तटस्थ और भावनाहीन होकर मुझे अपने विषयों का अध्ययन करना है।"[११] क्या सचमुच सुजाता तटस्थ रह सकी है? इसी बीच एक और आकस्मिक घटना उसके जीवन में हो जाती है। सोमवार २४ जून को उसका परिचय 'प्रिन्सेस अपर्णा' से हो जाता है। परिणाम यह होता है कि अब तक उसके दिमाग पर उदय का भूत छाया हुआ था; परन्तु अब प्रिन्सेस अपर्णा छा जाती है। मजे की बात यह है कि लेखिका सुजाता अब अपनी पैनी दृष्टि से अपर्णा का अध्ययन करने लगती है और प्रेयसी सुजाता उदय की ओर झुक जाती है। और इन दोनों को समझाने का प्रयत्न नारी सुजाता करने लगती है। प्रिन्सेस अपर्णा की जिन्दगी का विस्तार से विवेचन करने के लिए वह उदय के यहाँ जाती है। इस समय उसके मन में दो भाव हैं—१. प्रिन्सेस अपर्णा की जिन्दगी का यह विवेचन करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से उदय को यह सिद्ध करके बतलाना कि लेखकीय दृष्टि उसके पास भी है। २. प्रिन्सेस अपर्णा की कहानी के बहाने उदय से अपने परिचय को और दृढ़ करने की 'प्रेयसी सुजाता' की छटपटाहट।

सोमवार २४ जून को सुजाता उदय के कमरे पर पहली बार जाती है। इस दिन की डायरी के पृष्ठों में फिर त्रिकोणात्मक संघर्ष उभर आया है। यहीं पर शतरंज के खेल को बतलाया गया है। 'शह और मात' की यह स्थिति प्रतीकात्मक ढंग से यहाँ बतलायी गई है। उदय के कमरे में प्रवेश करने के थोड़ा ही देर बाद नारी सुजाता अनुभव करती है "अरे कमरे में हम दोनों ही अकेले हैं।"[१२] "बाहरवालों ने देखा तो क्या सोचेंगे?"[१३] परन्तु लेखिका सुजाता प्रसन्न है—"लेकिन भीतर एक अजब-सी प्रसन्नता भी थी।........क्या हुआ अकेले बैठने में? कोई खा तो जाएँगे ही नहीं।..."[१४] और प्रेयसी सुजाता—"अवचेतन मन में उनकी भौंहें चुभती रहीं और तेज का ध्यान आता रहा।"[१५] और "सच है, जब-जब उदय के साथ बातें करने बैठी हूँ, समय का ध्यान ही नहीं रहता।"[१६] नारी सुजाता को भय है—"जाने क्यों मुझे हर क्षण लगता था जैसे वे अभी झपटकर मुझे अपनी बाँहों में बाँध लेंगे और चुम्बनों से मेरा मुँह ढँक देंगे। तब क्या करूँगी? किधर भागूँगी।"[१७]

और जब ऐसा नही होता तो प्रेयसी सुजाता के मतानुसार—'छि, यह व्यक्ति तो बडा कमजोर और डरपोक है। इसमे तो इतना भी साहस नही आया कि आगे बढकर मेरे कन्धे पर हाथ रख देता।"[६४] उदय के सम्पर्क मे आने के बाद इधर कुछ दिनो से सुजाता के मन की अतृप्त कामेच्छा अलग अलग पद्धतियो से व्यक्त हो रही है। 'मानसिक रति' की यह अभिव्यक्ति २६ जून की डायरी के पृष्ठो मे हुई है। उस दिन की डायरी मे वह लिखती है—"इच्छा हो रही थी कि कुछ 'वर्जनीय', कुछ 'निषिद्ध' देखूं । कैसा लगता होगा बलात्कार के समय ? क्या एक बार इस अनुभव से नहीं गुजरा जा सकता ?"[६५] सुजाता के मन मे उठने वाले इन विभिन्न तरगो के कारण ही उसका चरित्र अत्यधिक स्वाभाविक तथा जीवन्त बन पडा है। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि वह 'मनुष्य' मात्र के शुद्ध धरातल पर आकर खडी है। अपनी अतृप्त कामेच्छा के प्रति चिंतित, 'काम' के प्रति एक रहस्यमय, अव्याख्येय तथा अजीब सा आकर्षण और इस काम की पूर्ति के लिए 'मानसिक रति' मे प्रवेश! यह सब कुछ स्वाभाविक ही तो है। परन्तु मनुष्य इस स्तर पर अधिक देर तक टिक नही सकता। क्योकि उसके सस्कार, समाज की नीत-अनीति की सकल्पनाएँ उसे ऐस विश्व मे रममाण करने की इजाजत नहीं देते। यह अतृप्त कामेच्छा सभवत इसी कारण 'स्वप्न' द्वारा ही व्यक्त होती है। इधर सुजाता के मन मे भी इस प्रकार के अनेक विचार आ रहे हैं, परन्तु उसके भीतर बैठी हुई सस्कारशील नारी उसे कहती है—'छि मेरे मन म भी कैसी भद्दी-भद्दी बातें आने लगी हैं इन दिनो। पहले तो ये सब नही आती थी।" उदय के सम्पर्क के पूर्व ऐसी स्थिति नही थी। कारण स्पष्ट है कि उसके मन मे उदय के प्रति शारीरिक आकर्षण निर्माण हो गया है। उसका चेतन मन इस 'आकर्षण' को स्वीकार करने तैयार नही है। परन्तु 'अचेतन मन' मे यह सब कुछ चल रहा है। इसी अचेतन मन की इच्छा के कारण ही वह सोचती है—'बाँहो की जकड मे पिसता-कसमसाता शरीर निरावृत्त करत और उसकी गतिविधि को बरजते दो हाथो की लिपटी लिपटी आलस्य भरी छीना-झपटी नि शब्द, लम्बी-लम्बी हाँफती-सी साँसें और चार चिपके होठ।"[६६]

बृहस्पति २७ जून की डायरी के पृष्ठो से यह स्पष्ट हो जाता है कि सुजाता उदय को अपने भावी पति के रूप मे देख रही है। अर्थात् यह फिर 'अचेतन' स्तर पर ही चल रहा है। अर्थात् यह फिर 'अचेतन' स्तर पर ही चल रहा है। त्रिकोणात्मक सघर्ष यहाँ पर भी उभर आया है। "प्रेयसी सुजाता" उदय को लेकर भविष्य के सपनो मे खो रही है। "अभी जागते जागते बडा अजब-सा सपना देखा था मैरीन ड्राइव पर एक बहुत बडा-सा फ्लैट है एक चीखता सा सूनापन है एक दरवाजा खोलकर कनपटियो पर हजामत का साबुन लगाए, हाथ मे रेजर लिए कोई निकलता है "[६७] यह कोई और नही उदय ही है। एक ओर यह स्थिति है

तो दूसरी ओर चेतन मन पर अपर्णा और उदय ही छा गए हैं। "अपर्णा और उदय, पता नहीं ये दो नाम मेरे दिमाग में इन दिनों हमेशा साथ क्यों टकरा रहे हैं।"[७२] अपर्णा को लेकर उसके 'प्रेयसी मन' में ईर्ष्या है। उसके लेखकीय मन को लगता है यह अपर्णा उनकी बहन-बहन कोई नहीं है। कोई दूसरा ही चक्कर है। "मुझे कुछ गड़बड़ लगता है।"[७३] और उदय को लेकर अब उसके पास केवल प्रशंसा के ही शब्द हैं—"उदय में सचमुच कलाकार के टच हैं।"[७४] संभवतः इसी कारण उदय के शरीर को लेकर वह अधिक सोच रही।—"जब वे सिगरेट पी रहे थे—इन पतली-पतली सलवटों-सी धारियों वाले होठों से होंठ छुलाकर देखूँ? कैसा स्वाद होगा?"[७५] इन विभिन्न मनःस्थितियों के बावजूद सुजाता यह अच्छी तरह से जानती है कि इन इच्छाओं को क्रिया-रूप में लाना कम-से-कम इस देश में तो असंभव है। एक मध्यवर्गीय युवती के लिए तो असंभव!! इच्छाओं की सुविधाओं के बावजूद उन्हें दबाना पड़ता है। 'तेज' को वह चाह रही थी, उस पर समर्पित भी थी। परन्तु हुआ क्या? तेज ने विश्वासघात किया। आज वह उदय से बंधी हुई है। उदय के शरीर के प्रति उसके मन में आकर्षण है। फिर भी वह कुछ नहीं कर सकती, सिवा रोने के। अजीब स्थिति है यह! 'पुरुष' के सम्पर्क में आने के बाद उस पर सर्वाधिक 'प्यार' करने के बाद भी स्त्री उन्मुक्त होकर उससे मिल नहीं सकती। इसलिए भारतीय युवती प्रेम के इस क्षेत्र में सिवा आँसू बहाने के और कुछ कर ही नहीं सकती। इस स्थिति को सुजाता जैसी लेखिका समझ पायी है; इसी कारण वह लिखती है—"हम हिन्दुस्तानी लड़कियों को चुपचाप रोने का रोग है......। जैसे अगरबत्ती चुप-चुप जलती है......। अंग्रेजी लड़कियों की तरह हमारा प्रेम न तो किलकारियों और कहकहों वाले उन्मुक्त आलिंगनों में निकलता है, न हमारा क्रोध हिस्टीरिया के दौरों जैसी चीखों में। चाहो तो कह लो कि हम लोगों में जीवन की कमी है। इसीलिए न तो खुले और सम्पूर्ण मन से प्यार कर सकती हैं, न क्रोध।"[७६] भारतीय युवती की मनःस्थिति का इससे स्पष्ट चित्र और कौन सा हो सकता है? सिवा रोने के और कुछ न कर सकने की विवशता से सुजाता परिचित है। इस २७ जून की डायरी में उसके मन की यही द्विधात्मक स्थिति व्यक्त हुई है। मन उसके नियंत्रण में नहीं है। इसी कारण वह लिखती है—"पता नहीं, क्या-क्या करने को मन करता है......हर पुरुष से, हर छोटे-बड़े लड़के से खिलवाड़ करने की इच्छा होती है।"[७७] इसी कारण उसका चेतन मन झट से उसे प्रश्न पूछता है कि "कहीं उदय के साथ खिलवाड़ करने में यही मनोवृत्ति तो नहीं है? तो मैं उदय के साथ भी 'खिलवाड़' कर रही हूँ?"[७८] संस्कारशील मध्यवर्गीय मन इस प्रकार के खिलवाड़ की स्वीकृति तो देता नहीं है। और मन में अनेक अच्छे-बुरे विचार उठ रहे हैं। इसीलिये सुजाता अपने अचेतन मन को समझाती है—"नहीं......तो फिर मुझे आज

अपने और उदय के सम्बन्धों को साफ कर लेना होगा, ताकि किसी प्रकार के भ्रम की कोई गुंजायश रह ही न जाय। हाँ, उदय से मेरा सम्बन्ध मात्र मित्रता का है। हमारे और उनके बीच में कॉमन आधार है—लिखना।"[७९] और उसका लेखकीय व्यक्तित्व उसके अचेतन मन को समझाता है—"मित्र के रूप में वे मेरे अध्ययन के ऑब्जेक्ट हैं, कहानी के विषय हैं। विषय की तटस्थता और निर्लिप्तता में ही मुझे खतरनाक से खतरनाक क्षणों में उनका अध्ययन करना है।"[८०] प्रश्न है कि क्या वास्तव में सुजाता तटस्थ रह सकी है? आगे की घटनाएँ स्पष्ट करती हैं कि यह सब सुजाता को ममत्र नहीं हो सका। परन्तु आखिर तक वह इस कोशिश में थी जरूर। अब तो उसके लेखकीय व्यक्तित्व की जिम्मेदारी और बढ़ गई है। क्योंकि एक ओर उदय का तटस्थता से अध्ययन करके लिखना है, तो दूसरी ओर अपर्णा है। "दूसरी ओर अपर्णा का अध्ययन करना है, लिखना है, निरीक्षण करना है, जीना कुछ नहीं है। कहीं भी अपने लिए कुछ नहीं करना। अपने को नहीं उलझाना कहीं नहीं भरमाना।"[८१] उपर्युक्त उद्धरणों में सुजाता की छटपटाहट और स्पष्ट हुई है। एक युवा लेखिका की स्थिति सचमुच बड़ी "बेवस और असहाय" होती है। एक संवेदनशील स्त्री किसी पुरुष का तटस्थ होकर निरीक्षण और अध्ययन क्या कर सकती है? यह प्रश्न है। सुजाता मात्र निरीक्षण करना चाहती है, जीना नहीं चाहती, उलझना नहीं चाहती। 'विषय' के प्रति, और भी 'जीवन्त' तथा सूक्ष्म संवेदनाओं से परिपूर्ण विषय के प्रति तटस्थता क्या संभव है? और आयु के एक विशेष मोड़ पर खड़ी हुई स्त्री में यह तटस्थता क्या संभव है? पुरुष में अलबत्ता यह संभव है। और उदय में अपने विषय के प्रति यह तटस्थता कुछ सीमा तक थी, परन्तु सुजाता में नहीं। इसी कारण वह 'मात' खा चुकी है, निरीक्षण के इस खेल में।

'लेखकीय तटस्थता' के इसी विषय पर सुजाता २८ जून को उदय के साथ खुलकर चर्चा करती है। उदय उसे समझाने की कोशिश करता है कि एक लेखक को "निहायत क्रूर हो जाना चाहिए"।[८२] इस तटस्थता की विवेचना के बाद सुजाता अपना आत्म-निरीक्षण करती है तो उसे लगता है कि वह अपने ही प्रति तटस्थ नहीं हो पा रही है तो औरों से तटस्थ रहकर सोचना दूर की ही बात। "अब इसी डायरी को ही लो, मैं क्या वाकई वही सब लिख पा रही हूँ जो मन की आँखों के सामने देख रही हूँ। पता नहीं कितनी बातें छोड़ती जा रही हूँ। सब लिख दूँगी तो 'पढ़कर हाय, कोई क्या कहेगा।"[८३]

स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों को लेकर सुजाता सोचती है कि इन दोनों में 'शुद्ध मित्रता' की संभावना है, 'एक आत्मीय घनिष्ठता बिना शारीरिक सम्बन्ध आये संभव है।"[८४] प्रिन्सेस अपर्णा इस बात को नहीं मानती। उसके अनुसार बिना

शारीरिक सम्बन्ध आए, यह घनिष्ठता संभव ही नहीं है। उदय के विचार भी प्रिन्सेस अपर्णा की तरह हैं। और उदय के इन विचारों के कारण ही "जाने क्यों, नये सिरे से शरीर रोमांचित हो आया और मैंने झटके से अपना हाथ खींच लिया।"[८५] और इधर कुछ दिनों से वह उदय के और निकट जा रही है। जाने-अनजाने में यह सब कुछ हो रहा है। अब उदय उसकी उँगलियों से खेलता है, पीठ से हाथ लाकर दाहिनी बाँह पकड़ लेता है, और वह कभी "हल्के से एक प्यार भरा घूँसा उनकी पीठ पर मारे बिना नहीं रह जाती।"[८६] इस छोटे-मोटे स्पर्श के कारण सुजाता रोमांचित हो रही है। और इसी कारण उसे ये सारे बंधन गलत और निरर्थक लगते हैं। "हाय, कैसी होती होंगी वे लड़कियाँ जो निर्द्वन्द्व भाव से प्यार कर सकती और प्यार पा सकती हैं।"[८७] "आई लव यू"……मैं कहूँ…… शायद गर्दन कट जाय तब भी ये शब्द मेरे मुँह से न निकलें।"[८८] 'प्रेयसी सुजाता' अपने संस्कार और मर्यादा को (कोशिश करने के बाद भी) भूल नहीं सकती। शायद भारतीय स्त्री की यही विडम्बना है अथवा शक्ति।

१ जुलाई की डायरी के पृष्ठों से स्पष्ट है कि इधर 'तेज' की याद उसे बहुत आ रही है। तेज के साथ के उस सम्बन्ध में 'शरीर' उतना रोमांचित नहीं होता था, जितना कि उदय के साथ के सम्बन्ध में। इसीलिए शायद वह सोच रही है—"क्या शरीर जीतना सचमुच इतना आसान है ?"[९१] शायद इसी कारण बुधवार ३ जुलाई की डायरी में वह लिखती है—"क्यों न मौन के माध्यम से हम लोग एक दूसरे को पियें……पायें……निरावरण और……।"[९२] उदय के साथ के ये सम्बन्ध जाने-अनजाने कुछ दूसरे रास्तों पर निकले जा रहे हैं। यहाँ न उदय विषय है, न सुजाता लेखिका। सहानुभूति और दया देते-देते वह उसे भीतर से चाहने लगी है। सचमुच "यारी हो गई।"[९३] एक ओर यह स्थिति है तो दूसरी ओर भीतर से लेखिका सुजाता चिल्लाती है—"मगर नहीं यह सब……यह सब भावुकता है और मुझे इतना नहीं बहना चाहिए।"[९४] प्रेयसी सुजाता को ये सारे बन्धन मान्य नहीं हैं। वह सारे संस्कारों को तोड़ डालना चाह रही है, इसलिए क्षुब्ध होकर कहती है—"यह क्या है ?…यह अंकुश क्या है जो हर दम हर भावना की गर्दन पर रखा रहता है"[९५] दिनांक ५ जुलाई की डायरी का पन्ना भी यही स्पष्ट करता है कि उदय के शरीर के प्रति सुजाता के मन में आकर्षण बढ़ता जा रहा है। उसके भीतर की मध्य-वर्गीय नारी इस बात को नकारने की पूरी कोशिश कर रही है, परन्तु अचेतन मन की ये अतृप्त इच्छाएँ चेतन स्तर पर अलग-अलग प्रकार से व्यक्त हुई ही हैं। लेखिका सुजाता अपनी इन भीतरी इच्छाओं को तटस्थता से देखने का पूरा प्रयत्न कर रही है। "मुझे लगता है जैसे मैं दो हो गई हूँ। एक उदय के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर चेहरे पर सागर की फुहारों की आर्द्रशीलता अनुभव करती हूँ तो दूसरी खड़ी-खड़ी

घूरती है "हूँ, तो आप जनाब यों बैठी हैं ? बेशर्म ।"⁸⁹ यही पर उसका मध्यवर्गीय संस्कारवादी मन कह उठता है—"कोई देख ले तो ? मान लो पापा ही इस गाड़ी से घर जा रहे हों तो ?"⁹⁰ स्पष्ट है कि सुजाता की चेतना के कई स्तर हैं और वे कई खंडों में बिखर जाते हैं।

उदय के इस प्रश्न को कि क्या वह,इससे पहले किसी पुरुष के सम्पर्क मे आयी थी—सुजाता पूर्णत नकार देती है। स्पष्ट है कि वह झूठ बोल रही है। [उदय से पूर्व वह तेज के सम्पर्क मे आयी थी।] सभवत किसी पुरुष के सम्पर्क मे आने के बाद उसके पूर्व के पुरुष के सम्बन्धो को इस पुरुष के सम्मुख स्वीकारना शायद किसी भी स्त्री को सभव नही है, इसीलिए वह झूठ बोलती है। परन्तु मन को वह सन्तुष्ट नही कर सकती। इस कारण मन को समझाने का असफल प्रयत्न वह करती है। "ठीक ही तो कहा था—उसमें झूठ कहाँ बोली मैं ? जो कुछ आज हर क्षण मेरे साथ हो रहा है, ऐसा पहले कभी कहाँ हुआ ? मैं तो एक दम नई और कोरी स्लेट की तरह उदय से मिली हूँ।"⁹⁶ तेज के समय मन चेतना के इतने विभिन्न खंड खुले नही थे। आज अलग अलग स्तर पर जाकर वह इस सम्बन्ध अथवा सम्पर्क का विश्लेषण कर सकती है, कर रही है। तेज के साथ के उस सम्पर्क को वह किशोरावस्था की शरारत समझ रही है। खुद को अनेक पद्धतियो से समझाने के बाद भी यह बात बहुत साफ है कि सुजाता उदय की ओर आकृष्ट हो चुकी है। इस आकर्षण मे 'शरीर' है, मानसिक स्थितियाँ हैं, अकेलेपन को समाप्त करने की इच्छा है और सबसे बढ़कर इस विशेष आयु की विवशता है। लेकिन सुजाता बार-बार अपने मन को समझाने का प्रयत्न करती है कि "हमारे और उनके बीच का सेतु वे नही, उनकी रचनाएँ हैं।"⁹⁹ प्रयत्न के बाद भी वह इस सम्बन्ध को याद नही रख पाती। परिणामत इधर वह अधिक आलसी और खोई-खोई-सी रहती है। प्रिन्सेस अपर्णा और उदय के बाद तो उसके जीवन को नई दिशा ही मिल गई है। "इन दोनों के परिचय के बाद मैंने कुछ भी तो नही लिखा।"¹⁰⁰ वह इस बात का अनुभव कर रही है कि "हमारे बीच का अर्थात् परिचय का जो माध्यम था उससे हट कर मैं अब व्यक्तियों पर केन्द्रित हो गई हूँ। पता नही क्यों, मैं इस बात को याद ही नही करना चाहती कि व्यक्ति उदय न तो मेरे परिचय का लक्ष्य था, न आधार।"¹⁰¹ सुजाता के इस वक्तव्य में ही उसकी 'हार' स्पष्ट है। उदय यहाँ पर उसे शह दे चुका है। उदय के लाख दोषो के बावजूद भी "उदय ने ही मुझे अपनी ओर खींचा।"¹⁰² उसे शायद ऐसा विश्वास है कि उदय भी उसे चाह रहा है। परन्तु फिर उसे ऐसा लगता है कि शायद उदय उसके साथ नाटक कर रहा हो। "नही, ऐसा धोखा उदय नही देंगे।"¹⁰³ नारी मन को ये विभिन्न स्थितियाँ बड़ी सहज होकर यहाँ व्यक्त हुई हैं। एक मन कह रहा है कि उदय पर इस प्रकार

उन्मुक्त प्रेम ठीक नहीं है। शायद यह धोखा है। "इन लेखकों-वेखकों से दोस्ती करना भी बड़ा खतरनाक है।"[१०४] और दूसरा मन कहता है कि कोई धोखा नहीं है। इस प्रकार का संघर्ष आखिर तक है।

उदय जहाँ रहता है वहाँ अब वह अक्सर जा रही है। उदय को अपने पति-रूप में भी वह देख रही है। जैसे—उदय जिस चाल में रहता है वहाँ जाने के बाद अचानक उसके मन में यह "आशंका कौंध जाती है, कहीं मुझे भी इन्हीं चालों में से एक में नहीं रहना होगा ? शिवाजी पार्क में रहना सपना है और इन कमरों में सड़ना मेरी आशंका।"[१०६] उदय के प्रति उसके मन में समर्पण के भाव बढ़ते जा रहे हैं। "जाने क्यों हर समय लगता रहता है कि मैं जो कुछ भी नया पा रही हूँ, वह मेरा नहीं है। उसे उदय को सौंपना है, उदय को देना ही है।"[१०७] स्थिति इतनी अधिक विचित्र बन गई है कि "अब तो ऐसा लगता है जैसे मैंने अपना जीवन जीना छोड़ ही दिया है।"[१०८] अकेलेपन के एहसास से वह मुक्ति चाहती है। एक विशेष आयु में स्त्री और पुरुष को यह अकेलापन बड़ा भयावह लगता है। इससे निजात पाने के लिए उसका सारा शरीर और मन छटपटाने लगा है। व्यक्तित्व और शरीर-समर्पण की यह इच्छा स्वाभाविक ही है। इस स्थिति का बड़ा ही सशक्त चित्रण यहाँ हुआ है। उदय के निकट आने के बाद तो सुजाता में यह छटपटाहट की स्थिति बहुत बढ़ जाती है। इसी कारण वह लिखती है—"सागर, सुनो सागर, मैं बहुत थक गई हूँ··· बहुत टूट गई हूँ। मुझे विराम दो···। इन विधि-निषेध के किनारों ने मुझे पीस डाला है, मेरी हर तरंग को, लहर-लहर को कुचला है, इन्होंने। मेरी रग-रग में दावानल के स्फुलिंग दिए हैं···। अब मुझे मुक्ति दो···मुझे अपना मैं नहीं चाहिए···'आई एम' ओनली व्हेन आई एम विद् 'हिम'।"[१०९] इस पूरे उद्धरण में प्रेयसी सुजाता की अभिव्यक्ति हुई है। शरीर और मन की यह छटपटाहट इतनी तीव्र है कि विधि-निषेध के किनारे भी गलत लगने लगते हैं। मध्यवर्गीय संस्कारों के कारण वह अपने को घुटी-घुटी सी अनुभव कर रही है। अब प्रश्न केवल इतना है कि क्या उदय भी यही महसूस कर रहा है ? अगर उदय में ऐसी छटपटाहट नहीं है तो फिर सुजाता की इस मनःस्थिति की सार्थकता क्या है ? आज जो कुछ सुजाता अनुभव कर रही है; वैसा उसने पहले अनुभव नहीं किया था। इसके मूल में शायद 'बायालॉजिकल'[११०] कारण ही अधिक हैं।

अक्सर सुजाता यह सोच रही है कि उसकी प्रीति एक ओर की तो नहीं है। "एक अंग को प्रीति हमारी, वे जैसे के तैसे" की स्थिति तो नहीं है। "उनके दिमाग में भी तो अक्सर कुछ-न-कुछ आता ही होगा···········? डायरी लिखते हैं ?—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। एकाध घण्टा तो सोचते होंगे।"[१११]

दिनांक २० जुलाई से सुजाता अपर्णा की समस्या से उलझ गई है। प्रिन्सेस

अपर्णा और उदय की बहन अपर्णा दोनो एक हैं क्या ? यह उसका प्रश्न है। वास्तव मे इसके पूर्व भी उसके मन मे यह प्रश्न कई बार उठा है। इसके मूल म ईर्ष्या है, अपना 'आदमी' क्या वास्तव म 'दूसरो' से जुडा है, यह जानने की उत्सुकता है। प्रेम के नाम पर धोखा तो नही दिया जा रहा है ? आखिर यह अपर्णा है कौन जो हम दोनो के बीच खडी है। यह अपर्णा कही दीवार तो नही बनेगी ? नारी-सुलभ जिज्ञासा के ये विभिन्न प्रश्न हैं। और इन प्रश्नो की खोज सुजाता आरम्भ म ही कर रही है। उसको कई बार इस बात की शका भी आई है कि हो न हो वे दोनो एक हैं। उसका भावुक मन उन दोनो को एक रूप मे स्वीकार करने तैयार नही है। रविवार २१ जुलाई को यह रहस्य सयोग से ही खुल जाता है। सुजाता उस दिन यूँ ही उदय के कमरे पर गई थी। और उदय के नौकर के हाथ उसने 'प्रिन्सेस अपर्णा' के नाम लिफाफा देखा। सारे नीति नियम टाँगकर उसने वह पत्र पढ लिया। और पत्र पढने के बाद उसके सामने एक दूसरी दुनिया खडी हो गई। और अब तक के सारे स्वप्न बिखर गए। किसी स्त्री का मानसिक ससार यूँ अचानक ढह जाना यह उसके लिए सबसे दर्दनाक घटना हो सकती है। इस पत्र मे यह स्पष्ट हो जाता है कि उदय सुजाता का माध्यम के रूप म प्रयोग कर रहा था। जिसे वह अपना लक्ष्य समझ रही थी, वही उसे 'माध्यम' समझ रहा था। केवल समझ ही नही रहा था अपितु उसने उसका उपयोग कर लिया है। उदय का वह तटस्थता से अध्ययन करना चाह रही थी और उसे गुमान भी था कि वह उदय का अध्ययन कर सकी है। परन्तु इस पत्र ने उसकी अध्ययन-शून्यता को सप्रमाण साबित किया है। "उदय ने आखिर मेरे साथ यह मजाक क्यो किया ? क्या बेवकूफ बनाया है मुझे भी ।"[११९]

सचमुच उदय ने उसके साथ विचित्र खेल खेला है। दर्दनाक और जानलेवा खेल है यह ! अजीब बात यह है कि सुजाता इस खेल के लिए तैयार नहीं थी। उसे यह भी मालूम नही था कि खेल खेला जा रहा है। दो प्रतिस्पर्द्धियो मे से एक को इस खेल का ज्ञान हो नही और दूसरा सारे प्रसगो, सवादो और घटनाओ को खेल के रूप म ही ले रहा है। "नही, मैंने तो उनके साथ कोई खेल नही खेला कोई चाल नही चली कि 'शह' खाकर अब मात खाऊँ ।" और उदय कह रहा है कि अपनी मात को वह स्वीकार करें। इसीलिए "हार की क्या बात है, यह तो सरासर धोखा है । इट्स् नॉट ए फेअर गेम ।'[१११] सचमुच यह कोई 'फेअर गेम' नहीं है। उदय भी इस बात को स्वीकार करता है "सुजाता ने स्वप्न भग की उस वितृष्णा म ठीक, ही कहा था कि 'इट्स नॉट ए फेअर गेम।' सच ही यह ईमानदारी का खेल नही है।"[११२] इस खेल के प्रति दोनो पक्षो के अपने-अपने तर्क हैं। उदय के अनुसार 'लेकिन एक बार खेल शुरु हो चुका था—मैं क्या करता ।"[११३] उदय ने

सुजाता को युवती-रूप में कभी देखा ही नहीं। वह तो उसे लेखिका-रूप में ही देखता रहा। और इस लेखिका के साथ ही उसने यह जानलेवा खेल शुरू किया था। और सुजाता लेखिका-रूप में उदय के सम्पर्क में आई थी, परन्तु उसका यह लेखिका रूप कब तिरोहित हो गया और वह कब 'प्रेयसी सुजाता' बन गई, इसका उसे एहसास ही नहीं रहा। इतना सच है कि मात खाने के बाद सुजाता सर्वाधिक दुःखी हुई है। दुःख पराजित होने का नहीं है; अपितु सीढ़ी के रूप में उपयोग किए जाने का है। इसीलिए २३ जुलाई की डायरी में सुजाता नोट लिखती है—"तुम चाहे जिसके दूत बनो, चाहे जिसके प्रति वफादार रहो मगर मुझे यों सीढ़ी और सेतु मत बनाओ। मुझसे यह नही सहा जाएगा। मैं तो तुम से डोर का एक सिरा बनकर मिली थी··· कमन्द का सिलसिला नहीं।"[१११]

सुजाता के व्यक्तित्व का विशेषतः उसके मानसिक व्यक्तित्व के उतार-चढ़ाव का यह क्रमशः विवेचन है। इस समग्र विवेचन के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष दिए जा सकते हैं—

(१) इस सम्पूर्ण उपन्यास में सुजाता के तीन रूप उभरकर आये हैं—**मध्यवर्गीय संस्कारों से पीड़ित नारी सुजाता**, तेज के द्वारा ठगी जाने के कारण आहत **प्रेयसी सुजाता** [जो अब उदय की ओर आकृष्ट हो रही है; और उदय के सम्पर्क के बाद उसका यह 'प्रेयसी रूप' अधिक सशक्तता के साथ व्यक्त हो रहा है] और व्यक्तित्व के जिस अंश पर उसे सर्वाधिक अभिमान है (कुछ सीमा तक गर्व भी) वह **लेखिका सुजाता**। नारी, प्रेयसी और लेखिका का यह संघर्ष डायरी के अनेक पन्नों में बिखरा पड़ा है। प्रेयसी सभी बंधनों को तोड़कर शारीरिक मिलन के लिए उत्सुक है, नारी इस पर अंकुश लगवाने का काम कर रही है और लेखिका इन दोनों का सूक्ष्म निरीक्षण कर रही है। जब वह डायरी लिखने बैठती है तब उसका लेखकीय रूप तिरोहित हो जाता है और नारी तथा प्रेयसी का रूप ही उभरकर आता है। अलबत्ता उदय के निकट आने के बाद उसका लेखकीय रूप अधिक सजग हो उठा है। जहाँ कहीं प्रेयसी रूप व्यक्त होने की कोशिश करता है, वहाँ पर उसकी संस्कारशील नारी उसे रोक देती है। यह संस्कारशील नारी ही उसका स्वाभाविक रूप है। इसका यूँ अंकुश रहने के कारण ही सुजाता बिगड़ने से पहले ही सुधर गई है। व्यक्तित्व का उसका यह अंश ही उसकी शक्ति है और उसकी सीमा भी। हालाँकि प्रेयसी सुजाता इस स्थिति को मान्य करना नहीं चाहती। उसे जबरदस्त दुःख है कि यूरोपीय युवतियों की तरह भारतीय युवतियों का प्रेम उन्मुक्त होकर प्रकट क्यों नहीं होता? उसकी इच्छा भी है कि वह इन सब बन्धनों को त्याग दें। परन्तु उसके भीतर की नारी उसे यह करने से रोक देती है। और यहीं पर यह सिद्ध हो जाता है कि अपने मध्यवर्गीय संस्कारों से सुजाता कितनी दृढ़ता से बन्धी हुई है। इस मध्यवर्गीय युवती

का वास्तव में बड़ा ही जीवन्त चित्रण इसके माध्यम से हुआ है।

(२) सुजाता के मन में पुरुष शरीर के प्रति आसक्ति है, खिंचाव है। इस उम्र की किसी भी नारी में इस प्रकार का खिंचाव स्वाभाविक है। इसी कारण वह किसी की बाँहों में अपने को समर्पित करना चाहती है। एक ओर ये प्राकृतिक इच्छाएँ हैं, तो दूसरी ओर मध्यवर्गीय संस्कार। इच्छा और संस्कारों में संघर्ष शुरू हो जाता है। समाज, शिक्षा, नीति-अनीति की कल्पनाएँ आदि के कारण यह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती, इसी कारण कुण्ठा, घुटन, मानसिक रति आदि का उदय हो जाता है। उसकी इन साठ दिनों की जिन्दगी में केवल यही है। भय की ग्रन्थि से भी वह पीड़ित है। ये भय ग्रन्थियाँ भी मध्यवर्गीय संस्कारों के कारण ही उत्पन्न हुई हैं। उसमें साहस की कमी है। वास्तव में इसी 'कमी' ने उसे उबारा है। मानसिक रूप से वह उदय के साथ पूर्णता जुड़ गई है। यह मानसिक मिलन अपूर्ण है, जब तक शारीरिक मिलन नहीं है। और इस प्रकार का मिलन तो संभव ही नहीं है। वह न इस मानसिक जोड़ को तोड़ सकती है और न उन्मुक्त रूप से मिल सकती है। इस स्थिति में कुण्ठाओं और भिन्न भिन्न ग्रन्थियों का निर्माण होना स्वाभाविक था, और यह हुआ भी है।

कुछ सीमा तक इस उपन्यास में 'लिस्बियां' के संकेत मिलते हैं। उदय के सम्पर्क में आने के बाद सुजाता के मन में शारीरिक इच्छाएँ इतनी तीव्र हो जाती हैं कि वह अपनी सहेली रेखा के शरीर के साथ शरारत करती है। (१९ जून की डायरी के पृष्ठ)। यह उसकी दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति है। वह सोचती है— "कैसा लगता होगा बलात्कार के समय ? क्या एक बार इस अनुभव से नहीं गुजरा जा सकता। फिर वह सोचती है कि छि मेरे मन में ये कैसी भद्दी-भद्दी बातें आने लगी हैं।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि उसकी शारीरिक इच्छाएँ कितनी उभर कर आ रही थीं।

(३) इस पूरे विवेचन से स्पष्ट है कि सुजाता मध्यवर्गीय भारतीय युवती के मानस का प्रतिनिधित्व करती है। क्योंकि इस देश में प्यार मानसिक स्तर पर ही व्यक्त होता रहा है। मानसिक स्तर के इस प्यार पर अनेक बन्धन होने के कारण ही यह कुण्ठा तथा अन्य यौन-ग्रन्थियों में परिवर्तित हो जाता है। किसी की ओर आकृष्ट होना, मन-ही मन उसे पूजना, उसे लेकर अनेक स्वप्न देखना तथा अन्त में किसी कारण उससे विवाह न होने पर लगातार आँसू बहाना और किसी अन्य से विवाह कर लेना यह भारतीय युवक-युवतियों की नियति ही है। इस दृष्टि से सुजाता का चित्रण अत्यधिक आकर्षक एवं जीवन्त बन गया है।

(४) उदय सुजाता के साथ एक 'खेल' खेल रहा था। पगली सुजाता इस खेल को समझ नहीं सकी। कई बार वह भी अपने मन को समझा रही थी कि एक

लेखक की दृष्टि से वह 'उदय' का निरीक्षण कर रही है। परन्तु यह 'निरीक्षण' धीरे-धीरे कब प्रेम में परिवर्तित हो गया, इसे वह समझ ही नहीं सकी। जिस दिन उसे यह पता चला कि उदय तो केवल माध्यम के रूप में ही उसका उपयोग कर रहा है, उस दिन वह पूर्णतः क्षुब्ध हो गई। उसके युवा स्वप्नों पर यह जबरदस्त आघात था। जिसे वह अपना लक्ष्य समझ रही थी; वह तो महज उसका 'माध्यम' के रूप में उपयोग कर चुका है। यहाँ सुजाता तीनों रूपों में हार गई है। सबसे बड़ी असफलता तो लेखिका सुजाता की है; क्योंकि वह प्रिन्सेस अपर्णा और बहन अपर्णा के सम्बन्ध को समझ नहीं पायी। उदय तथा प्रिन्सेस अपर्णा के अभिनय को भी वह समझ नहीं सकी। संभवतः उसके प्रेयसी मन ने उसके लेखकीय व्यक्तित्व को दबोच लिया था; इसलिए शायद ऐसा हुआ। उदय न केवल उसका अपितु उसके माध्यम से अपर्णा का निरीक्षण कर रहा था और इसमें वह सफल हुआ। वह उदय के सही रूप को समझ नहीं सकी, यह एहसास उसकी लेखकीय चेतना को तोड़ देता है।

प्रेयसी-रूप में भी वह मात खा चुकी है। उदय उससे किसी भी स्तर पर जुड़ा हुआ नहीं था—यह एहसास उसके प्रेयसी मन को तोड़ देता है। अलबत्ता 'नारी सुजाता' न मात खा चुकी है और न विजयी है। क्योंकि इस 'नारी' ने कोई प्रतिज्ञा नहीं की थी। वह तो बंधन तोड़ने वाली प्रेयसी पर रोक लगा रही थी। वास्तव में इस भीतरी मध्यवर्गीय 'नारी' ने ही सुजाता को बचाया है।

उदय का पत्र प्राप्त हो जाने के बाद सुजाता चिढ़-सी जाती है। इसी कारण वह लिखती है—"जी में तो मेरे भी आ रहा है कि मैं उदय से जाकर कह दूँ कि जो किस्से मैं राजकुमारी को लेकर रोज-रोज बताया करती थी उन्हें क्या तुम सच-मुच सच समझते हो? अरे यह कैसे भूल गए कि मैं कथाकार ही नहीं अभिनेत्री भी थी और रोज मन बहलाने को एक किस्सा गढ़कर सुनाया करती थी—?"[१७] मात खाने के बाद अपने मन को समझाने की यह असफल तथा स्वाभाविक कोशिश है।

डायरी के अन्तिम पृष्ठ में सुजाता का दुःख व्यक्त हुआ है। यह दुःख लेखिका तथा प्रेयसी सुजाता का है। "तुम चाहे जिसके दूत बनो, चाहे जिसके प्रति वफादार रहो—मगर मुझे यों सीढ़ी और सेतु मत बनाओ। मुझसे यह सब नहीं सहा जाएगा। मैं तो तुमसे डोर का एक सिरा बनकर मिली थी...कमन्द का सिलसिला नहीं..."[१८] यूँ सीढ़ी या कमन्द बन जाना सुजाता की शायद 'नियति' ही थी।

अपनी पराजय की स्थिति को सुजाता जिन्दगी-भर भूल नहीं पायी है। इसी कारण तो उसने युवावस्था की डायरी आज तक संभालकर रखी है। इस पुरानी डायरी को संभालकर रखने के मूल में तीन कारण हो सकते हैं—

(१) **प्रेम की असफलता**—जिसे भूलना किसी भी पुरुष अथवा स्त्री को संभव नहीं अर्थात् स्थूल अर्थों में यह 'प्रेम' नहीं है। उदय के सम्पर्क में आने के बाद पूरी

उत्कटता के साथ ये 'क्षण' वह जी चुकी थी। चरम तन्मयता अथवा चरम उत्कटता के इन क्षणों को भूलना उसे असम्भव था, इसीलिए इस डायरी को उसने सुरक्षित रखा है।

(२) आयु की विशिष्ट अवस्था—इस अवस्था में हुए अपमान या पराजय को व्यक्ति भूल नहीं सकता। इस समय की 'मानसिक अवस्था' डायरी के इन पृष्ठों में सुरक्षित है। और पिछली जिन्दगी को फिर से देखने का एक मात्र माध्यम यह डायरी है, इसलिए उसने यह डायरी सुरक्षित रखी है।

(३) उसका लेखकीय व्यक्तित्व—जो उस विशिष्ट अवस्था को शब्दबद्ध कर चुका है और उस लेखन को वह नष्ट होने नहीं देना चाहता। बहरहाल 'सुजाता' के मन पर इन ५१ दिनों के सम्पर्क का अमिट प्रभाव पड़ा है।

सही अर्थों में सुजाता पराजित नहीं हुई है। क्योंकि अगर वास्तव में यह खेल था तो दोनों पक्षों को इस खेल का पता होना चाहिए था। एक व्यक्ति सम्पूर्ण आत्मीयता से, सम्पूर्ण लगन से प्रेम करे, समर्पित हो जाय और सामने वाला कुछ समय तक के लिए उस समर्पण के प्रति, प्रेम के प्रति योग्य प्रतिसाद दे और बाद में कह दे कि यह तो खेल था, यथार्थ कुछ भी नहीं—तो दोष पहले का नहीं दूसरे का ही हो सकता है।

'उदय' सुजाता की दृष्टि से

सचमुच बहुत ही झेंपू हैं लड़कियों के सामने प्राण निकलते हैं। २५

यह तो जनाना पुरुष है। ३४

इन्हें सहानुभूति चाहिए यह इनके गढ़ का सबसे कमजोर कोना है।

कुछ कहते हैं कि वे नम्बरी स्नॉब और दम्भी हैं, अपने आगे किसी को कुछ लगाते ही नहीं। कुछ के खयाल से वे जरूरत से ज्यादा छिछले और 'चीप' हैं। कुछ के लिहाज से वे बहुत ही अध्ययनशील, गम्भीर और सौम्य हैं और कुछ उन्हें निहायत घना और घुटा हुआ कहते हैं एक दल उन्हें देसी-विदेशी पूँजीपतियों का दलाल बतलाता है और दूसरा उन्हें रूसी एजेण्ट घोषित करता है। ४२

पहले यह आदमी मुझे भी बड़ा उद्दण्ड और किसी हद तक बदतमीज लगा था, लेकिन अब कुछ-कुछ दया आने लगी है। ८३

उदय में सचमुच कलाकार के टच हैं। १२६

आदमी बड़ा झक्की है। १४५

न तो वे देखने में ही ऐसे सुन्दर, प्रभावशाली, न सामाजिक दृष्टि से ऐसे प्रतिष्ठित आर्थिक दृष्टि का तो कहना ही क्या? एक उखड़ा हुआ हवा में उड़ता बीज जो अपने लायक धरती खोजने में खुद यहाँ से वहाँ भटक रहा हो। १६९

बड़ा आत्मतुष्ट अपने में ही डूबा और कुछ दम्भी-सा व्यक्ति भी वह

सकते हैं। १७१

उदय से बातें करते समय मन में एक आश्वासन, एक सन्तोष तो होता है। १७२

यह आदमी निहायत ही आत्म-केन्द्रित, अपने में ही डूबा, हमेशा अपनी ही समस्याओं में उलझा-खोया रहने वाला है। १७९

सचमुच, ऐसा ठण्डा-निर्जीव और अपने में ही डूबा रहने वाला; सिर्फ अपनी-ही-अपनी बातें करते रहने वाला आदमी तो मैंने आज तक देखा ही नहीं कभी।

एक असमर्थ आदमी·········जो हर वक्त अपने-आप को, स्त्रियों को लेकर ही उलझा और डूबा दिखाकर एक मानसिक संतोष पाता है······दूसरों के आगे हमेशा एक भ्रम बनाए रखना चाहता है। १८०

हमेशा, जब देखो तब, जान-बूझकर एक रहस्य का मकड़ी का जाल-सा अपने चारों ओर (यह आदमी) लपेटे रहेगा। १८४

क्या हक था इसे मेरी भावनाओं से यों खिलवाड़ करने का ? जी में आता है कि पागल और उद्भ्रान्त की तरह इसके सारे कपड़े चीर-चीर कर डालूं, घूंसों और मुक्कों से इसे कूट-कूटकर बेहाल कर दूं, नाखूनों और दाँतों से इसके चिथड़े उड़ा दूं और फिर इसके मुंह पर खूब थूकूं, "ले, और ले, और खेल।"

उदय : सुजाता के बाद महत्त्वपूर्ण स्थान 'उदय' का है। सुजाता के मानस-संसार का मूल आधार उदय का व्यक्तित्व ही है। उदय की मनःस्थिति का सूक्ष्म और गहरा चित्रण इस उपन्यास में नहीं हुआ है। इसका एक बहुत बड़ा कारण 'डायरी शैली' है। क्योंकि इसमें केवल सुजाता की डायरी के ही पन्ने अधिक हैं। उपन्यास के अन्त में उदय की डायरी के ७-८ पन्ने हैं परन्तु उसमें उसका लेखकीय व्यक्तित्व ही उभरकर आया है। जिस प्रकार सुजाता अपने विभिन्न रूपों में—लेखिका प्रेयसी, नारी—प्रकट हुई है वैसे 'उदय' के विभिन्न रूप प्रकट नहीं हुए हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं—(अ) सुजाता डायरी लिख रही है; उदय नहीं। (आ) लेखक उदय अपने विषय के प्रति अत्यधिक तटस्थ है। वह 'सुजाता' को केवल माध्यम के रूप में देख रहा था। सुजाता के सम्पर्क से उसके भीतर का पुरुष बह नहीं सका है।

उदय का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से करना मुश्किल है। क्योंकि उदय के व्यक्तित्व को सुजाता के माध्यम से ही जानना पड़ता है। मजेदार बात यह है कि उदय सुजाता का माध्यम के रूप में उपयोग कर रहा था; और पाठक-समीक्षक 'उदय' को सुजाता के माध्यम से ही जान पाते हैं। इसीलिए नारी, प्रेयसी और लेखिका सुजाता ने उदय को जिन-जिन रूपों में देखा है वे विविध रूप तथा स्वयं उदय ने अपने सम्बन्ध में आखिर जो कुछ भी लिखा है और उसमें उसके जो विभिन्न

रूप उभरते है वे रूप—इन दोनो मे आन्तरिक सगति खोजनी पडती है । इन दोनो के तुलनात्मक अध्ययन से ही 'उदय' के वास्तविक चरित्र को हम जान सकेंगे ।

उदय से परिचय हो जाने के बाद ही सुजाता उनके सम्बन्ध मे लिखती है—"लडकियो के सामने इनकी बोलती बन्द हो जाती है और सारा मुँह लाल पड जाता है ।"[११] आरम्भ से ही सुजाता उदय पर हावी होना चाहती है । वह उनके सम्बन्ध मे मनमाने निष्कर्ष निकालने लगती है । उदय के आरम्भिक व्यवहार से ही स्पष्ट हो जाता है कि किसी युवती से उनका घनिष्ठ परिचय है । वह बार-बार उस फोन करते रहते हैं । उसके सम्बन्ध म बडे उत्साह से बोलते रहते हैं । यह युवती है—प्रिन्सेस अपर्णा । उनकी फोन की बातचीत से स्पष्ट है कि वे स्त्रियो से बहुत ही खुलकर बातें करते हैं । फिर सुजाता के उपर्युक्त निष्कर्ष में कोई अर्थ नही है । सुजाता के अनुसार 'वह एक जनाना पुरुष है जिसको प्यार ने बिगाड दिया है ।"[११] इस मत मे भी तथ्य नही है । क्योंकि उदय सुजाता की तरह न भावुकता मे बहता है और न किसी प्यार के चक्कर मे पडा है । इस लेखक के सम्बन्ध मे लोगो की अलग-अलग रायें हैं । "कुछ कहते हैं कि नम्बरी स्नॉब और दम्भी है, अपने आगे किसी को कुछ लगाते ही नही । कुछ के खयाल से वे जरूरत से ज्यादा छिछले और चीप हैं । कुछ के लिहाज से वे बहुत ही अध्ययनशील, गम्भीर और सौम्य हैं और कुछ उन्हे निहायत बना और घुटा हुआ कहते हैं एक दल उन्हे देशी विदेशी पूँजीपतियो का दलाल बतलाता है और दूसरा उन्हें रूसी एजेण्ट घोषित करता है ।"[१११] उदय जैसे एक प्रसिद्ध लेखक के सम्बन्ध मे ये परस्पर विरोधी निष्कर्ष स्वाभाविक ही हैं । उदय की ओर आकृष्ट हो जाने के बाद सुजाता इन निष्कर्षों को स्वीकार नही करती । "लेकिन, विश्वास नही होता कि उदय ऐसे हैं ।"[१११] उदय के अनुसार वह खुद "कुछ बदतमीज और मुँह फट हूँ, दूसरे, हर बात को कुछ बढा-चढाकर कहने का मुझे बहुत अभ्यास है ।"[१११]

उदय अपनी आर्थिक परिस्थिति से बहुत परेशान है । केवल लेखन पर जीने की वह कोशिश कर रहा है । परन्तु इससे कुछ अधिक तो मिलता नही । इसी कारण किस्मत आजमाने के लिए वह बम्बई आया है । प्रिन्सेस अपर्णा नामक कोई स्त्री उसके उपन्यासो को पढकर उससे पत्र-व्यवहार कर रही है । यह पत्र व्यवहार बढता गया । इन पत्रो के कारण उदय के मन मे उसके प्रति 'एक लेखकीय जिज्ञासा' उत्पन्न हो गई है । वह प्रिन्सेस अपर्णा को उसके सम्पूर्ण परिवेश मे समग्रता से जानना चाह रहा है । परन्तु सस्कार और वर्ग की दीवारें दोनो के बीच खडी हैं । फोन पर वह ही बात कर सकते हैं, प्रत्यक्ष मिल नही सकते । इसी कारण 'लेखक उदय' के मन मे "सस्कार और वर्ग की दीवारो की दरार टटोलने की बेचैनी' शुरू हुई । परन्तु प्रश्न था कि इस अपर्णा को समग्रता से कैसे जाना जाय ? उचित माध्यम की तलाश

में वह था। और इसी समय उसका परिचय सुजाता से हो गया। "इस जिज्ञासा से मैं कैसे इन्कार करूँ कि मैं अपर्णा और उसकी दुनिया के बारे में अधिक-से-अधिक नहीं जानना चाहता था ? मेरी यह दुर्दम्य महत्वाकांक्षा रही है कि मैं उसके सम्पूर्ण परिवेश में जानूं; उसे अन्तर्तम तक जानूं।"[१२४] इस तथ्य की प्राप्ति का एक मात्र रास्ता था—"और रास्ता मेरे पास था और मैंने सुजाता की प्रतिमा, सूझ और कुशलता पर विश्वास करके उसे वहाँ भेज दिया।"[१२५]

"हल्का ठिगना कद, सांवला रंग और छरहरा बदन। एक सचेत असावधानी से सँवारकर बिखराये गये बाल, माथे पर घाव का निशान"[१२६]—यह उदय का शारीरिक वर्णन है। वह महत्वाकांक्षी है। इसी महत्वाकांक्षा के कारण वह बम्बई में तकदीर अजमाने आया है। पंडित चोखेलाल के साथ सिनेरियाँ और डायलॉग में सहायक के रूप में वह काम करता है, मासिक वेतन पर। किसी सिंह के साथ एक कमरे में रहता है। स्पष्ट है कि उदय की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है। उसके अपने ये संघर्ष के दिन हैं। सुजाता ने भूमिका में इसी बात को और स्पष्ट किया है—"उदय अपने उस काल से गुजर रहे थे जिसे सफल लेखक आगे जाकर 'संघर्ष के दिन' कहता है·········।"[१२७] परन्तु इस आर्थिक संघर्ष के समय भी उदय का लेखकीय व्यक्तित्व अधिक सजग और अपने 'विषय' के प्रति ईमानदार और तटस्थ है। 'प्रिन्सेस अपर्णा' का समग्रता से अध्ययन करना यह लक्ष्य इसी समय का है। एक ओर अपने लेखकीय व्यक्तित्व के प्रति सजगता और तटस्थता है तो दूसरी ओर वह बहुत ही जिद्दी, महत्वाकांक्षी और अपने निश्चय में दृढ़ है। इसी कारण वह एक स्थान पर कहता है—मैंने भी निश्चय कर लिया है कि लौटना यहाँ से नहीं है। लौटूंगा तो सफल होकर ही लौटूंगा।"[१२८]

प्रेम के सम्बन्ध में उदय के विचार भावुकता और शारीरिक आकर्षण से कोसों दूर हैं। किसी रश्मि नामक लड़की के सन्दर्भ में उसके ये विचार प्रकट हुए हैं। "आज का प्रेम बहुत अधिक व्यापारी हो गया है। उसमें हमेशा एक द्विविधा, एक धर्म-संकट, ऊपर से दिखावटी और भीतर से निहायत ही हिसाबीपन, साथ ही अपनी ही मनोवृत्ति पर ग्लानि—सब कुछ मिलाकर शायद यह आज के प्रेम की तस्वीर है।"[१२९] इस प्रकार के विचार व्यक्त करने वाला उदय आगे चलकर एक स्थान पर ठीक इसके उलटे विचार व्यक्त करता है। प्रिन्सेस अपर्णा के अनुसार "स्त्री-पुरुष के बीच में दोस्ती, एक आत्मीय घनिष्ठता बिना शारीरिक सम्बन्ध आये सम्भव नहीं है।"[१३०] और इसके लिए अपर्णा अनेक तर्क देती है। इस बात की चर्चा सुजाता जब उदय के साथ करती है तब उसे अनुभव होता है कि "प्रिन्सेस और उदय के तर्क एक-से हैं।"[१३१]

सुजाता के अनुसार "उदय रश्मि और अपर्णा के चक्कर में फँसा हुआ है।

इन दोनो को लेकर उसके मन मे संघर्ष है।" तो सहेली रेखा के अनुसार "पहले उसके पास दो थी, अब तीसरी तू और हो जायेगी।"¹¹¹ वास्तव में सुजाता और रेखा इन दोनो के तर्कों मे कोई अर्थ नही है। क्योंकि उदय के मन मे इस प्रकार का कोई द्वन्द्व इन युवतियो को लेकर नही है। 'रश्मि' से वह बन्धा हुआ है। अपर्णा उसके अध्ययन का लक्ष्य है और सुजाता मात्र माध्यम।

सुजाता के प्रति उदय किसी भी स्तर पर जुड़ा हुआ नही है। सुजाता को अपनी प्रतिभा और सौन्दर्य पर गर्व है। उसे हर बार लगता है कि उदय उसके शरीर के साथ खिलवाड करेगा ही। परन्तु उदय इस सम्बन्ध मे मौन है। इस मौन के पीछे 'लेखकीय तटस्थता' है। अपने माध्यम के साथ अतिरिक्त भावुकता तथा अन्य आकर्षण के कारण वह बहना नही चाहता। माध्यम लक्ष्य न बने इसकी पूरी कोशिश उदय करता है। इस कोशिश मे उसे सफलता भी मिली है। प्रेयसी सुजाता को यह सम्भव नहीं हो सका है। उसकी इस तटस्थता का प्रमाण २४ जून की डायरी मे मिलता है। सुजाता के अनुसार उदय में ऐसी कोई खास विशेषता नही है। "न तो वे देखने मे ही ऐसे सुन्दर, प्रभावशाली, न सामाजिक दृष्टि से ऐसे प्रतिष्ठित आर्थिक दृष्टि से तो कहना ही क्या? एक उखडा हुआ हवा मे उडता बीज जो अपने लायक धरती खोजने में खुद यहाँ से वहाँ भटक रहा हो ।"¹¹¹ इन सारे अभावों के बावजूद उदय की ओर सुजाता आकृष्ट हुई है। यह स्थिति न केवल सुजाता की ही है अपितु अपर्णा और रश्मि की भी है। अर्थात् उदय की ओर स्त्रियाँ अनजाने ही आकृष्ट हो जाती हैं। इस आकर्षण के बाद ये खुद तय नही कर पातीं कि यह कैसे सम्भव हुआ। इसी कारण सुजाता लिखती है—"वह कैसे मेरी भावनाओ को उकसा सका?"¹¹¹ व्यक्तित्व की इसी विशिष्टता के कारण सुजाता यह कहने को मजबूर है कि "वे प्रतिभाशाली हैं, और उनके व्यक्तित्व में एक आत्मविश्वास की दृढता है।"¹¹¹

सुजाता की डायरी के पन्नो से एक बात साफ हो जाती है कि उदय सुजाता से कई चीजें छिपाता रहा। उसके अनुसार अपर्णा को जानने के लिए यह जरूरी था। प्रिन्सेस अपर्णा और बहन अपर्णा ये दो अलग-अलग न होकर एक ही हैं, प्रिन्सेस अपर्णा से उसका पुराना परिचय था और उसी ने प्रिन्सेस अपर्णा को उसकी ओर भेज दिया था; आदि सभी बातें उसने सुजाता से अन्त तक छिपाकर रखीं। केवल संयोग से ही इन सारे रहस्यो को सुजाता जान सकी है। उदय पर दो दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। (अ) एक दृष्टि सुजाता की अपनी दृष्टि है। उसके अनुसार "यह सरासर धोखा हुआ है। उसकी भावनाओं, श्रद्धाओं और स्वप्नो के साथ धोखा। उदय ने उसे मात जरूर किया है परन्तु "इटम् नॉट ए फेअर गेम।" (आ) उदय की दृष्टि से एक लेखक के लिये इस प्रकार का दुराव-छिपाव जरूरी

था। वह अगर सारी बातें पहले से ही कह देता तो शायद अपने लक्ष्य को प्राप्त न करता। "अगर मैं यह कहूँ कि यह तो सिर्फ शह था और असल में तुम मात खा गई हो तो तुम्हें कैसा लगेगा ? सच सुजाता, कई बार मेरे मन में आया कि मैं यह सब न करूँ, मेरे हाथों से कम-से-कम यह सब न हो......लेकिन एक बार खेल शुरू हो चुका था—मैं क्या करता ?"[१३६] सुजाता का माध्यम के रूप में उपयोग करने के के मूल में उदय के मन में मुख्यतः दो भावनायें थीं—(अ) एक उगती हुई प्रतिभा को पी जाने का स्वार्थ।"[१३७] (आ) अपर्णा को जानने के लिए मैंने सुजाता की प्रतिभा, सूझ और कुशलता पर विश्वास करके उसे वहाँ भेज दिया।"[१३८]—इसी उद्देश्य से उदय ने सुजाता के साथ सम्पर्क बढ़ाया था। कुछ सीमा तक उसने प्रेम का नाटक भी किया था। लेकिन उसके दिल की हालत बड़ी विचित्र हो गई। भोली और प्रतिभासम्पन्न युवती का इस प्रकार उपयोग उदय को कभी पसन्द न आया। परन्तु उसके सामने दूसरा रास्ता भी नहीं था। एक लेखक की हैसियत से क्रूर बनकर यह सब देखना भी अब उसकी नियति थी। बार-बार यह डर महसूस होता था कि "कहीं यह गन्ध मुझे भरमा न ले; मुझे मोहकर रोक न ले......कि कहीं यह कमन्द टूट न जाये।"[१३९] "लेकिन मन में जाने कैसा एक क्रूर उन्माद था, एक पागल आवेश था कि लौटने नहीं देता था।"[१४०] सुजाता उदय के निकट एक ही उद्देश्य से आई थी—कि उदय का सभी कोणों से अध्ययन किया जाये। परन्तु जैसे-जैसे यह निकटता बढ़ती गई वह अपने उद्देश्य को भूल गई। उसके भीतर की प्रेयसी उसके लेखकीय व्यक्तित्व पर हावी हो गई। उदय सुजाता के निकट आने के बावजूद भी अपने लक्ष्य को क्षण भर के लिए भी नहीं भूलता। उसके भीतर का लेखक बड़ा ही क्रूर, तटस्थ और कठोर है। हॉलांकि उदय इस समय युवावस्था में ही है। फिर भी अपने 'विषय' के प्रति वह अद्‌भुत रूप से तटस्थ रहता है। यही उसके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है। इसी कारण उसके मन में कहीं पर भी संघर्ष अथवा द्वन्द्व नहीं है। अलबत्ता उसकी डायरी के फाड़े हुए पन्नों में (२२२ से २२८ तक). कहीं-कहीं पर एक पुरुष और लेखक के द्वन्द्व का संकेत भर है। कमन्द के रूप में सुजाता का उपयोग कर लेने की यह साजिश उसके पुरुष मन को कतई मान्य नहीं थी। "बार-बार किसी के कोमल हाथ ऊपर से धक्का देते थे कि नाजुक फूलयों कमन्द बनने को नहीं हैं.........ये बहुत ही कमनीय हैं। नीचे उतर आओ।"[१४१] परन्तु उसके भीतर बैठा हुआ लेखक इस नाजुक फूल को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। इसी कारण उसने लिखा है—"लेकिन मन में जाने कैसा क्रूर उन्माद था, एक पागल आवेश था कि लौटने नहीं देता था।"[१४२] सुजाता का माध्यम के रूप में उपयोग कर लेते समय एक ओर उदय के भीतर का लेखक खुश था, समाधानी था; परन्तु भीतर का 'युवा पुरुष' हताश, दुःखी और पश्चात्तापदग्ध हो रहा था। इस 'युवा पुरुष' की स्थिति इन

वचनों द्वारा बहुत ही स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है—" लेकिन अपने दिल के उन मजबूत हाथों को क्या करूँ जो मेरा गला घोंट देते हैं कि ये फूल की कमन्द बनाने को नहीं हैं। नहीं सुजाता अब मुझ से नहीं चढ़ा जाता अब मैं नहीं चढ़ पाऊँगा मैं हारकर लौट आता हूँ हार मानता हूँ। तुम्हारे सामने दोनों हाथ ऊँचे करके आत्म-समर्पण करता हूँ।"[1] स्पष्ट है कि उदय भी अपने युवा पुरुष के सम्मुख मात खा चुका है। परन्तु सुजाता के और उदय के मात खाने में काफी अन्तर है। सुजाता अपने लेखकीय व्यक्तित्व की तटस्थता बनाये रख नहीं सकी। इस अर्थ में वह पूर्णतः मात खा चुकी है। सुजाता की भावुकता, उसका निश्चल प्रेम और उसके सहज स्वभाव के सम्मुख लेखक उदय अन्ततः हार जाता है। अर्थात् उपलब्धि की दृष्टि में उदय को अधिक सफलता मिल सकी है। क्योंकि वह सुजाता के माध्यम से अपनों को जान सका है। और सुजाता ? माध्यम की अपनी कोई उपलब्धि नहीं होती।

लेखक उदय के माध्यम से राजेन्द्र यादव ने कलाकार तथा लेखक और लेखन-कर्म के सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य दिए हैं। इन वक्तव्यों की परीक्षा करना आवश्यक है। क्योंकि उदय का व्यक्तित्व इन्हीं वक्तव्यों की नींव पर खड़ा है।

(१) लेखक को बड़ी क्रूरतापूर्वक अपने और दूसरों के प्रति तटस्थ रहने की जरूरत है। ५४

(२) लेखक को निहायत क्रूर होना चाहिए उसे क्रूरतापूर्वक अपने पात्रों और अपने अध्ययन के विषयों से तटस्थ रहना होगा। उसे हर समय सावधानी बरतनी होगी कि वह अपने विषयों या पात्रों के दुःख सुख, हास परिहास और विलास-अवसाद से बिलकुल बिलकुल तटस्थ और निर्लिप्त रहे, बहे नहीं। १२९

(३) और दूसरी बात यह कि उसे बहुत ही ईमानदार होना चाहिए। १३०

(४) बेईमानी लेखन को गिरा देती है, खोखला कर देती है। १३०

(५) जनाब, लिखना यों नहीं होता, इसके लिए बहुत विशाल हृदय और गैंडे की खाल चाहिए। १३३

(६) लेखक को बड़ा क्रूर होना चाहिए । यानी अपने 'विषय' में व्यक्तिगत रूप से बहुत गहरे उतरकर और चाहे जैसी व्यक्तिगत दिलचस्पी रखते हुए भी उसमें दुश्मनों जैसी तटस्थता निबाहने की निर्दय क्षमता होनी चाहिए। १७४

(७) 'किले में घुसने वाले जासूस को (लेखक) इस बात की चिंता नहीं करनी चाहिए कि उसकी कमन्द रेशम की है या साँप की। वह लटकता फाँसी का फन्दा भी हो सकता है, और किसी पद्मगन्धा की साड़ी भी।" २२५

(८) हम लोग (लेखक) कभी भी राजकुमार नहीं होते—हम लोग तो जासूस होते हैं। कभी हम राजकुमार के वेश में होते हैं, कभी भिखारी के। कभी डाकू होते हैं और कभी गुण्डे कभी साधु का स्वाँग भरते हैं तो कभी चरित्र-

हीन का ! हम एक तीव्र और दुर्निवार जिज्ञासा होते हैं, बस !" २२७

(९) कलाकार सब कुछ हो सकता है—खुद वह 'आदमी' हो ही नहीं सकता। हाँ, वह आदमी का दूत होता हो, तो हो। २२७

(१०) मैं खुद कुछ भी नहीं, (लेखक) किसी के हाथों का हथियार भर हूँ, किसी का एजेन्ट हूँ, जो कुछ भी करता हूँ वह सब अपने लिए नहीं 'किसी' के लिए करता हूँ। २२७

(११) अपने बेटे की मौत के समय मेरे भीतर का बाप रोता है और यह क्रूर दूत (लेखक) उस समय भी बैठा-बैठा नोट करता रहता है कि बेटे के मरते समय बाप को कैसा लगता है। कभी-कभी तो दूत उसे मजबूर कर देता है कि यही जानने के लिए वह बेटे को मारकर देखे......" २२७

वास्तव में ये विभिन्न वक्तव्य लेखक उदय की अपेक्षा श्री राजेन्द्र यादव की लेखन-दृष्टि को ही स्पष्ट करते हैं। अपने को उदय के रूप में बाँटकर राजेन्द्र यादव का यह मुखर चिन्तन (लाउड थिंकिंग) ही है। २० वीं शती के साहित्यकारों की लेखकीय दृष्टि इन वक्तव्यों द्वारा स्पष्ट हुई है। अपने सम्पूर्ण लेखन अर्थात् विषय के प्रति इस हद तक की तटस्थता—जिसे उदय क्रूर तटस्थता कहता है—सही लेखन के लिए बहुत जरूरी है। सुजाता में इस प्रकार की तटस्थता का अभाव रहा। उदय में इस प्रकार की तटस्थता रही है। इसी कारण वह सुजाता जैसी युवती का कमन्द के रूप में उपयोग कर सका है। गम्भीरता से अगर हम विचार करें तो और भी तथ्य हमारे सामने आ जाएँगे। एक ओर लेखकीय व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ये सारे निष्कर्ष, वक्तव्य अथवा लक्ष्मण-रेखाएँ है तो दूसरी ओर लेखक उदय का व्यवहार। "नहीं सुजाता, अब मुझ से नहीं चढ़ा जाता; अब मैं नहीं चढ़ पाऊँगा......। मैं हारकर लौट आता हूँ......हार मानता हूँ।" उदय की इस मनःस्थिति का कौनसा स्पष्टीकरण दिया जा सकता है ? इस पूरे उपन्यास में उदय और सुजाता दोनों लेखकीय स्तर पर ही जीना चाहते हैं। उदय तो कलाकार के सामान्य व्यक्तित्व तक को नकारता है (वक्तव्य क्रमांक ९)। और मजेदार बात यह है कि ये दोनों इसी सामान्य व्यक्तिरूप के कारण ही अधिक आकर्षक और सहज बन गए हैं। कलाकार के भीतर का यह द्वन्द्व दोनों चरित्रों के माध्यम से अत्यधिक स्पष्ट हुआ है। उदय एक साधारण व्यक्ति की तरह सुजाता की प्रतिभा को समाप्त करने निकलता है। उपर्युक्त वक्तव्यों में और उदय के व्यवहार में यही बहुत बड़ी विसंगति है। क्योंकि खुद उदय यह मानता है कि सुजाता को माध्यम बनाने के मूल में उसकी प्रतिभा को पी जाने का स्वार्थ था। इस स्वार्थ का समर्थन उपर्युक्त वक्तव्यों के आधार पर किस प्रकार किया जा सकता है ? प्रिन्सेस अपर्णा के माध्यम से वह उच्च वर्गों के जीवन को देखना चाह रहा था। इस कार्य के लिए उसने सुजाता को माध्यम बनाया है—

यह भी साधारण व्यक्ति का ही कार्य है, कलाकार का नहीं। क्योंकि सच्चे कलाकार के लिए 'माध्यम' की जरूरत नहीं होती। स्पष्ट है कि इन विभिन्न वक्तव्यों द्वारा उदय अपनी सामान्यता अथवा स्वार्थी वृत्ति को छिपाने की बेहद कोशिश कर रहा है। परन्तु अपने ही वक्तव्यों के कारण वह सब से अधिक नंगा हो गया है। अत्यन्त सामान्य स्तर पर जाकर उसने सुजाता के भावों के साथ क्रूर खेल खेला है। इस क्रूर खेल का समर्थन भले ही वह 'कलाकार के विशिष्ट व्यक्तित्व" द्वारा करना चाह रहा हो, तो भी यह निश्चित है कि वह इसमें पूरी तरह असफल हो गया है। अपने इस कार्य को वह भले ही जीत कहे तो भी वह खुद मात खा चुका है। इसी कारण एक स्थान पर वह कहता है—"सुजाता ने स्वप्न भंग की उस वितृष्णा में ठीक ही कहा था कि इट्स् नॉट ए फेअर गेम। सच ही यह ईमानदारी का खेल नहीं है।"[१४४]

प्रिंसेस अपर्णा : "अट्ठाइस-उन्तीस की उम्र, गोल चेहरा, गेहुँआ रंग और भरा हुआ शरीर, सुन्दर फिगर"[१४५] इस प्रकार के आकर्षक व्यक्तित्व वाली प्रिंसेस अपर्णा इस उपन्यास में प्रत्यक्ष रूप में प्रवेश करती है पृष्ठ १०७ पर, सोमवार २४ जून को, उपन्यास की शुरुआत होने के ठीक २१ दिनों बाद। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण उपन्यास पर वह छा गई है। अपर्णा के ही कारण उदय सुजाता के निकट आता है। और अपर्णा के ही बहाने सुजाता उदय से बार बार मिलने जाती है। कुछ सीमा तक अपर्णा इन दोनों के बीच सेतु का काम कर रही है। उदय की चाल यह है कि सुजाता अपर्णा और उसके बीच 'सेतु' का कार्य करे। और उसने उसे सेतु बना भी दिया था। सुजाता एक प्रबुद्ध लेखिका के नाते 'अपर्णा' का अध्ययन कर रही है, सभी कोणों से। परन्तु यह अध्ययन वह 'उदय' के लिए ही कर रही थी, अपने लिए नहीं।

अपर्णा राजस्थान के एक राजघराने की राजकुमारी थी। "उनके अपने इस घर में पर्दा वगैरा कम नहीं था, लेकिन चूँकि वहाँ की वे बेटी थीं, इसलिए वहाँ तो उन्हें काफी छूटें थीं, काफी स्वतन्त्र भी थीं वे। दो भाइयों के बीच की अकेली बहन, फिर राजमाता का प्यार।"[१४६] इस समय उन्हें पढ़ने का शौक लग गया। खूब पढ़ती थी। हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी साहित्य। संगीत की शिक्षा भी थोड़ी-बहुत हुई। उत्तर की एक बहुत बड़ी पहाड़ी रियासत में इनकी शादी हो गई। पति—जैसे इस काल के राजा-महाराजा हुआ करते थे—बड़े रंगीन तबियत के व्यक्ति थे। स्त्रियों को परम्पराबद्ध पद्धति से देखते थे। स्त्रियाँ उनके लिए खिलौना मात्र थी। 'दिनभर शिकार, पार्टियाँ और ह्विस्की की बोतलें। इसके अलावा उनका एक पूरा हरम था।"[१४७] खुले और स्वतन्त्र विचारों के घर से आई हुई अपर्णा इस नये वातावरण से भयभीत हो गई। वह यहाँ पूर्णत बन्दिस्त थी। "चारों ओर वन, वही ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और उनसे खिलवाड़ करती सुबह शाम की किरणें, बादल और फिर

नीला आसमान।.........जिधर देखो, उधर ही एक घुटन और घिरावट का एहसास। ऐसे लगता था जैसे मैं आजन्म कैद पाया हुआ कैदी हूँ जो धीरे-धीरे अपनी मौत की राह देख रहा है......मेरी चेतना और संवेदना इस तरह मरती चली जा रही थी कि कुछ दिनों में मुझे यह भी याद नहीं रहा कि पहाड़ों के पार भी कोई दुनिया है।"[१४८] पढ़ने का शौक रखने वाली अपर्णा को न यहाँ पर कोई अखबार मिलता था, न कोई पत्रिका। ऐसे घुटन भरे वातावरण में वह मन मारकर जी रही थी कि अचानक उसे एक दिन पता चला कि युवराज नाममात्र के ही पुरुष हैं......। लगा, पैर तले की जमीन ही खिसक गई है। भावुक, सम्वेदनशील अपर्णा अब सूख-सूखकर काँटा हो गई। एक दिन उसके भाई उससे मिलने आए। भाई के पैरों पर सिर रखकर वह फूट-फूटकर रो पड़ी। इस कैद से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना करने लगी। युवराज के कानों में गलत और विकृतपूर्ण समाचार इस घटना के सम्बन्ध में दिए गए। इसी कारण उस रात युवराज गुस्से के मारे कहने लगे—"अपने यार के तो पैरों पर गिर-गिरकर रोती है......हाथी पाँवों तले रौन्दवा दूँगा। भाइयों के भरोसे मत रहना। इस महल में किसी का घमण्ड नहीं चलता।"[१४९] इस समय अपर्णा की आयु केवल १६-१७ वर्ष की है। दो-एक वर्ष वह इसी नरक में जीती रही। और एक दिन उसे पता चला कि युवराज विलायत चले गए हैं। और जब उन्होंने यह सुना कि सरदार पटेल ने तेजी से रियासतों का विलीनीकरण शुरू कर दिया है तो वहीं जम गए।"[१५०] अपनी माँ की मृत्यु का समाचार जब अपर्णा को मिला तो वह वहाँ से निकली और मैके आ गई। तब से आज तक ससुराल जाने का नाम उसने नहीं लिया है। भाई और भाभी के साथ वह तब से बम्बई में रहती है।

प्रिन्सेस अपर्णा की यह करुण कहानी है। ससुराल से छुटकारा पाने के बाद उसके पुराने शौक उमड़ पड़े। फिर पति का प्यार भी नहीं मिला था। परिणामतः वह साहित्य, संगीत और अभिनय की ओर आकृष्ट हुई। पढ़ना यह उसका सबसे बड़ा शौक है। इस राजपरिवार में उसका यह शौक सबसे निराला और विशिष्ट है। क्योंकि और लोग पार्टियाँ, क्लब, नृत्य, शराब, औरतें तथा झूठी प्रतिष्ठा में ही डूबे हुए हैं। अपने-आप को बहलाते-बहकाते हुए वह जिन्दगी गुजार रही है। अब इसके सिवा उसके लिए कोई चारा नहीं है। "वह जानती है कि वह खुद एक फाल्तू चीज है, जिसे दया पर रहना है। अपना हर कदम भाई के तेवर देखकर ही रखना पड़ता है।"[१५१] अपनी इस स्थिति को अपर्णा ने लेनिन के इस प्रसिद्ध वाक्य द्वारा स्पष्ट किया है—"औरत की हालत सभी जगह एक-सी है—चाहे वह राजकुमारी हो या नौकरानी—वह हमेशा ही पुरुष के तेवर देखकर चलती है, उसकी इज्जत उसके चाहने न चाहने पर है। उसकी प्रतिष्ठा उसकी शरीर-शुद्धता की परम्परागत मान्यता पर है।"[१५२] भारतीय स्त्री की इससे सुन्दर व्याख्या शायद हो नहीं सकती। ऐसी है

यह प्रिन्सेस अपर्णा ! सम्पत्ति और भौतिक समृद्धि से घिरी हुई; फिर भी दु:खी, निराश ! साहित्य का शौक होने के कारण वह लेखक उदय के पुस्तकों के सम्पर्क में आई। उनके उपन्यासों से प्रभावित होकर उनसे पत्र-व्यवहार शुरू हुआ। यह पत्र-व्यवहार काफी बढ़ा। दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति 'जिज्ञासा' निर्माण हुई। यह 'जिज्ञासा' लेखक उदय के मन में बहुत है। इसी कारण वह प्रिन्सेस अपर्णा को समग्रता से जान लेना चाह रहा है। पत्र-व्यवहार करने वाली इस प्रिन्सेस अपर्णा को सुजाता के सम्मुख उसने 'बहन अपर्णा' कहा। और इस 'बहन अपर्णा' के सम्बन्ध में अनेक नई काल्पनिक कहानियाँ उसने गढ़ी। सुजाता 'बहन अपर्णा' और 'प्रिन्सेस अपर्णा' को अलग-अलग ही समझ रही थी।

पत्रों के माध्यम से उदय प्रिन्सेस अपर्णा के निकट चला गया था। प्रिन्सेस भी उदय को ५५५ सिगरेट के डिब्बे भेजा करती है (पृष्ठ १८३) पृ० २११ पर अपर्णा को लिखा गया उदय का पत्र भी उन दोनों के सम्बन्धों की अनौपचारिकता को स्पष्ट करता है। इन सारी विशेषताओं के बावजूद भी अपर्णा और उदय खुलकर मिल नहीं सकते। उदय अपर्णा को उसके अपने परिवेश में समग्र रूप से जान नहीं सकता। क्योंकि अपर्णा इस प्रकार के सामान्य आर्थिक स्थिति वाले लोगों से—विशेषतः पुरुषों से—मिल नहीं सकती। "जिस वातावरण में अपर्णा रहती है उसमें ऐश्वर्य और पैसा हमेशा एक हौवा बनकर भोगने वाले और भोग्य के बीच में खड़ा रहता है।"[१३]

बम्बई आने के बाद अपर्णा अब दूसरी दीवारों में कैद हो चुकी है। इन दीवारों का एहसास उसे है या नहीं—मालूम नहीं। क्योंकि इन दीवारों को उदय के सामने भी एक रहस्य बनाए रखना पसन्द करती है या इसमें आनन्द लेती है। "पहले वह ईंट-पत्थरों की दीवारों में कैद थी, आज शीशे की दीवारों से घिरी है। शीशे की खिड़कियाँ, शीशे की दीवारें, शीशे के मोबाइल पार्टीशन जड़ तहजीब-कायदों की अदृश्य और पारदर्शी शीशे की दीवारें।"[१४] इन दीवारों की सुरक्षा की सर्वाधिक चिन्ता अपर्णा को ही है। इन दीवारों को तोड़ने की हिम्मत का उस में अभाव है। "अपर्णा को हमेशा ही यह खयाल रहा है कि कहीं यह शीशे की दीवार टूट न जाये यह कितनी कीमती और दुर्भेद्य है, यह जो उसे परम्परा और इतिहास से मिली है। बन्द मुट्ठी की तरह अपने आस-पास एक रहस्य बनाए रखना भी तो एक अजब-सी रोमांटिक गुदगुदी देना है न "[१५] उदय के साथ मिलते समय, बातचीत करते समय वह ऐसा ही 'रहस्य' बनाए रखती है। और उदय का लेखक इस 'रहस्य' के पार छिपी हुई अपर्णा को समझ लेना चाहता है। "अब अपने सामने यों एक पारदर्शी परदे के पार से इन्हें देखकर तो उत्सुकता और भी बढ़ती है।"[१६] अपर्णा और अपर्णा की स्थिति में जीने वाले लोगों को शेष सारी दुनिया

कैसी दिखाई देती है ? "यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। और उदय "इन सब को उनकी निगाहों से देखना चाहता था।"

बम्बई आने के बाद अपर्णा अपनी प्रतिष्ठा, अमीरी और व्यक्तित्व के प्रति अत्यधिक सजग है। वह उदय से मित्रता चाहती है परन्तु अपना आसन न छोड़ते हुए। वह अपनी इन दीवारों की रक्षा में तत्पर है।

उदय ने सुजाता को अपनी ओर क्यों भेजा है इसे अपर्णा कभी नहीं जान सकी। अलबत्ता वह उदय की उस सूचना का कठोरता से पालन करती है कि सुजाता कभी यह जान न पायें कि दोनों एक-दूसरे से परिचित ही नहीं, अच्छे मित्र भी हैं। इस दृष्टि से अपर्णा अच्छी अभिनेत्री भी है। क्योंकि जब-जब सुजाता लेखक उदय की चर्चा छोड़ती है तब-तब अपर्णा बड़ी होशियारी से दूसरे विषय छेड़ती है। (पृ० ११४) विनय और नम्रता का अभिनय वह सहज रूप से करती है। अपनी कमियों को वह इस प्रकार बतलाती है कि वह कमजोरी उसकी श्रेष्ठता साबित हो जाए।

उदय के अनुसार अपर्णा सुजाता के साथ जो दोस्ती का नाता स्थापित कर रही है उसके मूल में गम्भीरता अथवा ईमानदारी नहीं है। अपर्णा जैसी स्थिति में रहने वालों के लिए लेखक, अभिनेता अथवा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों के साथ दोस्ती का मतलब वक्त काटने का एक मनोरंजक उपाय मात्र। एक खिलौने की तरह वे ऐसी दोस्ती का उपयोग कर लेते हैं। "एक निर्जीव खिलौना......जब तक इनका मन हो ये खेल सकें और जब वह पुराना पड़ जाय या उधर से रुचि हट जाए तो दूसरा बदल लें।"[१५७]

एक ओर उदय यह कह रहा है कि अपर्णा जैसी स्त्रियाँ किसी भी सम्बन्ध या मित्रता को निर्जीव खिलौने की तरह लेती हैं, अपनी शीशे की दीवारों के प्रति अत्यधिक सजग रहती हैं तो दूसरी ओर यह भी संकेत किया गया है कि इन दिनों अपर्णा के मन में किसी को लेकर बड़ा भारी द्वन्द्व है। अजब खोई-खोई और अनमनी-सी रहती हैं। हर वक्त लगता है जैसे किसी की प्रतीक्षा कर रही हो। जैसे अचानक किसी के आ जाने की उत्कण्ठा हो। टेलिफोन इस तरह चौंककर उठाती हैं, जैसे अप्रत्याशित रूप से वहीं से आया है जहाँ की इसे प्रतीक्षा है।"[१५८] यह द्वन्द्व, खोयी-खोयी स्थिति, अनमनी वृत्ति, प्रतीक्षा करना, उत्कण्ठा, चौंकना उदय के प्रति तो है। और ये किस 'रोग' के लक्षण हैं इसे अलग से स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। तो फिर क्या अपर्णा उदय के प्रति वैसा ही सोच रही है जैसा कि सुजाता ? लेखक राजेन्द्र यादव उसकी इस मनःस्थिति का संकेत मात्र देकर रह जाते हैं। वास्तव में सुजाता के जो विभिन्न रूप अत्यन्त सहजता से प्रकट हुए हैं वैसे अपर्णा के नहीं। ऐसा लगता है कि लेखक जान-बूझकर अपर्णा को शीशे की दीवारों में कैद

कर रहा है। अपर्णा का "सम्वेदनशील नारी रूप" भीतर छटपटा रहा है। परन्तु यादव अथवा उदय इस नारी को शब्दबद्ध नहीं कर पाये हैं। एक ओर यह लेखक की सीमा है तो दूसरी ओर डायरी शैली की। क्योंकि इस शैली के कारण सुजाता के बहुत भीतर यादव जा सके हैं। और अपर्णा की 'नारी' को पकड़ नहीं पाये हैं। पति सुख और निश्चल प्रेम से वंचित अपर्णा के तन-मन की छटपटाहट शीशे की दीवारों में कैद हो चुकी है अथवा कैद की गई है इस कारण सम्पूर्ण उपन्यास में अपर्णा 'प्रिन्सेस' के रूप में ही उभरकर आई है, नारी रूप में नहीं।

अपर्णा के अनुसार "स्त्री-पुरुष के बीच में दोस्ती, एक आत्मीय घनिष्ठता बिना शारीरिक सम्बन्ध आए सम्भव नहीं है।"[१५] दोस्ती और आत्मीय घनिष्ठता के लिए वह शारीरिक सम्बन्ध को अनिवार्य मानती है। उसके इस मत का जोरदार समर्थन उदय ने किया है। शरीर को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना न अपर्णा को मान्य है न उदय को। एक विशेष संस्कृति और वातावरण में जीने वाली स्त्री के रूप में इस विचार को स्वीकार किया जाए अथवा अपर्णा के मन में जो अतृप्त शारीरिक भूख है उसकी अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया जाय—यह एक प्रश्न ही है।

अंतिम प्रश्न अपर्णा की यथार्थता को लेकर है। आज की पीढ़ी को यह पात्र अधिक कृत्रिम, फिल्मी, अतिशयोक्तिपूर्ण और शायद काल्पनिक लगे। परन्तु रियासतों के कारोबार और उनके उच्छृंखल व्यवहार से जो परिचित हैं उनके लिए यह पात्र काल्पनिक नहीं है। जहाँ तक वातावरण तथा अपर्णा के ससुराल का चित्रण है वह अत्यन्त ही यथार्थ और जीवन्त है। अपर्णा की बम्बई की जिन्दगी का जो वर्णन है वह अलबत्ता कुछ सीमा तक फिल्मी ढंग का हुआ है। बम्बई आने के बाद उसकी सहज स्वाभाविक मन स्थिति का चित्रण नहीं किया गया है। उसके आस-पास एक रहस्यमय वातावरण की सृष्टि की गई है।

शिल्पविधि - शिल्पविधि की दृष्टि से सोचा जाए तो यह उपन्यास काफी कमजोर लगता है। डॉ० सत्यपाल चुघ इसे "आत्मकथात्मक या डायरी शैली" में लिखा गया उपन्यास मानते हैं। अधिकतर आलोचकों ने इसे डायरी शैली में लिखा गया उपन्यास ही कहा है। लेखक ने इसे "प्रथम पुरुष डायरी में लिखी गई कहानी" कहा है। लेखक की भूमिका भी डायरी शैली में है। आरम्भ से अन्त तक केवल डायरी के पन्ने ही रखे गए हों। इन पन्नों के माध्यम से ही कथा विकसित हो—ऐसी यादव जी की कोशिश है। अब यहाँ पर अनेक प्रश्न उठाए जा सकते हैं। क्या लेखक 'डायरी शैली' का निर्वाह कर सका है? इसकी कथावस्तु में और इसके शिल्प में अभिन्नता स्थापित हो सकी है? कथावस्तु पर यह शिल्प थोपा हुआ तो नहीं लगता? कथ्य और शिल्प का समन्वय क्या यहाँ मिलता है?

डायरी शैली की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. डायरी लेखक के व्यक्तित्व प्रकाशन का सर्वाधिक प्रामाणिक माध्यम है।

२. डायरियाँ अपने निजी भावों-विचारों को नोट कर लेने के उद्देश्य से लिखी जाती हैं; पुस्तक-प्रकाशन के उद्देश्य से नहीं। विशुद्ध डायरी संभवतः इस दृष्टि से कभी नहीं लिखी जाती कि कालान्तर में वह पुस्तक रूप में प्रकाशित हो सकेगी।

३. इसमें कलात्मक तटस्थता का अभाव होता है।

४. यह कोई विशेष कलापूर्ण साहित्य रूप नहीं है।

५. साहित्यिक दृष्टि से डायरी में सम्बद्धता या संगति और शिल्पगत कलात्मकता की कमी हो सकती है।

६. स्पष्ट कथन, आत्मीयता और निकटता आदि—विशेषताएँ डायरी की उपर्युक्त पाँच कमियों को पूरी कर देती हैं।

७. डायरी आत्मकथा का एक बदला हुआ रूप है।

(साहित्यकोश भाग १, पृष्ठ ३४६ से)

इन विभिन्न विशेषताओं की दृष्टि से अगर इस उपन्यास के शिल्प का मूल्यांकन करना चाहें तो इसकी सीमाएँ स्पष्ट होने लगती हैं। अर्थात् हम यह भी खयाल रखें कि आधुनिक कृतियों का मूल्यांकन इस प्रकार से करना कहाँ तक उचित है? इस प्रकार के मानदण्डों के कटघरे में कृति को खड़ा करके निष्कर्ष रूप में कुछ कहना एक खतरा मोल लेना ही है। 'डायरी' यह अपेक्षाकृत नवीन शैली है और इसके मानदंड अभी पूर्णतः निर्धारित नहीं हो सके हैं। इस कारण जो भी मानदंड निश्चित हुए हैं उनके आधार पर मूल्यांकन करना इस कृति के साथ अन्याय करना नहीं है, ऐसा मुझे लगता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सुजाता के व्यक्तित्व का प्रकाशन इस शैली के ही कारण हुआ है। डायरी लेखक अपने भावों और विचारों की अभिव्यक्ति केवल अपने ही लिए करता रहता है। डायरी लेखन में कहीं-न-कहीं आत्मविश्लेषण की प्रवृत्ति होती है। वह सम्पूर्णतः उसकी अपनी निजी सम्पत्ति होती है। उसमें किसी भी प्रकार का दुराव-छिपाव नहीं होता। इस दृष्टि से अगर हम इस उपन्यास को देखें तो गहरी निराशा होती है। क्योंकि सुजाता यह सम्पूर्ण डायरी प्रकाशन की दृष्टि से लिख रही है। "अब इसी डायरी को ही लो मैं क्या वाकई वही सब लिख पा रही हूँ जो अपने मन की आँखों के सामने देख रही हूँ। पता नहीं कितनी बातें छोड़ती जा रही हूँ। सब लिख दूंगी तो पढ़कर हाय, कोई क्या कहेगा?"[१०] सुजाता का यह वाक्य ही डायरी-शैली की असफलता को स्पष्ट करता है। माना कि लेखक राजेन्द्र यादव ने कथाकार सुजाताजी की डायरी के इन पन्नों को सम्पादित किया है ("मैंने निश्चय किया है कि अनावश्यक प्रसंगों या अप्रासंगिक बातों का

निर्ममता से सम्पादन कर डालूंगा।"''' तो भी सुजाता के उपर्युक्त वाक्य से यह ध्वनित होता है कि वह डायरी लिखते समय बहुत कुछ छिपा गई है।

डायरी के लिखित पृष्ठ हमेशा संक्षिप्त होते हैं। यहाँ विस्तार अनपेक्षित है। और कहीं-कहीं पर अगर ऐसा विस्तार हो भी गया होगा तो लेखक राजेन्द्र यादव के अनुसार उन्होंने उसका सम्पादन किया है। परन्तु दुर्भाग्य से यह कहना पड़ता है कि या तो यह सम्पादन करने वाली बात अप्रामाणिक है अथवा डायरी शैली इस कथ्य पर थोपी गई है। उदा. २४ जून की डायरी ३२ पृष्ठों से भी अधिक है। और वे भी पुस्तकाकार मुद्रित ३२ पृष्ठ। डायरी के पृष्ठ तो ७०-८० होंगे। क्या यह सम्भव है कि कोई युवती दिनभर के काम-काज से मुक्त हो रात्रि में डायरी के नाम पर ८० पृष्ठ लिखे? ३० जून की डायरी २४ पृष्ठों की है। जुलाई की डायरी १४ पृष्ठों की है। डायरी साइज के ५०-६० पृष्ठ डायरी के नाम पर लिखे जाने की सम्भावना यथार्थ के स्तर पर उचित नहीं लगती। स्पष्ट है कि लेखक इस शैली के प्रति ईमानदार नहीं है।

पृष्ठ २३ पर सुजाता ने लिखा है "समय बहलाने के लिए मैं डायरी लिखने बैठ गई हूँ।" समय बहलाने के लिए अगर वह डायरी लिख रही है तो फिर इसकी यथार्थता को लेकर दूसरे अनेक प्रश्न उभर आते हैं। और फिर डायरी-लेखन क्या मन बहलाने की क्रिया है? फिर सुजाता डायरी के इन पन्नों में जिस रूप में व्यक्त हुई है उससे ऐसा नहीं लगता कि वह मन बहलाने के लिए लिख रही है। अभिव्यक्ति की विवशता और मजबूरी के कारण वह डायरी लिख रही है, यह वास्तविकता है।

डायरी के कुछ पृष्ठों में प्रकृति और वातावरण का बड़ा सूक्ष्म और विस्तृत चित्रण हुआ है। (द्रष्टव्य मंगल १८ जून, सोमवार २४ जून, बुध २६ जून, मंगल २ जुलाई, गुरुवार ४ जुलाई, सोमवार १५ जुलाई इत्यादि) मनःस्थिति को व्यक्त करने के लिए आवश्यक प्रकृति चित्रण डायरी लेखन को और अधिक जीवन्त बना देता है। परन्तु आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण और वह भी विस्तृत, डायरी में उचित नहीं लगता। सुजाता के इस सम्पूर्ण लेखन में अत्यधिक सम्बद्धता और संगति है। ऐसा लगता है कि उदय के साथ इक्कावन दिनों की जिन्दगी जीने के बाद वह इसे लिखने बैठी है। अथवा इन ५१ दिनों की मनःस्थिति को वह रोज संक्षेप में लिखकर रखा करती थी और बाद में उसने इसे विस्तृत रूप दिया है। अथवा कथाकार सुजाता की उन दिनों की मनःस्थिति को राजेन्द्र यादव ने व्यवस्थित और कलात्मक रूप देने का प्रयत्न किया है।

सुजाता की डायरी के इन पन्नों को यादव दूसरी पद्धति से लिख सकते थे। डायरी शैली के अतिरिक्त मोह के कारण ही वे दूसरी पद्धति को स्वीकार नहीं कर सके हैं। इसीलिए यह शैली इस पर थोपी हुई लगती है। इसमें कोई सन्देह नहीं

कि इस शैली के कारण वे सुजाता का बड़ा ही सुन्दर, यथार्थ, जीवन्त और सूक्ष्म चित्रण कर सके हैं । एक ओर यह उपलब्धि है तो दूसरी ओर वे उदय और अपर्णा के चरित्र को न्याय नहीं दे सके हैं । क्योंकि इस शैली के कारण वे इन दोनों पात्रों की कुछ सीमा तक उपेक्षा कर गए हैं । वे सीधे एक उपन्यास लिखते तो अधिक अच्छा था । यादव एक प्रतिष्ठित कहानीकार हैं । टुकड़ों में बाँटकर कथ्य को प्रस्तुत करना शायद उन्हें अधिक आसान लगता हो । इस कारण भी उन्होंने डायरी शैली चुनी हो । इसीलिए इस डायरी शैली पर कहानीकार राजेन्द्र यादव का व्यक्तित्व हावी हो गया है ।

इस शिल्पगत सीमा के बावजूद यह उपन्यास हिन्दी साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है । स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर लिखा गया यह उपन्यास अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को स्पष्ट करता है । प्रेम के मानसिक संसार के नये आयाम खोलने में यह समर्थ हो सका है । मानसिक प्रेम का सूक्ष्म व्यापार और उस समय की मनःस्थिति तथा उस मनःस्थिति का व्यक्तित्व-परिवर्तन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य—यही इस उपन्यास की विशिष्ट कथा है जो अपने में मौलिक है । राजेन्द्र यादव के ही शब्दों का उपयोग करके इस उपन्यास पर अंतिम बात इस तरह से कही जा सकती है—

"ऑब्जर्वेशन—अर्थात् निरीक्षण । परिस्थिति का चित्रण, वातावरण, लोगों की भंगिमाओं का चित्रण और वार्तालाप सचमुच बाँधे रखने वाले हैं, लेकिन कुछ जगहें पढ़ना तो सजा काटना है ।"[1]

टिप्पणियाँ

१. हिन्दी उपन्यास : प्रेम और जीवन : डा० शांति भारद्वाज : पृ० २४७
२. हिन्दी उपन्यास : डा० सुषमा धवन : पृ० ३१९
३. हिन्दी उपन्यास : डा० महेन्द्र चतुर्वेदी : पृ० २०७
४. हिन्दी उपन्यासों का शास्त्रीय विवेचन : डा० कल्याणमल लोढ़ा : पृ० २४३
५. हिन्दी उपन्यास : प्रेम और जीवन : डा० शांति भारद्वाज : पृ० २९०
६. शह और मात : राजेन्द्र यादव : पृ० १९४
७, ८, ७५, ७६, ७७ : शह और मात : पृ० १२७
९. शह और मात : पृ० १२
१०, ११, १३, १४, १५, १६, १८, १९, २० : शह और मात : भूमिका अंश
१२. शह और मात : पृ० १९१
१७, २४, १५४, १५५, शह और मात : पृ० २२३
२१, २२, २३, ११३ वही, पृ० १८
२४. वही, पृ० १९

२५ शह और मात, पृ० २१
२६ वही, पृ० २५
२७ वही, पृ० २६
२८, ३० वही, पृ० २७
२९ वही, पृ० २८
३१ वही, पृ० ३१
३२ वही, पृ० ३२
३३ वही, पृ० ३३
३४, ३५, १२० वही, पृ० ३४-३५
३६. वही, पृ० ३७
३७, ३८, ३९, ४० वही, पृ० ३९
४१, ४२, ४३ वही पृ० ५०
४४. वही, पृ० ४१
४५, ४६ वही, पृ० ४५
४७, ४८, ४९ वही, पृ० ४७
५०, ५१ वही, पृ० ४८
५३. वही, पृ० ५९
५४ वही, पृ० ६३
५५, ५६ वही, पृ० ७४
५७. वही, पृ० ७५
५८ वही, पृ० ८१
५९, ६०, १३२ वही, पृ० ८४
६१ वही, पृ० ८७
६२ वही, पृ० १०३
६३, ६४ वही, पृ० १०४
६५, ६६ वही, पृ० १०८
६७ वही, पृ० १२०
६८ वही, पृ० १२१
६९, ७० वही, पृ० १२२-१२३
७१, वही, पृ० १२५
७२, ७३, ७४ वही, पृ० १२६
७८, ७९, ८०, ८१ वही, पृ० १२८
८२ वही, पृ० १२९

८३. शह और मात : पृ० १३२-१३३
८४, ८७, ८८, १३०, १५९ वही, पृ० १५०
८५, १३१ वही, पृ० १५१
८६. वही, पृ० १५२
९१. वही, पृ० १६१
९२. वही, पृ० १६३
९३, ९४, ९५ वही, पृ० १६५
९६, ९७ वही, पृ० १६६
९८. वही, पृ० १६७
९९, १३३, १३४, १३५ वही, पृ० १६९
१००. वही, पृ० १६८
१०१, १०२ वही पृ० १७०
१०३, १०४ वही, पृ० १७५
१०६. वही, पृ० १९६
१०७, १०८ वही, पृ० १९८
१०९. वही, पृ० १९९-२००
१११. वही, पृ० २०२
११२. वही, पृ० २१२
११३. वही, पृ० २१६
११४. वही, पृ० २२८
११५, १४४ वही, पृ० २२७
११६, ११७, ११८ वही, पृ० २२९
१२१, वही, पृ० ४२
१२२. वही, पृ० ४३
१२३. वही, पृ० ५५
१२४, १५४, १५५ वही, पृ० २२३
१२५. वही, पृ० २२५
१२६. वही, पृ० ६५
१२७. वही, पृ० ९
१२८. वही, पृ० ६६
१२९. वही, पृ० ७३
१३६. वही, पृ० २१७
१३७. वही, पृ० २२१

१३८ शह और मात · पृ० २१५
१३९, १४०, १४१ वही, पृ० २२६
१४२, १४३ वही, पृ० ,,
१४५ वही, पृ० १०७
१४६, १४७, १४८ वही, पृ० १८६
१४९ वही, पृ० ,,
१५० वही, पृ० १९१
१५१ वही, पृ० १९२
१५२ वही, पृ० १९३
१५३ वही, पृ० २२२
१५६ वही, पृ० २२४
१५७ वही, पृ० १५७
१५८ वही, पृ० १९४
१६० वही, पृ० १३२
१६१ वही, पृ० ९

कितने चौराहे : एक संस्कारशील उपन्यास

सूर्यनारायण रणसुभे

'जीवन मे कितने ही चौराहे आएँगे, न दाएँ मुडो, न बाएँ ।'

—कितने चौराहे

'मैं जिन्दगी भर जलता रहूँगा तुम्हारी चिताओ की आग कलेजे मे लेकर। तुमने मुझे पुकारा कमाण्डर ! तुम्हारी पुकार पर, तुम्हारे हुक्म पर मैं मैं दोषी हूँ। अनुशासन भग किया है मैंने। मुझे गलत मत समझना प्रियोदा, कृत्या, अशर्फी, भोला।''

—कितने चौराहे

'मनमोहन अभी इधर उधर नही देखेगा। सीधा चलता जायेगा। किसी चौराहे पर मुडेगा नही—न दाहिने, न बाएँ।''

—कितने चौराहे

'नायक शून्यता आचलिक उपन्यासो की एक प्रमुख विशेषता कही जा सकती है।''

—डॉ० धनजय वर्मा

'कितने चौराहे' एक आचलिक उपन्यास है जिसमे समकालीन लोकजीवन रेखाकित हुआ है।

वास्तव मे 'कितने चौराहे' मे कस्बाई जीवन की सहज अभिव्यक्ति हुई है।

१०

कितने चौराहे

(अ) पृष्ठभूमि—श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' का यह उपन्यास "उनके अब तक प्रकाशित उपन्यासों के क्रम में पाचवां और आखिरी आंचलिक उपन्यास है।"[1] इस उपन्यास पर आलोचकों द्वारा सबसे कम विचार किया गया है। शायद "समसामयिक कथावस्तु" यही एक कारण हो सकता है। परन्तु इसी समसामयिकता के कारण यह उपन्यास हमारा ध्यान अधिक आकृष्ट कर लेता है। इस उपन्यास में सन् १९३३-३४ से लेकर सन् १९६५ तक की भारतीय राजनीति को पृष्ठभूमि में रक्खा गया है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम पर भारतीय भाषाओं में सैकड़ों उपन्यास लिखे गये हैं। सन् १९२० से १९४७ तक का काल ही इतना जीवन्त तथा राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित था कि किसी भी भाषा के साहित्यकार के लिए वह एक जीवन्त स्रोत था। इसी कारण अलग-अलग पद्धतियों से इस काल पर काव्य, नाटक, कहानियाँ तथा उपन्यास लिखे गये। स्वतन्त्रता के लिये किये गये इस संघर्ष में समाज के सभी स्तर के लोग सम्मिलित थे। इतिहास के पृष्ठों से यह साबित किया जा सकता है कि उस काल के विद्यार्थी भी इस संग्राम के प्रति न केवल सजग ही थे, अपितु अपनी पद्धति से क्रियाशील भी थे। परन्तु दुर्भाग्य से विद्यार्थियों—विशेषतः १० से २० तक की उम्र के बालकों तथा नवजवानों के सम्बन्ध में बहुत ही कम लिखा गया है। अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की बात तो मैं नहीं जानता; परन्तु मराठी और हिन्दी में तो इस विषय पर सबसे कम लिखा गया है। सन् १९२०-३५ के भारतीय स्कूलों में पढ़ने वाले इन छोटे-छोटे बच्चों की इस आन्दोलन के प्रति क्या प्रतिक्रिया थी; यह वास्तव में विचारणीय प्रश्न है। क्या ये बच्चे अपनी स्कूली शिक्षा चुपचाप ग्रहण कर रहे थे? अथवा वे आन्दोलन में हिस्सा ले रहे थे? अगर वे हिस्सा ले रहे थे, तो फिर उनके पीछे कौन-सी शक्तियाँ कार्य कर रही थीं? उस समय प्रचलित एक विचारधारा के अनुसार विद्यार्थियों को सक्रिय राजनीति से दूर रहना चाहिए। जीवन के किसी भी चौराहे पर न रुकते हुए अपनी पढ़ाई खत्म करके आन्दोलन में भाग लेना चाहिए। दूसरी विचारधारा के अनुसार अंग्रेजों द्वारा संचालित इन स्कूलों

की पढाई व्यर्थ है, निरर्थक है। ऐसे स्कूलों में उन्हे शिक्षा नही लेनी चाहिए। शिक्षा दीक्षा छोडकर आन्दोलन मे भाग लेना चाहिए। इसी कारण इस उपन्यास मे एक स्थान पर श्री तिवारी जी मनमोहन से कहते हैं कि "तुम लोग पढाई छोड दो। वानर सेना बनाओ तथा अंग्रेजो के विरोध मे कार्य शुरू करो।"[१] परन्तु बडे महाराज मनमोहन से बार बार यह कहते हैं कि इस आयु मे राजनीति से दूर रहना ही योग्य है। "जीवन मे कितने ही चौराहे आयेंगे, न दायें मुडो न बाएँ।"[१] इस प्रकार इस उपन्यास मे इन दो विचारधाराओं का आपसी सघर्ष बतलाया गया है। आज भी विद्यार्थियो को लेकर ये दो विचारधाराएँ न केवल चल रही हैं, अपितु उनके पक्ष विपक्ष मे विचार रखे जाते हैं। इसी कारण कह सकते हैं कि यह उपन्यास युवा जगत् की मूलभूत समस्याओ के साथ जुडा हुआ है। मनमोहन तथा उसके साथियो मे अक्सर यह चर्चा होती है। और मनमोहन पहले अध्ययन फिर राजनीति इस प्रकार का निर्णय ले लेता है। बडे महाराज भी इसी विचार के थे। आज के विरोधी दल के लोग शायद यह कहेगे कि रेणु जी प्रस्थापित व्यवस्था को बचाने के लिए युवको को इस राजनीति से दूर रहने का सन्देश देना चाहते हैं। यह आरोप ठीक उसी प्रकार निरर्थक है जैसे बडे महाराज को अंग्रेजो का भेदिया कहना। वास्तव मे हर युग मे इस प्रकार के प्रश्न उठे हैं। समाज तथा राजनीति के भीतर जब जब अराजकता निर्माण हो जाती है, तब-तब युवको—विशेषत विद्यार्थियो—को आह्वान किया जाता है। युवा शक्ति के जोश पर, उत्साह पर सब का अधिक विश्वास होता है। इसी कारण यह शक्ति इस अराजकता को समाप्त कर सकती है—ऐसा माना जाता है। 'युवा शक्ति' के सामने द्वन्द्वात्मक स्थिति पैदा हो जाती है। अत्यधिक सम्वेदनशीलता के कारण वह समाज को स्वीकार करना चाहता है। परन्तु इसके कारण उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास समव नही हो पाता। शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक शक्ति का एक सीमा तक विकास होने के बाद ही इस प्रकार की चुनौतियो को स्वीकार किया जा सकता है, ऐसा रेणु मानते हैं। इसका यह अर्थ नही कि विद्यार्थी जगत् इस सारी अराजकता को, अन्याय और अत्याचार को अपनी खुली आँखो से देखता रहे। अपने स्थान पर रहकर वह अपनी पद्धति से इन सब का प्रतिकार कर सकता है। इसके लिए यह जरूरी नही कि वह अपने कर्त्तव्य को छोडकर बाहर निकले। यह किस प्रकार सम्भव है, इसे रेणुजी ने इस उपन्यास मे बतलाया है। प्रियोदा, मनमोहन और उसके अन्य साथी अंग्रेजी सत्ता का प्रतिकार अपने तरीके से करते ही रहते हैं। अपने कर्त्तव्य को छोडकर उसमे वे सीधे प्रवेश नही करते। आज जब कि 'राजनीति' सस्ती हो रही है, आये दिन युवको को शिक्षा-दीक्षा छोडकर विरोध के लिए सडको पर आने का आग्रह किया जा रहा है, 'कितने चौराहे' उपन्यास ऐसे आग्रह के खतरो को सूचित करता है। मनमोहन यह कहता भी है कि

पढ़-लिखकर अंग्रेजों की नौकरी करना यह उसका जीवनोद्देश्य नहीं है। परन्तु पढ़ाई की पूर्णता यह उसकी पहली मंजिल है। इसी कारण यह उपन्यास समसामयिक विषय के बावजूद आज का लगता है।

स्वतन्त्रता-संग्राम में शहीदों की एक लम्बी परम्परा मिलती है। इन शहीदों में विद्यार्थी भी थे। वे किसी क्रान्तिकारी दल से अथवा किसी राजनीतिक विचार-धारा से सम्बन्धित नहीं थे। उन्हें इतना मालूम था कि गांधी, सुभाष अथवा भगत-सिंह राष्ट्र के लिए बहुत कुछ कर रहे हैं। और हमें भी कुछ-न-कुछ करना चाहिए। न ये किसी नेतृत्व के पीछे थे; न नेतृत्व के भूखे। न इनका कोई प्रत्यक्ष मार्गदर्शक था; न इन्हें कहीं से सूचानएँ प्राप्त होती थीं। माँ, पिता अथवा गाँव के किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति से इन्हें पता चलता था कि गांधीजी पकड़े गये हैं; भगतसिंह को फांसी की सजा हुई है अथवा इसी प्रकार से अन्य व्यक्तियों पर अंग्रेजों का दमन-चक्र चल रहा है। यह सुनकर ही वे इतने क्षुब्ध हो जाते थे कि हमें कुछ करना चाहिए। और इसी इच्छा से वे कभी हड़ताल करते थे; कभी अन्नग्रहण न करने की कसम खाते थे; कभी खादी पहनने की प्रतिज्ञा करते थे। यह सब अपने आप होता था। प्रौढ़ लोग तो नेताओं के भाषण पढ़कर अथवा किसी के निर्देशन से यह कार्य करते थे। ये बच्चे तो 'भीतरी आवाज' के कारण यह सब करते थे। भावुकता तथा दुनियादारी की समझ न होने से उन्हें यह पता भी नहीं होता था कि इसके क्या परिमाण होने वाले हैं? निर्णय तो लेते थे; निर्णय के अनुसार कार्य भी करते थे। इतना ही नहीं, बाद में परिणामों को भुगतने की हिम्मत भी बतलाते थे। इन स्कूली बच्चों की हिम्मत, निर्भयता और सहज-निर्णय को रेणुजी ने पहली बार शब्दबद्ध किया है। इस कारण भी यह उपन्यास अधिक महत्त्वपूर्ण, जीवन्त तथा मनोवैज्ञानिक बन गया है।

कथावस्तु—मनमोहन नाम का एक छोटा-सा बच्चा सिमवरनी से सातवीं की परीक्षा उत्तीर्ण होकर अगली पढ़ाई लिए अररिया कोर्ट में चला आता है। इस परीक्षा में पूरे जिले में वह सर्वप्रथम आया है। उसे शिष्यवृत्ति भी मिली है। माँ-पिता के सपने हैं कि बेटा वकील बने। सम्भवतः इसी उद्देश्य से वह आगे की पढ़ाई के लिए निकला भी है। जिन्दगी में पहली बार किसी कस्बे में पढ़ाई के लिए निकले हुए इस बच्चे की मनःस्थिति का बड़ा ही हृदयस्पर्शी तथा सूक्ष्म चित्रण लेखक ने किया है। शहर, वहाँ के लड़के, अंग्रेजी माध्यम, वेशभूषा आदि के प्रति उसके मन में जिज्ञासा है, शंका है तथा भय भी। ऐसा यह मनमोहन पढ़ाई के लिए अररिया आता है। और थोड़े ही दिनों में उसका परिचय मॅट्रिक की कक्षा में पढ़ने वाले प्रियोदा के साथ हो जाता है। प्रियोदा—जो राजनीति के प्रति अत्यधिक सजग है, गान्धीजी का भक्त है, राष्ट्रीयता की शपथ ले चुका है। प्रियोदा के सम्पर्क में आने के बाद मनमोहन में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगते हैं। अब वह मनमोहन से मोना

बन गया है। उसके भीतरी सुप्त गुणों का विकास होने लगता है। इस कस्बे में उसकी निवास-व्यवस्था किसी मोहरिल मामा के यहाँ हुई है, जो वास्तव में सगा मामा नहीं है। अररिया कोर्ट में मनमोहन दो परस्पर भिन्न वातावरणों से जी रहा है। एक ओर अत्यधिक स्वार्थी, डरपोक तथा गन्दी आदतों वाला मोहरिल मामा, उसकी पत्नी और उनका अवारा बेटा मटरू है तो दूसरी ओर राष्ट्रीय वृत्ति के प्रियोदा, अच्छे साथी तथा सहृदयी पारबतिया है। दोनों प्रकार के संस्कार मनमोहन पर गिरने लगते हैं। क्षणभर के लिए लगता है कि वह भी मटरू की तरह बन जाएगा, परन्तु वह प्रियोदा की ओर ही आकृष्ट होने लगता है। प्रियोदा के कारण ही वह बड़े महाराज के सम्पर्क में आता है। और फिर धीरे धीरे अपनी मंजिल की ओर बढ़ने लगता है। बीच में कितने ही चौराहे आते हैं। उसके साथी चौराहों को ही मंजिल समझकर वहीं रुक जाते हैं। परन्तु मोना किसी भी चौराहे पर न रुकते हुए आखिर अपनी मंजिल तक पहुँच ही जाता है। पर सवाल यह है कि मोना की जिन्दगी की मंजिल कौन-सी थी ? वास्तव में यह लेखक भी स्पष्ट नहीं कर पाया है। अलबत्ता मोना पश्चात्ताप की अग्नि में जलता रहता है। सारे साथी हिम्मत के साथ एक के बाद एक शहीद होते गये। पर मोना बचा। शायद नीलू के आकर्षण के कारण ! और इसीलिए वह अपनी जिन्दगी परिवार के लिए न देते हुए राष्ट्र की भावी पीढ़ियों के निर्माण के लिए दे देता है।

विशेषताएँ—(१) इस प्रकार इस उपन्यास की कथावस्तु अत्यन्त ही संक्षिप्त सी है। इस संक्षिप्त सी कथावस्तु में मनमोहन के बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक की कहानी रखी गई है। सम्पूर्ण उपन्यास के केन्द्र में 'मनमोहन' ही है। उससे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सम्बन्धित सभी व्यक्ति और घटनायें यहाँ आई हैं, परन्तु पृष्ठ-भूमि के तौर पर ही। वास्तव में 'कितने चौराहे' मनमोहन की स्मरण-गाथा ही है। एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की प्रमुख घटनाओं को एकसूत्रता के साथ रखा गया है, इसलिए इसे 'उपन्यास' के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

मात्र १४४ पृष्ठ के इस उपन्यास में कुल २५ प्रकरण हैं। सन् १९३० से लेकर १९६५ ई० तक के काल को इसमें पृष्ठभूमि के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। इस 'काल' का तथा उपन्यास के प्रमुख चरित्र मनमोहन की जिन्दगी के भीतरी परिवर्तन का गहरा सम्बन्ध है। इसी विशिष्ट राजनीतिक परिस्थिति के कारण ही उसमें विशेष परिवर्तन हुआ है। उसमें भी सन् १९३० से १९४५ तक के काल का बहुत महत्त्व है। वास्तव में इस उपन्यास की कथा प्रकरण २४ में ही समाप्त हो जाती है। सन् १९४५ में राजनीतिक कैदियों की रिहाई के बाद मनमोहन भी जेल से छूट गया तथा पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसता रहा। "पाँच-पाँच चिताओं की आग में झुलसता हुआ मनमोहन पाँच साल तक जेल और जेल में यही बुदबुदाता

रहा—नीलू नही आती ·····नीलू नही होती तो इस ग्लानि की आग में क्यो तपता ? मुझे क्षमा करना साथियों ! मैंने गद्दारी नही की ।"[४] इसी पश्चात्ताप की स्थिति में मनमोहन फिर एक बार निर्णय ले लेता है—"वह घर नही जायेगा लौटकर ! वह मुड़ेगा नही । उधर मुंह नही करेगा ।"[५] वास्तव मे उपन्यास की कथावस्तु यही पर समाप्त हो जाती है । परन्तु बीस वर्ष का अन्तराल देकर लेखक फिर मनमोहन को स्वामी सच्चिदानन्द के रूप मे प्रस्तुत करता है। मनमोहन इस समय तो अपनी कम-जोरी के कारण शहीद नही हो सका । बाद मे भी यह सम्भव न हुआ । परन्तु मन-मोहन का छोटा भाई जनमोहन भारत-पाक युद्ध मे शहीद हो गया है । और आज स्वामी सच्चिदानन्द इस घटना को पढ़कर अनुभव कर रहे हैं—"भैया के मन की ग्लानि को छूमन्तर कर दिया गुनीजी ने ! आह ! पाँच-पाँच चिताओ की आग मे एक युग से झुलसते हुए हृयय पर चन्दन-लेप रहा है कोई ।"[६] "गुनीजी ········कौन गुनीजी ? कौन जनमोहन—कौन मनमोहन—कौन माँ ? इतने इतने जनमोहन······ सच्चिदानन्द !"[७] मनमोहन के प्यार का उदात्तीकरण बतलाने के लिए शायद यह अन्तिम प्रकरण लिखा गया है । परन्तु इतना जरूर है कि यह अन्तिम प्रकरण मुख्य कथावस्तु से कटा हुआ-सा लगता है । कथावस्तु का मानो उपसहार ही लेखक ने इस प्रकरण द्वारा किया है। आरम्भ—विकास—चरमोत्कर्ष और उपसंहार इस प्रकार इसकी कथावस्तु की रचना हुई है । कथावस्तु अत्यन्त ही धीमी गति मे आगे बढती है । प्रकरण १ से १९ तक यह स्थिति है । परन्तु प्रकरण २० मे बड़ी तेजी के साथ घट-नाये घटने लगती हैं । १ से १९ तक के प्रकरण मे मनमोहन की करीब दो-तीन वर्ष की जिन्दगी का चित्रण है। और प्रकरण २० से २५ तक उसकी ४० से ४५ वर्ष की जिन्दगी के सकेत है । अर्थात् मनमोहन की जिन्दगी के चित्रण मे किसी प्रकार का सतुलन नही है । वास्तव मे निष्कर्ष स्थूल ही हैं । क्योकि जैसा आरम्भ मे ही कहा गया है कि रेणु विद्यार्थी-अवस्था का चित्रण ही मुख्यतः करना चाहते हैं । इसीकारण 'मोना' की विद्यार्थी-अवस्था पर ही वे केन्द्रित हो गये है । सम्भवतः प्रकरण २५ को रखकर वे मोना की जिन्दगी के उत्तरार्द्ध को स्पष्ट करना चाहते है ।

(२) इस उपन्यास की कथावस्तु राजनीति से सम्बन्धित होते हुए भी राज-नीतिक नहीं है । प्रेम से सम्बन्धित होकर भी प्रेममूलक नही है । राजनीति यहाँ पृष्ठभूमि के रूप मे है । प्रेम यहाँ प्रेरणा के रूप है । इसे पूर्णतः आंचलिक भी कह नहीं सकते । यह 'कस्बाई' परिवेश में लिखी गई एक अन-आचलिक कृति है । इसी कारण किसी परम्परावद्ध चौखट में इसकी कथावस्तु को रख नही सकते । अब तक के लेखकों का ध्यान जिस आयु की ओर गया नही था; वहाँ रेणु का ध्यान गया हुआ है । प्रत्येक अवस्था के व्यक्तियों के साथ कुछ खास प्रकार के कथानक जोड़ने की हमारी परम्परा है । यहां पर तो बाल्यावस्था—किशोरावस्था तथा युवावस्था

का सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। वातावरण तथा मानसिक संघर्ष का बड़ा ही सहज चित्रण हुआ है। इस संघर्ष से ही व्यक्तित्व-विकास को स्पष्ट किया गया है।

(३) प्रकरण १ से २ तक मनमोहन का नये गाँव के नये स्कूल में जाने का तथा उस नये गाँव का चित्रण किया गया है। प्रकरण ३ से ६ तक मनमोहन जिनके यहाँ रहता है उनका तथा उसके नये मित्रों का चित्रण किया गया है। प्रकरण ७ से ही उपन्यास का आरम्भ होता है। 'प्रियोदा' के सम्पर्क में आने के बाद ही मनमोहन के जीवन में एक नई क्रान्ति हो जाती है। आगे होने वाली घटनाओं के संकेत भी यहीं पर मिलने लगते हैं। इसी कारण यहाँ से 'आरम्भ' मानना पड़ता है। तो फिर प्रकरण १ से ६ तक की संगति क्या है? आरम्भ, विकास तथा अन्त को अधिक आकर्षक, सहज तथा यथार्थ बनाने के लिए लेखक ने इन छः प्रकरणों की आयोजना की। इसीलिए इन्हें 'पृष्ठभूमि' के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। "जहाँ पर दिए संकेतों का विस्तार किया जाता है, उसे 'मध्य' कहते हैं।" इस दृष्टि से प्रकरण ९ से २३ तक 'मध्य' है। २४वाँ प्रकरण 'अन्त' है, क्योंकि आगे की किसी भी घटना का संकेत यहाँ नहीं मिलता। परन्तु फिर २५वाँ प्रकरण लिखा गया है। उसे 'उपसंहार' के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार पृष्ठभूमि–आरम्भ-मध्य-अन्त और उपसंहार यह इसका स्थूल शिल्प विधान है। प्रकरण ८ के बाद ही कथा-वस्तु सहज रूप से बढ़ने लगती है।

(४) कथानक के विकास में सुसूत्रता का अभाव है। घटनाओं को स्पर्श करके रेणु आगे चलते हैं। एक में से दूसरी घटना निकली हो—ऐसा नहीं लगता। वास्तव में इसमें एक ही प्रमुख घटना है—स्कूल हड़ताल अर्थात् केनिंग वाली घटना। इसी एक घटना के कारण मनमोहन की जिन्दगी में बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाता है। अन्य घटनाएँ अधूरी-अधूरी सी लगती हैं। चरित्र प्रधान कथानक के कारण शायद ऐसा हुआ है। केवल उन्हीं घटनाओं का लेखक संकेत देता जाता है, जिनके कारण 'चरित्र' की कोई विशेषता स्पष्ट हो जाती हो। इसीलिए घटनाएँ कथाविकास के लिए नहीं आतीं, चरित्र-चित्रण के लिए आती हैं।

(५) कथावस्तु अत्यधिक यथार्थ है। सन् १९३०-३५ का वातावरण ही कुछ ऐसा था कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र के लिए मर मिटने को तैयार हो रहा था। ऐसे समय छोटे छोटे बालकों की प्रतिक्रियाओं को लेखक ने शब्दबद्ध किया है। 'मन-मोहन' को यथार्थ रूप में हमें स्वीकार करना पड़ता है। केवल मनमोहन ही नहीं अपितु उसके साथ जुड़े हुए वातावरण में अत्यधिक यथार्थता है। मोहरिल मामा तथा उनका परिवार, अररिया कोर्ट, वहाँ के लोग, उनकी मनोवृत्ति, परम्परागत आस्थाएँ, विश्वास, पूरन विश्वास का चरित्र, सरबतिया की स्थिति, काका, मनमोहन के पिता–

आदि अत्यधिक यथार्थ रूप में उभरकर आये हैं। तत्कालीन भारतीय राजनीति की पृष्ठभूमि में लेखक ने जिस समाज को अंकित किया है, वह जीवन्त हो उठा है। मनमोहन के मन में शरवतिया के प्रति इधर जो एक विचित्र-सा (परन्तु आयु के अनुसार बड़ा ही यथार्थ) शारीरिक आकर्षण उत्पन्न हो रहा था, उसके कारण भी इसकी यथार्थता और गहरी हो जाती है। (प्रकरण १६, पृष्ठ ९६)

(६) कथावस्तु में कौतूहल-उत्सुकता के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हैं। पृष्ठभूमि और उपसंहार के बावजूद भी कथावस्तु आकर्षक बन पड़ी है। मनमोहन, शरवतिया, मनमोहन की माँ का स्वप्न, नीलू, काका, हड़ताल, प्रियोदा आदि विभिन्न व्यक्तियों तथा घटनाओं को लेकर पाठकों के मन में सतत उत्सुकता बनी रहती है; जिज्ञासा निर्माण हो जाती है। इतने छोटे उपन्यास में भी रेणु पाठकों के मन को पूरी तरह से आकृष्ट कर लेते हैं।

इसकी कथावस्तु की सबसे बड़ी विशेषता इसकी मौलिकता में है। जैसा कि आरम्भ में ही कहा गया है कि सम्भवत: रेणु पहले लेखक हैं जिन्होंने स्वतन्त्रता-संग्राम में विद्यार्थियों के योगदान को लेकर इतना हृदयस्पर्शी उपन्यास लिखा है। इसमें न परम्परावद्ध प्रेम है, न यौन आकर्षण, न सस्ते और रूमानी संवाद; न बहुत बड़ा उपदेश या आदर्श। अपनी कमजोरियों को लेकर मनमोहन जिन्दगी के चौराहे किस प्रकार पार करता रहा; इसका सहज तथा तटस्थ चित्रण इसमें किया गया है। इसी कारण इसकी मौलिकता कथानक के चुनाव तथा चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता में है।

(८) इसकी कथावस्तु समसामयिक जीवन पर आधारित है। कुछ हद तक इसे 'ऐतिहासिक उपन्यासों' की कोटि में रख सकते हैं। क्योंकि ऐतिहासिक घटनाओं की नींव पर ही कथानक का भवन खड़ा है। कथावस्तु की इसी ऐतिहासिकता के कारण इसमें अनेकार्थ की शक्ति नहीं है। आज के सन्दर्भ से यह नया अर्थ दे नहीं सकता। इसकी कथावस्तु की यह सबसे बड़ी मर्यादा है।

(९) इसकी शैली तरल और सांकेतिकता को लिए हुए है। इस शैली में खास 'रेणुपन' के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। अन्तिम प्रकरण में पूर्वदीप्ति (flash-back) पद्धति का प्रयोग किया गया है। इसे मिश्रित शैली कहना उचित है।

(१०) एक ज्वलन्त युग को, राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए तड़पने वाले युवकों की मन:स्थिति को, उनकी इच्छा-आकांक्षा तथा संयम को रेणु ने अत्यधिक सहजता के साथ व्यक्त किया है। यह इस कथावस्तु की सबसे बड़ी विशेषता है। मनमोहन, शरवतिया तथा नीलू ये ऐसे प्रसंग थे जहाँ कोई भी लेखक कथानक को अधिक रोमान्टिक और भावुक बना सकता था। परन्तु रेणु की पकड़ यथार्थ पर से

क्षणभर के लिए भी छूटती नहीं। इसी कारण ऐसे प्रसग लाने के बावजूद भी वह सहज रूप मे उनका निर्वाह करता है। उसकी प्रतिभा और लेखनी का यह सबसे बडा सयम है। इस सयम के दर्शन जहाँ-तहाँ इस उपन्यास मे होते हैं।

[इसकी आचलिकता पर आगे विचार किया गया है।]

चरित्र-चित्रण

मनमोहन —जैसा कि कहा गया है मनमोहन इस उपन्यास का केन्द्रीय चरित्र है। सम्पूर्ण उपन्यास पर वह छा गया है। शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करके हम यह कह सकते हैं कि वही इस उपन्यास का नायक है। क्योंकि सभी प्रमुख घटनाएँ उसके कारण घटित होती हैं तथा घटनाओ का वहन भी वह करता है। उसके बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक का चित्रण इसमे है। उसके जीवन चरित्र का क्रमिक विकास देखने का हम यहाँ प्रयत्न करेंगे।

एक छोटे-से देहात सिमवरनी मे उसका जन्म हुआ है, और वही पर आरभ की पढाई। "इस बार तो उसे अपर प्रायमरी की परीक्षा मे छात्रवृत्ति मिली है।"[१] आगे की पढाई के लिए उसे अब शहर जाना है। लडका पढने के लिए शहर जा रहा है, इसलिए पिता ने बार-बार कहा है—"शहर जाकर शहरी लडका मत बन जाना। बीडी सिगरेट मत पीना।"[२] वह मन-ही मन सोच रहा है—"शहरी ? शहर जाकर शहरी मत बन जाना ! तो फिर शहर के स्कूल म भेजते ही क्यो हैं ?"[३] स्पष्ट है कि छोटा मनमोहन बुद्धिमान है। उसे किसी दूसरे देहात के स्कूल मे भेजने का भी आग्रह हुआ है। परन्तु उसके बाबूजी के अनुसार शहर के स्कूल मे ही जाना ठीक होगा। शहर के स्कूल मे जाने के पूर्व उसके मन मे इस शहर के प्रति अनेक प्रश्न उभर रहे थे। अंग्रेजी मे बात करनी होगी, विशेष तरीके के कपडे पहनने होंगे" आदि आदि। सारी तैयारी के बाद मनमोहन शहर की ओर निकलता है तो उसका मन उदास हो जाता है। अपनी माँ, बहन और काका को छोडकर वह पहली बार दूर जा रहा था। उसकी इस मन स्थिति का बडा ही सहज चित्रण रेणु यहाँ करते हैं। रेलगाडी मे पैर रखते समय बाबूजी ने कहा था—"सँभलकर पैर रखना पाँवदान पर। फिसल मत जाना।"[४] 'फिसल मत जाना' इस वाक्य को मनमोहन जिन्दगीभर याद रख गया है। और इसीकारण जिन्दगी के पाँवदान पर पैर पक्के रखना उसने सीख लिया है। आगे कभी वह फिसल नही सका, हालाँकि प्रसग कई आये।

शहर के स्कूल मे पहली बार भरती होने के बाद उसे कई नई बातें मालूम हुईं। जैसे—"यहाँ फूटबाल खेलना जानना होगा।"[५] नये मित्रो—कालू, रोबी आदि का परिचय हुआ। जिस घर मे मनमोहन के रहने की व्यवस्था हो गई थी उस मोहरिल मामा के घर के एक ही सदस्य से वह प्रभावित हुआ है, वह है पारबतिया। 'पता नहीं क्यो उसे पारबतिया दीदी के आचल मे माँ के आचल की गध आती

है।"[१४] इस शहर में आने के कुछ ही दिनों बाद वह प्रियोदा के सम्पर्क में आता है और यहीं से उसके जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन शुरू हो जाते है। अपनी मातृभूमि की गुलामी का एहसास उसे हो जाता है।—"मनमोहन की आंखों के आगे बहुत देर तक प्रियोदा के कुर्ते पर टँकी हुई 'गोल चकत्ती' की तस्वीर छाई रही...... जजीर में जकड़ी एक देवी की मूर्ति। नीचे लिखा हुआ था—वन्दे मातरम्!"[१५] यह तस्वीर जिन्दगी के आखिरी समय तक उसके दिलो-दिमाग पर छाई रही है।

स्कूल के शरारती लड़के तथा कठोर स्वभाव के मास्टरों के कारण मनमोहन इतन निराश और उदास हो जाता है कि वह यहां से हमेशा के लिए अपने घर वापिस जाना चाहता है। "मैं यहां नहीं पढ़ूंगा। मैं आज ही घर जाऊँगा।"[१६] परन्तु शरबतिया और पिता के समझाने पर वह इस विचार को निकाल देता है। वास्तव में वह इस शहर में पढ़ता रहा प्रियोदा के व्यक्तित्व के ही कारण। प्रियोदा के 'किशोर क्लब' का सदस्य हो जाने के बाद तो उसे यहां की जिन्दगी में काफी आनन्द आने लगता है। वह जितना भावुक है, उतना ही बुद्धिमान। अपने मन और बुद्धि को जो बात पटती है, वह उसे चुपचाप करता करता है, चाहे जितना विरोध हो। इसी कारण स्काउट-ड्रेस के लिए दिए गए पैसों से वह खद्दर का कपड़ा खरीदता है। और केनिंग की घटना होने के बाद पिताजी और काका के अनशन के बावजूद भी वह प्रियोदा का साथ छोड़ने को तैयार नहीं होता। उसका विश्वास था कि वह जो कुछ भी कर रहा है, वह बुरा नही है। वह अब धीरे-धीरे निर्भय बनते जा रहा है। प्रियोदा की यह बात उसे पूर्णतः मान्य हो चुकी है कि "दस और देश का काम करनेवाला तो खुद ही भूत होता है—उसको भूत क्या कर सकता है?"[१७] इसीलिए ग्रामीण अंचल से आए हुए इस मनमोहन के हृदय से भूत, प्रेत, पुलिस, अंग्रेज आदि का डर निकलने लगता है। "मुनीजी इतना जल्दी निडर हो गया। यहाँ गांव में जिस दिन कोई "लाल पगड़ी" वाला आ जाता, तो दिनभर घर में छिपा रहता था—डर से। अब देखिए कि 'टिकस चेकर' से लेकर गाट साहब तक से अंग्रेजी में बतियाता है। सैकड़ों लाल पगड़ी वाले पुलिस के सामने खद्दर की वर्दी पहनकर 'लैफ रैट' करता हुआ शान से चला जाता है।"[१८] यह परिवर्तन प्रियोदा के सम्पर्क के कारण ही संभव हो सका है। गान्धीजी की गिरफ्तारी के बाद प्रियोदा के नेतृत्व में स्कूल में हड़ताल की जाती है। आरम्भ में तो हड़ताल में भाग लेने वालों की संख्या काफी थी। परन्तु "पुलिस के सिपाहियों का नाम सुनकर अधिकांश विद्यार्थी घबराए और भागे।"[१९] और रेस्टिकेट के भय से "तीसरे दिन करीब-करीब हर दर्जे के हड़ताली छात्रों ने लिखकर माफी मांग ली—सात शैतानों के सिवा।"[२०] इन सात शैतानों में प्रियोदा और उसके क्लब के छह सदस्य ही थे—जिनमें सबसे छोटा मनमोहन था। फिर केनिंग की घटना हुई। इन सातों को स्कूल के मैदान में

सभी छात्रों के बीच छड़ी से पीटा गया। गाँव के लोग भी काफी संख्या में आए हुए थे। मनमोहन ने उस दिन अद्‌भुत साहस का परिचय दिया। इसी कारण "मनमोहन को किसी ने कंधे पर उठा लिया है। उसकी देह में गुदगुदी लगती है।"[11] और डॉक्टर बनर्जी का थपगला कम्पाउन्डर बोतल से दूध जैसी दवा एक बर्तन में डालकर पट्टी भिगो रहा है और हँस रहा है "ये खोव रोक्तो मिछे नेही आएगा—अर्थात् यह रक्त देकर नहीं जाएगा।"[11] इस प्रकार मनमोहन अब उस कस्बे का 'वीर बालक'[11] बन गया है। केवल ऐसे ही कार्यों में वह निर्भयता के साथ आगे बढ़ नहीं रहा है, तो स्कूली परीक्षाओं में भी वह सबसे आगे है। "मनमोहन को छमाही परीक्षा में डबल परमोशन मिला है। छै महीनों में ही एक क्लास पास। अब कौन कह सकता है कि मुनीजी पढ़ने के बदले हड़ताल करता है।"[11] इतनी कम उम्र में उसे काफी प्रतिष्ठा मिल गई है। कभी-कभी उसकी इच्छा होती है कि पढ़ाई लिखाई छोड़कर 'स्वतन्त्रता-आन्दोलन' में कूद जाए। परन्तु "बड़े महाराज कहते हैं कि अभी तुम लोगों का समय नहीं आया। अभी पढ़ो लिखो, देह और मन को मजबूत बनाओ।"[11] स्वतन्त्रता-आन्दोलन की ओर मनमोहन के इस प्रकार मुड़ जाने के कारण 'काका' भी इस आन्दोलन में कूद पड़े हैं। और मनमोहन के पिताजी अब इस काम के प्रति पहले की तरह तिरस्कार से नहीं देखते। उलटे "वे तो अब बड़े निश्चिन्त हैं। असल में बड़े महाराज का ही असर हुआ है।" उन्होंने कहा—'बड़े महाराज जो कहें वही करना। वह बुरा रास्ता क्यों बतलाएँगे? तुम्हारे काका के बिना कोई काम यहाँ पड़ा तो नहीं है। जेल में तिवारी जी वगैरह के 'संगत' से आदमी बन जायगा।'"[11] इस बीच मनमोहन बड़े महाराज द्वारा स्थापित 'स्टुडेंट्स होम' में जाकर रहने लगा है। इसके भी कई मनोवैज्ञानिक कारण हैं। जैसे-जैसे वह अपनी बाल्यावस्था को छोड़कर कैशोर्यावस्था में प्रवेश कर रहा है, वैसे-वैसे धारवतिया के प्रति उसके मन में यौन आकर्षण बढ़ रहा है। मोहरिल मामा के घर का वातावरण वैसे भी बड़ा ही खराब है। उसमें फिर विधवा धारवतिया! शराब और मटरू की संगत। "नहीं तो, नहीं तो किसी दिन वह एक घूँट दारू पी लेगा, धुधनी खाकर किसी दिन हे वीर! विवेकानंद स्वामी की मूर्ति ..."[11] इस स्टुडेंट्स होम में आने के बाद उसकी सारी जिन्दगी ही बदल जाती है। सब कुछ नये ढंग से जानने की कोशिश वह करने लगा है। इस बीच पढ़ाई अधूरी छोड़कर राजनीति में प्रवेश करने वालों की संख्या कम नहीं थी। परन्तु बड़े महाराज ने कहा है—'देखो मानू! तुम्हारे ऊपर मुझे बहुत भरोसा है। कभी झोंक में आकर तुम भी पढ़ना लिखना मत छोड़ बैठना। अभी सीधे बढ़े चलो। राह में, छाँव में कहीं बैठना नहीं है। कितने ही चौराहे आएँगे। न दाएँ मुड़ना, न बाएँ—सीधे चलते जाना।'[12] बड़े महाराज के इसी उपदेश और मार्गदर्शन

के कारण वह सीधे बढ़ने की कोशिश कर रहा है। काल-चक्र अपनी गति के साथ आगे बढ़ रहा है। मनमोहन की जिन्दगी में आकर्षण के "कितने ही चौराहे" आ रहे हैं। वह सब को पार करते हुए आगे बढ़ रहा है। शरवतिया के आकर्षण का चौराहा, नीलू के प्रति सहज-सुलभ आकर्षण का चौराहा, प्रतिष्ठा का चौराहा! सब को तटस्थता से देखते हुए वह आगे बढ़ रहा है। न दाएँ मुड़ रहा है और न बाएँ। अलबत्ता उसके मन में द्वन्द्व जरूर है। परन्तु इस द्वन्द्वात्मक स्थिति को वह सहज रूप से जी लेता है और लगातार आगे बढ़ता जाता है। "इधर दीपू-तपू की भांजी नीलू से मिलने की उसे इच्छा हो रही है। इसके लिए उसने नियम का भंग भी किया है।"[२९] परन्तु फिर वह संभल जाता है। १५ जनवरी, १९३४ ई० में बिहार में भूमि-कम्प हुआ। "प्रलयंकारी भूकंप की विनाश-लीला की खबरें चारों ओर से आ रही हैं। मुंगेर, मुजफ्फरपुर, दरभंगा में हजारों लाशें पड़ी हुई हैं। मलबे के नीचे हजारों जानें दम तोड़ रही हैं।......महाश्मशान! सारे उत्तर बिहार में त्राहि-त्राहि मची हुई है।"[३०] और इसीकारण मनमोहन वहाँ के अस्पताल में काम करते समय वह अनुभव करता है कि "हर अधेड़ के चेहरे पर वह अपने बाबूजी के मुखड़े की छाया देखता है। सभी घायल, बीमार औरतें उसकी माँएँ हैं......कितनी पुष्पी, नीलू, गुनी जी, शरवतिया दीदी, प्रियोदा......कितने-कितने......आह! चीख-पुकार![११] डेढ़ महीने के बाद मनमोहन वहाँ से लौट आता है। फिर वही चक्र! जिन्दगी अपनी गति से आगे बढ़ रही है। और सन् १९४२ का 'भारत छोड़ो' आंदोलन! इस कस्बे के छात्र भी 'ट्रेजरी आफिस' पर तिरंगा झंडा फहराने का निर्णय लेते हैं। सूरज और हफीज तो हिन्दू-मुस्लिम दंगे में शहीद हो गए। अब कृत्यानन्द, शिवनाथ, हरेन्द्र, अशर्फी, प्रियोदा और मनमोहन मिलकर 'ट्रेजरी आफिस' हर तिरंगा फहराने का निर्णय ले चुके हैं। अंग्रेजों की ओर से भी सारी तैयारी है। १२ से २० की आयु के ये लड़के झंडा लेकर जैसे ही आगे बढ़ने लगते हैं, तुरन्त गोलियाँ चलने लगती हैं। फिर भी तिरंगा नीचे गिरेगा नहीं। एक शहीद हो गया है तो दूसरे के हाथ में झंडा देकर ही। "और देखते-ही-देखते एक के बाद एक धराशायी होने लगे। प्रियोदा, कृत्यानन्द, अशर्फी, भोला और तपू—एक गिरता, दूसरा आगे बढ़कर उसके हाथ से झंडा लेता। दूसरा गिरता, तीसरा झंडा थामता। चौथे ने गिरने से पहले मोना को आवाज दी—अपने जोड़ीदार को। किन्तु मोना को पकड़कर नीलू पागल की तरह चिल्ला रही थी—नहीं—नहीं!"[१२] और इसी कारण मोना बच गया है। परन्तु—"मैं जिन्दगीभर जलता रहूँगा तुम्हारी चिताओं की आग कलेजे में लेकर। तुमने मुझे पुकारा कमांडर! तुम्हारी पुकार पर तुम्हारे हुक्म पर......मैं—मैं दोषी हूँ।...... अनुशासन-भंग किया है मैंने। मुझे गलत मत समझना प्रियोदा, कृत्या, अशर्फी, भोला।"[११]

इसी पश्चात्ताप की आग मे मोना जिन्दगीभर जलता रहा। मातृभूमि पर शहीद होने का उसका सपना अधूरा ही रहा। सन् १९६५ के भारत-पाक युद्ध मे इस मोना का छोटा भाई जनमोहन शहीद हुआ। और तब स्वामी सच्चिदानन्द (मोना) अनुभव करते हैं—'पाँच-पाँच चिताओ की आग मे एक युग मे झुलसत हृदय पर चन्दन लेप रहा है कोई। अब मुडना होगा माँ के पास नहीं गुनीजी कौन गुनीजी ? कौन जनमोहन कौन माँ ? इतने इतने जनमोहन सच्चिदानन्द।'"[३६]

मनमोहन के चरित्र का यह क्रमिक विकास देखने के बाद हम उसके सम्बन्ध मे निम्नलिखित निष्कर्ष दे सकते हैं।

(१) मनमोहन का यह चरित्र अत्यधिक यथार्थ है। वह प्रातिनिधिक भी है और विशिष्ट भी। उसमे मानव दुर्बलताएँ हैं। और जहाँ जहाँ पर ये मानव सुलभ दुर्बलताएँ बतलाई गई हैं—शरबतिया का आकर्षण, नीलू का आकर्षण, प्रतिष्ठा का आकर्षण—वहाँ-वहाँ पर वह यथार्थ बन पडा है। परन्तु जहाँ पर वह इन कम जोरियो पर विजय प्राप्त करके आगे बढने लगता है, वहाँ पर वह 'विशिष्ट' बन जाता है। इस प्रकार 'प्रातिनिधिकता' और 'विशिष्टता' का जाने-अनजाने सुन्दर समन्वय इसके चरित्र मे हुआ है। इसी समन्वय के कारण यह चरित्र अधिक आकर्षक तथा यथार्थ बन पडा है।

(२) मनमोहन 'स्थिर' स्वभाव का व्यक्ति नही है। उसमें विकासात्मकता के सारे लक्षण प्राप्त हैं। अक्सर 'ध्येयवादी' लोग स्थिर चरित्र के होते हैं। परन्तु मनमोहन अपनी बुद्धि और अनुभव के बल पर आगे बढने की कोशिश करता है। किसी एक विशिष्ट सिद्धान्त को स्वीकार करके ठीक उसी प्रकार चलने का उसका अन्धा प्रयत्न नही है। प्रियोदा, बडे महाराज तथा अपने व्यक्तिगत अनुभवो के माध्यम से वह जिन्दगी को समझने की कोशिश करता है और उसी तरीके से जीने की भी। इसी विशेषता के कारण वह बडा ही जीवन्त और सहज लगता है।

(३) इसके व्यक्तित्व विकास मे एक निश्चित प्रकार का क्रम है। एक के बाद एक घटनाएँ रखी गई हैं। छात्रावस्था-युवावस्था तथा प्रौढावस्था। प्रत्येक अवस्था मे जो दिक्कतें आई हैं, उनका सकेत रेणु देते गए हैं। युवावस्था की उसकी निर्भयता, कुछ कर बतलाने की जिद तथा यौन आकर्षण का बडा ही सूक्ष्म चित्रण किया गया है। अर्थात् हर अवस्था मे 'चौराहे' आते हैं। पर प्रत्येक चौराहे पर से गुजर कर वह आगे चला जाता है। चौराहो का आकर्षण उसे थोडी देर के लिए बाधकर रख देता है। परन्तु चौराहे को ही मजिल समझकर वह वही रुक नही जाता। श्री शातिदेव ने अपनी पुस्तक "रेणु का आचलिक कथा-साहित्य" मे कितने चौराहो का सम्बन्ध राष्ट्र की गति से माना है। "यह जीवन्त राष्ट्र एक के बाद

एक कितने ही चौराहों को पार करता गया है।"......"और यह महाप्राण जनता पुनः उनके गन्दे मनसूबों को रौंदकर आगे बढ़ती जाती है। न दाएँ मुड़ती है न बाएँ, आगे ही बढ़ती है।"[१५] वास्तव में कितने चौराहों का सम्बन्ध राष्ट्र की गति के साथ नहीं, मनमोहन के चरित्र के साथ ही है। क्योंकि 'मनमोहन' ही अनेक चक्रों को, चौराहों को पार करता हुआ आगे बढ़ने लगता है। 'चौराहा' तो वास्तव में एक परीक्षा-स्थल है। हमारे सन्तों ने इसी को 'माया-मोह' कहा है। जिन्दगी में भी इस प्रकार के अनेक चौराहे आते हैं जो हमें मंजिल की ओर जाने नहीं देते। सौभाग्य से मनमोहन इन चौराहों रूपी परीक्षा-स्थल पर से उत्तीर्ण होकर आगे बढ़ जाता है—यह उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है।

(४) मनमोहन आरम्भ से 'आदर्श' की खोज में निकला है। वह अपना सम्पूर्ण जीवन "दस और देश" के लिए देना चाहता है। उसका तो सपना था—देश के लिए मर मिटने का। उसके सभी साथी इस सपने को पूर्ण कर सके हैं। और वह अकेला बचा रहा है—वह भी अपनी भीतरी कमजोरी के कारण; नीलू के कारण। उसी पश्चात्ताप की अग्नि में वह जल रहा है। शहीद होने का सपना पूरा नहीं हुआ तो क्या हुआ; वह दूसरे तरीके से तो अपने सपने को पूरा कर सकता है। इसी कारण वह "दस और देश" का काम कर रहा है—स्वामी सच्चिदानन्द बनकर। वास्तव में २५वें प्रकरण में उसका यह उदात्त और धीरगम्भीर रूप उसके 'आदर्श' को ही स्पष्ट करता है। माँ-पिता, भाई-बहन आदि के व्यक्तिगत प्रेम का इतना उदात्तीकरण हो गया है कि वह प्रत्येक में अपने माँ-पिता अथवा भाई-बहन को देखता है। इस प्रकार रेणु इसे पूर्णतः आदर्श में परिवर्तित कर देते हैं। इस आदर्श तक पहुँचने के लिए उसे कितने ही चौराहों को पार करना पड़ता है; इसे हम न भूलें।

(५) संस्कार तथा वातावरण के समन्वय से मनमोहन का व्यक्तित्व बना है। प्रकृतितः वह बुद्धिमान है। अच्छे साथी मिले, इसी कारण उसकी बुद्धिमत्ता विकसित हो सकी है। एक ओर मोहरिल मामा का गन्दा घर है, तो दूसरी ओर प्रियोदा जैसे प्रखर राष्ट्रीयवादी मित्र। घरेलू संस्कार उत्तम थे। पिता के कठोर व्यावहारिक ज्ञान और काका के लाड़-प्यार के संस्कार हैं। कस्बे में आने के बाद शरबतिया की ममता, प्रियोदा की निर्भयता तथा बड़े महराज के मार्गदर्शन ने उसके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। उपर्युक्त सभी बातों का उसके व्यक्तित्व में अद्भुत समन्वय हुआ है; और इसी कारण वह अपनी मंजिल तक पहुँच सका है।

इस प्रकार रेणु 'मनमोहन' के माध्यम से तत्कालीन युग की बाल तथा युवा मनःस्थिति को व्यक्त कर गये हैं। सन् १९३०–३५ का वातावरण ही कुछ ऐसा था कि मनमोहन की तरह ऐसे सैकड़ों युवक "दस और देश" के लिए निकल पड़े थे।

मनमोहन एक ऐसा ही युवक है। तत्कालीन वातावरण का विचार किये बगैर हम इस चरित्र पर न्याय नहीं कर सकते। २०वीं शताब्दी के इस स्वार्थ से परिपूर्ण युग में मनमोहन तथा उसके साथियों का यह कार्य शायद 'बेवकूफी' अथवा 'पागलपन' का हो सकता है। परन्तु १९२० से १९४५ तक का युग ही ऐसे 'पागलपन' और 'बेवकूफियों' से भरा हुआ था। वास्तव में मनमोहन के इस व्यक्तित्व को लेकर साथी प्रियोदा के एक गीत की पंक्ति याद आती है—"सवाय बोलि आमाय पागल, आमि सबाय के पागल बोली।"

प्रियोदा—मनमोहन के बाद सबसे अधिक प्रभावित कर जाने वाला पात्र प्रियोदा ही है। "सेकण्ड हेडमास्टर का बेटा प्रियोदा–प्रियव्रत राय—मैट्रिक में पढ़ता है। स्कूल के सभी लड़के और मास्टर उसे प्यार करते हैं। स्कूल ही नहीं, उस छोटे से कस्बे में उसको प्राय सभी जानते हैं। "स्कूल का कोई छात्र या शिक्षक बीमार पड़ा कि प्रियोदा अपनी टोली के साथ उसके घर पर हाजिर।"[११] प्रियोदा ने एक 'किशोर क्लब' बनाया है। यह 'किशोर क्लब' स्कूल के सभी दोस्तों के काम आता है। 'किशोर क्लब' के सदस्य बीमार की सेवा करते हैं, सन्यासी आश्रम के लिए मुठिया वसूलते हैं। शराब-बन्दी का आग्रह करते हैं, सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं। और सबसे बढ़कर राष्ट्रीय गतिविधियों की जानकारी छात्र तथा सामान्य लोगों को देते हैं और समय आने पर हड़ताल भी करते हैं। पहले ये सात थे। बेनिंग की घटना के बाद दो और सदस्य इसमें शामिल हुए हैं। अब ये नौरत्न हैं। इन नौरत्नों के सरताज हैं 'प्रियोदा'। प्रियोदा गंभीर प्रवृत्ति के हैं। बौद्धिकता और भावुकता का अद्‌भुत समन्वय इनमें हुआ है। इसी भावुकता के कारण ही पूरन विश्वास जैसे स्वार्थी, क्रूर तथा सशयी छात्र को उन्होंने 'स्टूडेंस् होम' में प्रवेश दिलवाया था। क्योंकि "प्रिया ने ही पूरन की पैरवी और सिफारिस करके उनको (बड़े महाराज) राजी किया था—महाराज! पूरन खूब प्रतिभावान् लड़का है। उसे रखना ही होगा।"[१२] प्रियोदा नियम के बड़े पक्के हैं। 'किशोर क्लब' के नियमों का भंग उन्हें कभी पसंद नहीं आता। गालियों का प्रयोग, डरपोक तथा संकुचित वृत्ति उन्हें कभी भी स्वीकार नहीं है। इसीलिए वे हर बार साथियों को डाटते रहते हैं। इस डाट में प्यार भी है और आदर्शों के अनुकूल व्यक्तित्वों को ढालने की जिद भी। प्रियोदा की निर्भयता के कारण ही हड़ताल सफल हो जाती है। प्रियोदा के मार्गदर्शक बड़े महाराज हैं। परन्तु बड़े महाराज के इशारे पर नाचने वाले ये नहीं हैं। राजनीति के प्रति तो वे अत्यधिक सजग हैं। इसी कारण तो गांधीजी को जेल होने के बाद वे हड़ताल कराते हैं। और सन् १९४२ के 'चले जाव' आन्दोलन में अपनी ओर से कुछ करने की प्रतिज्ञा करते हैं उस दिन ट्रेजरी ऑफिस पर तिरंगा फहराने के प्रयत्न में वे शहीद हो जाते हैं।

आरम्भ से अन्त तक प्रियोदा का व्यक्तित्व तेजस्वी है। वह है ही १५-२० वर्ष का युवक। परन्तु लेखक भी उसके सामने शायद नतमस्तक है। इसीलिए प्रत्येक स्थान पर उसके लिए आदरसूचक शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। 'नेतृत्व' की शक्ति प्रियोदा को जन्म से ही मिली है। यह नेतृत्व सत्ता अथवा राज की तरह का नहीं। इस नेतृत्व में वह सबसे आगे है। चाहे केनिंग की घटना हो अथवा फायरिंग की घटना। वह गांधीजी के व्यक्तित्व से प्रेरित है। "सर्वसेवाभाव" की उसने प्रतिज्ञा ही की है। इस सर्वसेवाभाव के कारण ही उसने 'किशोर क्लब' की स्थापना की है। इसी सेवाभाव के कारण वह भूकम्प के बाद उत्तर बिहार में दौड़कर जाता है। गांधीजी का वह अन्धा भक्त नहीं है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण क्रांतिकारियों के प्रति उसकी श्रद्धा में प्रकट होता है। एक ओर वह बड़ी श्रद्धा से तकली कातता है तो दूसरी ओर क्रान्तिकारियों की कहानियां भी सुनाता है। उसे पता है कि स्वतन्त्रता के लिए चल रहे इस यज्ञ में अनेक आहुतियां देनी पड़ेंगी। इसी कारण बाघा यतीन की मृत्यु पर वह कहता है—"बात रोने की नहीं, हँसने की है। अब देरी नहीं। स्वराज्य करीब आ रहा है—धीरे-धीरे।......और भी मरेंगे। मारे जाएँगे......।"[१८] एक दिन वह अपनी भी आहुति इस यज्ञ में दे देता है। मनमोहन से भी प्रियोदा का व्यक्तित्व अधिक प्रखर है।

प्रियोदा का सबसे बड़ा कार्य यह है कि उसने नायक मनमोहन के चरित्र को ही मोड़ दिया है। मनमोहन जो कुछ भी बन सका है; उसका बहुत बड़ा श्रेय तो प्रियोदा को ही है। शायद ऐसा बहुत कम बार होता है कि नायक को नायकत्व किसी दूसरे की प्रेरणा, मार्गदर्शन तथा व्यक्तित्व से मिल जाए। प्रियोदा न होता तो मोना का व्यक्तित्व ही न बनता।

शरबतिया :—आज की भारतीय युवती का प्रतिनिधित्व शरबतिया करती है। वह विधवा है। सन् १९३०-३५ के जमाने में इस प्रकार की विधवाओं की समस्या बड़ी गम्भीर थी। इस काल में इस विषय पर सैकड़ों उपन्यास लिखे गए हैं। शरबतिया तो पतिगृह जाने के पूर्व ही विधवा बन गई है। विधवा-जीवन की सम्पूर्ण करुणा को लेकर वह यहाँ आई है। माँ-बाप एकदम प्रतिकूल स्वभाव के हैं। पिता का शराब पीना और माँ का उसमें शरीक होना उसे कतई पसन्द नहीं। छोटा भाई मटरू दिन-ब-दिन बिगड़ रहा है इससे वह चिन्तित है। उसके सारे दर्द को रेणु ने मुखरित नहीं किया है। परन्तु ऐसा लगता है कि शरबतिया के अपने निश्चित स्वप्न हैं—जिन्दगी के प्रति। मनमोहन आने के बाद तो उसकी जिन्दगी में ही परिवर्तन हो जाता है। "शरबतिया को यह क्या हो गया है? मनमोहन जब से आया है, वह एकदम बदल गई है।............अब वह दिनभर फिरकी की तरह काम करती रहती है।"[१९] इस परिवर्तन के मूल में मनमोहन का स्वभाव है। मनमोहन को देखकर

उसका वात्सल्य अधिक विकसित होता है। वात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिए एक माध्यम मिल जाता है। इसी कारण वह मनमोहन की सभी प्रकार से देख-भाल करती है। इस घर को छोडकर वह जाएगा, यह सुनकर रोती है। मनमोहन के प्रति वह पूर्णत समर्पित है। इस समर्पण मे न शरीर है, न कोई अतृप्त इच्छा। उसमे तो 'शुद्ध वात्सल्य' है। मनमोहन के प्रति उसके इस प्रकार के व्यवहार से घर के सब सदस्य नाराज हैं। माँ मनमोहन के साथ उसका नाम जोडकर गन्दी गालियाँ देती है। मटरू भी इसी प्रकार के सकेत करता है। पिता मोहरिल शरवतिया का हाथ किसी प्रौढ व्यक्ति के हाथ मे देकर पैसे कमाना चाहता है। इसी कारण इस परिवार मे वह एकदम अलग पड जाती है। मनमोहन स्टूडेंट्स होम' मे रहने के लिए चला जाने के बाद तो वह काफी उदास और निराश रहने लगती है। सन् १९३६ के प्रान्तीय स्वराज्य के बाद मनमोहन शरवतिया को एकदम प्रसिद्धि दिला देता है। शरवतिया के हाथो वह शहीद बालिका विद्यालय का शिलान्यास करा देता है। परिणामत दूसरे दिन 'पूर्णियाँ समाचार' के मुखपृष्ठ पर बडी सी तस्वीर छपती है— शिक्षामत्री शरवती देवी की।" और इसी कारण एक स्त्री कहती भी है— 'तुम्हारा भाजा मोहन चाहेगा तो वह भी (पेन्सन) एक दिन मिल जाएगा। नमक का बदला चुकाना वह नही भूलेगा।"[³] स्पष्ट है कि शरवतिया के चरित्र पर अनेक आरोप किए जा रहे हैं। परन्तु शरवतिया चुपचाप अपनी जिन्दगी जीती चली जाती है। एक दिन माँ और पिता मिलकर उसका चुमौना कर देते हैं। "शरवतिया का चुमौना हो गया, ससुराल चली गई है।"[¹]

शरवतिया मनमोहन के लिए प्रेरणा थी और मनमोहन उसके लिए। निन्दा तथा दुखो को वह चुपचाप सहती रही। परन्तु वह कभी नाराज नही रही। भीतर-ही-भीतर जलती रही, परन्तु सबको प्रकाश देते हुए। वह एक बाती की तरह थी, जो खुद तो जलती रहती है, परन्तु औरो को प्रकाश देते हुए।

काका —मनमोहन के काका अशिक्षित और सर्वसामान्य जन के प्रतिनिधि होने के बावजूद भी पाठको का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। भारतीय ग्रामीण जनजीवन की श्रद्धाओ, अन्धविश्वासो तथा सस्कारो से काका का व्यक्तित्व बना है। काका का मनमोहन पर सर्वाधिक प्यार है। वास्तव मे "माँ के बदले मनमोहन को उसके काका ने माँ का लाड-प्यार दिया है।"[³] मनमोहन की माँ तो मनमोहन को अपना नही पराया लडका मानती है। क्योकि उसके सपने मे अक्सर बडी-दाढ़ी-मूँछो वाला एक जटाधारी आता है।"[³] इस जटाधारी को उसने आश्वासन दिया है कि "बाबा ! यह आपका ही बच्चा है। मैं तो इसकी दाई हूँ, पालती हूँ इसको।"[³] और इस दिन से सचमुच वह मनमोहन की दाई बनी है और माँ बना है काका। मनमोहन के बचपन से ही उसकी हर तरह की सेवा काका करते रहता

है। इसी कारण "उनके स्वभाव में कुछ स्त्री-सुलभ गुण-दोष आ गए हैं।"[४५] काका की उम्र यही २५-३० के आस-पास की है। कटिहार के पास के एक गाँव पाँकी-टिकैली में उनकी शादी हुई थी। परन्तु "काकी का स्वर्गवास हो गया; गौना के पहले ही।"[४६] इस प्रकार काका 'अकेले' हैं। अर्थात् लौकिक दृष्टि से। वैसे तो उनका अपना पुत्र मनमोहन है; भाईसाहब हैं और भाभी भी। काका काम-धंधा कुछ नहीं करते। सब कुछ मनमोहन के पिताजी ही देखते हैं। संयुक्त परिवार के कारण काका का बेकाम रहना खटकता भी नहीं। "वह यहाँ करता ही क्या था? दिनभर इस दरवाजे से उस चौपाल में बेकार बेबात की बातों में समय बरबाद करता था।"[४७] मनमोहन की खबर लेने वह प्रत्येक रविवार को अररिया कोर्ट जाता है। मोना के बगैर उसका जी ही नहीं लगता। मोना स्कूल से नाराज हो गया है, वह वहाँ पढ़ना नहीं चाहता, खूब रो रहा था; यह सुनकर काका खुद रोने लगते हैं। और बड़े भाई के मना करने पर भी "अब भैया बिगड़ें मुझपर या जो करें। मैं तो कल दही मछली लेकर जाऊँगा ही।"[४८]

स्पष्ट है काका के पास माँ का हृदय है। स्त्री-प्रेम उन्हें नहीं मिला। शायद पत्नी-प्रेम का ही उदात्तीकरण होकर 'वात्सल्य' में परिवर्तित हो गया है। व्यक्तिगत जिन्दगी दुःखपूर्ण है, परन्तु वह हमेशा हँसते हुए जीते हैं। पहले इस 'अकेलेपन' और 'दुःख' का परिवर्तन अथवा उदात्तीकरण पहले 'मनमोहन के प्रेम' में हो जाता है; और बाद में बड़े महाराज की संगत के कारण इसी प्रेम का उदात्तीकरण 'राष्ट्र-प्रेम' में हो जाता है। मनमोहन के प्यार के कारण ही वह राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। आरम्भ में तो उन्हें मनमोहन के इस प्रकार के सामाजिक कार्यों के प्रति चिढ़ ही थी। अपनी अज्ञानता के कारण वह प्रभातफेरी को भीख माँगना कहते हैं। और फिर उलटे पूछते हैं "भीख माँगने को प्रभातफेरी कहते हैं?"[४९] उन्हें लगता है कि मनमोहन को "चार दिन में ही शहर की हवा लग जाएगी, यह जानता तो भैया को हरगिज.........."[५०] उन्हें संदेह है कि मनमोहन अब उन्हें मंडलजी मास्टर की तरह अपने काका के बारे में लोगों से कहेगा—"ही इज माय सरवेण्ट। अभी तो साल भी पूरा नहीं हुआ है।"[५१] केनिंग की घटना के बाद तो काका मनमोहन के साथ ही रहने लगते हैं। और मनमोहन एक दिन उनका परिचय बड़े महाराज के साथ करा देता है। यहीं से अशिक्षित काका में क्रान्तिकारी परिवर्तन शुरू हो जाते हैं। इस कस्बे में मनमोहन के पास आकर वह रुके थे; मनमोहन को ऐसे कामों से दूर रखने के उद्देश्य से। परन्तु धीरे-धीरे वे खुद राष्ट्रीय-आन्दोलनों में रुचि लेने लगे। वास्तव में यह बड़े महाराज, प्रियोदा और मनमोहन की जीत है। इससे भी बढ़कर काका के भावुक तथा विशाल हृदय का यह प्रमाण है। बड़े महाराज से पहली बार मिल आने के बाद काका कहते हैं "......साधु संन्यासियों की क्या बात। कोई मंतर पढ़-

कर मन फेर देते हैं।"¹¹ मन फेर जाने के कारण—"टमटक से उतरकर मनमोहन के काका सीधे रासाल बाबू की दुकान मे गये, खादी की धोती खरीदी, खादी का कुर्ता सिलने को दिया।"¹² इतना ही नहीं एक दिन पिकेटिंग करके जेल म भी चले गए। जेल जाते समय "काका ने हाथ की हथकडी दिखलाकर कहा—'अब तो खुश हो।"¹³ स्पष्ट है काका आन्दोलन मे कूद चुके हैं, मनमोहन की प्रसन्नता के लिए। अर्थात् बडे महाराज की बातें उन्हे अच्छी लगती हैं। उन्हे इस बात का विश्वास हो गया है कि वह जो कुछ भी कर रहा है, बुरा नही है। काका के जेल चले जाने से मनमोहन के पिताजी को कोई दुःख नही। उलटे वे तो कहते हैं—'जेल मे तिवारी जी वगैरह की 'सगत' मे आदमी बन जाएगा।"¹⁴ जेल मे जाकर सचमुच वे आदमी बनने की कोशिश कर रहे थे। बैठे-बैठे क्या करेंगे ? चरखा कातते हैं, मन नही चरखा कातते हैं, मन नही लगता है तो किताब पढते हैं। उर्दू शिक्षक भी मँगवा ली है। यहाँ एक होमियोपैथी डॉक्टर भी पिकेटिंग करके आए हैं। उनसे डाक्टरी पढता हूँ। सुबह म आसन भी शुरू कर दिया है।"¹⁵ इस प्रकार एक अशिक्षित व्यक्ति स्वतन्त्रता-आन्दोलन मे धीरे-धीरे कैसे खीचा गया, इसका बडा सहज और मनोवैज्ञानिक चित्रण रेणु ने यहाँ किया है। सन् १९३० से ४७ तक के इस काल में परिवार की इस युवा पीढी के कारण प्रौढ, बडे तथा बूढे भी इस आन्दोलन म इन युवको के प्रेम की मजबूरी के कारण अथवा उनके उत्साह के कारण कूद पडे। काका अशिक्षित होते हुए भी दुनियादारी समझ लेने की कोशिश करते हैं। वे भावुक हैं, और उतने ही सहज। काका के हृदयरूपी कागज पर मात्र मनमोहन का प्यार ही लिखा हुआ था। बडे महाराज हृदयरूपी कागज पर 'राष्ट्रीयता', 'शिक्षा', 'बलिदान' आदि शब्द भी लिख देते हैं। इस सामान्य पात्र के भीतर सुप्तावस्था म स्थित असामान्य गुणो का सकेत रेणु ने इस उपन्यास मे किया है। काका हर नई बात के प्रति सजग हैं। आम भारतीय व्यक्ति की तरह प्रत्येक बात के प्रति सन्देही भी। जैसे ही यह सन्देह समाप्त हो जाता है, वे खुद काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी कारण 'आलस्य' की व्यर्थता का ज्ञान हो जाने के बाद वे लगातार इस प्रकार के राष्ट्रीय कामो मे मग्न हो जाते हैं। आम भारतीय किसानो का प्रतिनिधित्व काका करते हैं। स्त्री-मन की सारी 'ममता' इनमें इकट्ठी हुई है। यह 'ममता' इनमे इकट्ठी हुई है। यह ममता पहले केवल गहरी थी, अब वह अधिक व्यापक बन गई है—यही इस मन की असामान्यता है।

शीर्षक की प्रतीकात्मकता —प्रतीकात्मक शीर्षक देने की प्रवृत्ति 'रेणु' मे सर्वाधिक है। 'मैला आचल', 'परती परिकथा', 'जुलूस' आदि इसके प्रमाण हैं। कहानियो के शीर्षक भी वह इसी प्रकार से देते हैं। 'रसप्रिया', 'लाल पान की बेगम' आदि। सभवत आचलिक कथा-साहित्य की यह विशेषता ही है। 'कितने चौराहे'

शीर्षक भी इसी परम्परा में है। अब प्रश्न है कि 'कितने चौराहे' शीर्षक द्वारा रेणु किस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं। श्री पूर्णदेव ने इस शीर्षक का सम्बन्ध राष्ट्र के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है; जो पूर्णतः असंगत है। पूर्णदेव के अनुसार "उग्र क्रान्तिकारी देशभक्तों के संघर्ष से लेकर सन् १९६५ के पाकिस्तानी आक्रमण तक यह जीवन्त राष्ट्र एक-के-एक कितने ही चौराहों को पार करता गया है।"[५८] वास्तव में इस शीर्षक का सम्बन्ध उपन्यास के प्रमुख पात्र मनमोहन के साथ ही है। उपन्यास में इस शीर्षक के सम्बन्ध में दो-तीन स्थान पर उल्लेख हुआ है। बड़े महाराज मनमोहन से एक स्थान पर कहते हैं—"कभी झोंक में आकर तुम भी पढ़ना-लिखना मत छोड़ बैठना।.........अभी सीधे बढ़े चलो। राह में छाँव में कहीं बैठना नहीं है। कितने चौराहे आएँगे। न दाएँ मुड़ना, न बाएँ—सीधे चलते जाना।"[५९] एक और स्थान पर—"मनमोहन अभी इधर-उधर नहीं देखेगा। सीधा चलता जाएगा। किसी चौराहे पर मुड़ेगा नहीं—न दाहिने, न बाएँ।"[६०] इन संकेतों से स्पष्ट है कि 'कितने चौराहे' शीर्षक का सम्बन्ध एक विशेष ध्येयवादी जीवन-दृष्टि से है। राष्ट्र के साथ इस शीर्षक का कतई सम्बन्ध नहीं है। व्यक्ति के जीवन से ही इसका सम्बन्ध घटित किया जा सकता है। क्योंकि व्यक्ति-जीवन में ही आकर्षण के अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं; जिस कारण उसके रुकने की संभावना होती है। 'कितने चौराहे' पार करके ही व्यक्ति को आगे बढ़ना पड़ता है। व्यक्ति को उसकी ध्येयवादिता से गुमराह करने वाले ये चौराहे अनगिनत हैं। और आधुनिक युग में तो इन चौराहों की संख्या बढ़ती जा रही है। मनमोहन की जिन्दगी में भी ये चौराहे आये हैं। कानून की पढ़ाई अंग्रेजों के कानून की सेवा करना अथवा ऊँची नौकरी करना, यह उसके बाल-मन की मंजिल थी। परन्तु प्रियोदा के सम्पर्क में आने के बाद यह 'मंजिल' नहीं 'चौराहा' साबित हुआ है। इसीलिए मनमोहन इस चौराहे की ओर मुड़ता ही नहीं। बाद में शरबतिया का प्यार' चौराहा बन जाता है। और मनमोहन बड़े ही संयम तथा कठोरता से इसे भी पार करता है। क्रान्तिकारियों की जीवन-कहानियाँ सुनकर पढ़ाई बीच में छोड़कर उधर चले जाने की इच्छा होती है। "मनमोहन सोचता है अपने बारे में......लोग उसका नाम लें, जयजयकार करें, बहादुर कहें, उसकी तसवीर छापे, गीतों में उसके नाम का जिक्र हो।"[६१] 'प्रतिष्ठा' का यह चौराहा उसकी जिन्दगी में आया है। परन्तु फिर "वह तय करता है कि अब वह ऐसे सपने नहीं देखेगा।"[६२] 'नीलू का प्यार' भी एक चौराहा बन गया था। मनमोहन इस नीलू के कारण ही तो शहीद नहीं हो सका है। इसी कारण पश्चात्ताप की अग्नि में वह झुलसता रहा। और फिर 'अकेलेपन' की यात्रा शुरू हो जाती है। इस प्रकार के कई चौराहों को पार करने वाला ध्येयवादी आदमी जिन्दगी में ,अकेला' ही रह जाता है। मनमोहन इसी कारण अन्त में 'अकेला' ही है।

अपनी मंजिल बनाकर उसकी ओर बढने वाले दो प्रकार के लोग होते हैं। एक वे जिनके मार्ग पर कोई 'चौराहा' आता ही नही। मोह, उलझन अथवा द्वन्द्वात्मक स्थिति से वे गुजरते ही नही। सीधे चलने लगते हैं। और मार्ग मे कोई बाधा उपस्थित नही होती। बडे सुदैवी होते हैं ऐसे लोग! परन्तु दूसरे प्रकार के वे लोग होते हैं जो मंजिल की ओर बढने लगते हैं तो अनेक प्रकार के 'चौराहे' आने लगते हैं। वासना, सम्पत्ति, संतति, प्रतिष्ठा, मोह, स्वार्थ आदि अनेक प्रकार के इन चौराहो को वे दृढता, निष्ठा तथा संयम के साथ पार करते हुए मंजिल पर पहुँच जाते हैं। ऐसे ही लोग महान् कहलाने योग्य होते हैं। मनमोहन इसीप्रकार का व्यक्ति है। पहले के लोगो का रास्ता सीधा, सरल होता है। उन्हे कोई परीक्षा नही देनी पडती। दूसरे प्रकार के लोगो का मार्ग काटो से भरा हुआ होता है। उन्हे कई परीक्षाएँ देनी पडती हैं। अनिर्णय की स्थितियाँ उभरती हैं। यही पर एक बहुत बडा खतरा होता है कि वे किसी 'आकर्षक चौराहे' को ही 'मंजिल' समझकर स्वीकार कर लें। वास्तव मे ये चौराहे परीक्षा के केन्द्र होते हैं। मनमोहन इन सारी परीक्षाओं मे सर्वाधिक सफल हो गया है। इस प्रकार इस शीर्षक का सम्बन्ध सीधे मनमोहन की जिन्दगी के साथ जुडा हुआ है।

इस शीर्षक द्वारा लेखक ने सन् १९३०–४६ तक के लोगो की जीवन-दृष्टि की ओर सकेत किया है। विविध प्रकार के मोह तथा आकर्षणो को त्याग कर इस देश की जनता स्वतन्त्रता-आन्दोलन मे कूद पडी थी। ११ वर्ष के मनमोहन से लेकर ३०–३५ वर्ष के काका, हफीज मियाँ, बडे महाराज की जीवन दृष्टि इसी प्रकार की थी। वे लोग इन अनेक चौराहो को पार करते हुए आगे बढे, इसीलिए स्वतन्त्रता का उपभोग हमारी पीढी कर पा रही है।

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करें तो कहना होगा कि शीर्षक देने की कई परम्पराएँ रही हैं। उपन्यास मे वर्णित (अ) प्रमुख घटना (आ) प्रमुख पात्र (इ) प्रमुख स्थान अथवा (ई) प्रमुख जीवन-दृष्टि को केन्द्र मे रखकर शीर्षक दिये जाते हैं। आधुनिक काल मे 'प्रतीकात्मक शीर्षक' देने की पद्धति शुरू हुई है। प्रतीकात्मक शीर्षक एक ही समय अनेक अर्थ देने लगते हैं। 'कितने चौराहे' यह शीर्षक इस अर्थ मे प्रतीकात्मक है कि वह विशिष्ट जीवन-दृष्टि को स्पष्ट करता है। प्रमुख पात्र की मन स्थिति को व्यक्त करता है तथा घटनाओ की ओर भी सकेत करता है।

इस शीर्षक के द्वारा लेखक नई पीढी के सम्मुख आदर्श भी रख रहा है। जीवन के इस काल-प्रवाह मे आने वाले खतरो की ओर भी सूचित कर रहा है। सम्भवत. वह अप्रत्यक्ष रूप मे सुझा रहा है कि एक 'मनमोहन' इन चौराहो को पार करता हुआ आगे निकल चुका है। हमारी स्थिति क्या है? ऐसा तो नही हो रहा है कि हम जिसे मंजिल समझकर आगे बढ रहे हैं, वह वास्तव मे 'चौराहा' तो नहीं

क्या इन चौराहों को पार करने की चारित्रिक दृढ़ता, संयम तथा नियंत्रित मन हमारे पास है ? आखिर मंजिल और चौराहों में अन्तर कैसे कर पाएँगे ? संभवतः मंजिल वही श्रेष्ठ है जिससे 'दस' और 'देश' को लाभ होता हो। हमारी मंजिल 'दस और देश' से सम्बन्वित है अथवा केवल 'मैं' से ! वास्तव में यह शीर्षक युवा पीढ़ी को आत्म-निरीक्षण के लिए मजबूर कर देता है। इसीकारण यह शीर्षक अत्यन्त ही सार्थक और आकर्षक बन गया है। छात्रों पर योग्य और आदर्श संस्कार डालने की शक्ति इस उपन्यास और शीर्षक में है। इसीकारण इसे एक "संस्कारप्रधान उपन्यास" कह सकते हैं।

आंचलिकताः—'कितने चौराहे' की आंचलिकता को लेकर अनेक प्रश्न उठाये जा सकते है और उठाए गए भी हैं। श्री पूर्णदेव एम० ए० इसे "रेणु का पाँचवाँ और अब तक प्रकाशित आखिरी आंचलिक उपन्यास"[११] मानते हैं। दूसरी ओर डा० विवेकीराय अपने प्रबन्ध "स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य और ग्राम-जीवन" में रेणु के आंचलिक कथा-साहित्य के अन्तर्गत 'मैला आंचल', 'परती परिकथा' और 'जुलूस' इन तीन उपन्यासों तथा 'ठुमरी' और 'आदिम रात्रि की महक' इन कहानी-सग्रहों का उल्लेख करते है। आंचलिक उपन्यासों के अन्तर्गत वे 'कितने चौराहे' का कहीं पर उल्लेख नहीं करते।[१२] स्पष्ट है विवेकीराय इसे आंचलिक नहीं मानते। डा० ज्ञानचन्द्र गुप्त के अनुसार "आंचलिकता की दृष्टि से रेणु को अत्यधिक सफलता मिली "मैला आंचल' में। परन्तु बाद में "रेणु जी स्वयं अपने बाद के तीन उपन्यासों—'जुलूस', 'दीर्घतपा' और 'कितने चौराहे' में चुकते से दृष्टिगत होते हैं अन्यथा चमत्कारिकता के चक्कर में न पड़ते।"[१३] इन तीन उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'कितने चौराहे' की आंचलिकता पर एक निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता। दुर्भाग्य से हमारे यहाँ ऐसा समझा जाता है कि श्रेष्ठ आंचलिक कथाकार की प्रत्येक कृति आंचलिक ही होती है। इसी कारण रेणु की प्रत्येक कृति को आंचलिक घोषित किया गया है। अथवा एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह हो सकता है कि आंचलिकता के मानदण्ड अभी स्पष्ट नहीं हुए हैं। अन्य विधाओं की अपेक्षा यह काफी नई होने से अभी हम निश्चित रूप से कुछ निर्णय नहीं ले पा रहे है। इसी कारण यह समीक्षा की एक मर्यादा हो सकती है। सर्वसाधारणतः 'भाषा' तथा 'परिवेश' इन दो मानदंडों के आधार पर ही कृति की आंचलिकता सिद्ध की जा रही है। भाषा तथा परिवेश का तो आंचलिक साहित्य में अनन्य साधारण महत्त्व होता है। यहाँ तो 'परिवेश' ही नायक है। परिवेश की विशिष्टता के कारण ही पात्रों की प्रतिक्रिया विशिष्ट पद्धति से होती रहती है। हर कार्य, घटना तथा चारित्रिक दोष के लिए 'परिवेश' ही कारण होता है। इस परिवेश का बड़ा ही सूक्ष्म, विस्तृत तथा तटस्थ चित्रण आंचलिक कथा-साहित्य में आवश्यक होता है। भाषा और परिवेश के साथ-साथ वहाँ की

ंस्कृति का चित्रण भी जरूरी होता है। डा० विवेकीराय ने अपने प्रबन्ध में आंचलिक साहित्य के मानदण्डों को निश्चित करने का प्रामाणिक प्रयत्न किया है। उनके अनुसार आंचलिक साहित्य में ग्राम-जीवन की आर्थिक समस्याओं (जमींदारी, योजना विकास, सहकारिता, गरीबी, भूमिहीन और भूदान, मध्यमवर्ग, नारी-चित्रण, नगरोन्मुखता, निम्न मध्यवर्ग, आर्थिक विघटन, आर्थिक संक्रमण), सांस्कृतिक स्थितियों (धर्म, धर्म की दीवारें, विवाह, विवाह-विकृतियाँ, क्रीडा, त्योहार, मेला, लोकाचार, अन्धविश्वास लोकगीत, लोककथा, रामलीला, सरकारी समारोह, शिक्षा, अध्यापक, अछूत, ग्राम सौन्दर्य, ग्राम-रचना), नये सामाजिक मूल्यों (मूल्य संक्रमण, नई नैतिकता, अस्पताल, परिवार नियोजन, सम्बन्धों में तनाव, पारिवारिक, सामाजिक तथा व्यक्ति विघटन, भ्रष्टाचार) तथा नये गाँव की समस्याओं (ग्राम पंचायत, पंचायतों के दोष, सभापति, सरपंच, चुनाव-संघर्ष)" का चित्र जरूरी है। श्री पूर्णदेव के अनुसार "इन उपन्यासों की दृष्टि अंचलकेंद्रित होती है।" "कथा के गठन का आधार कथानक, पात्र अथवा उद्देश्य-विशेष न होकर एक विशिष्ट भूभाग होता है, अतः कथानक अंचल-केन्द्रित होता है।" जैनेन्द्र जी के अनुसार "आंचलिक प्रवृत्ति वह दृष्टि है जिसके केन्द्र में कोई पात्र या चरित्र उतना नहीं, जितना वह भूभाग स्वयं है।" "नायक-शून्यता आंचलिक उपन्यासों की एक प्रमुख विशेषता कही जा सकती है।" 'विभिन्न पात्रों की अलग-अलग विशेषताएँ मिलकर अंचल के सामूहिक चरित्र को प्रकट करती है।" 'लेखक उस अंचल विशेष की भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक विभूतियों का यथातथ्य चित्रण करके उसके बहिरंग का मानचित्र प्रस्तुत करता है तथा दूसरी ओर वहाँ के निवासियों के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विचारों और परम्पराओं का अंकन करके उस अंचल की आन्तरिक चेतना को निरूपित करता है।" डा० धनंजय वर्मा के अनुसार "उपन्यासों में लोकरंगों को उभारकर किसी अंचल विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास कहा जायगा।" डा० हरदयाल के अनुसार "आंचलिक उपन्यास वह है जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के वैविध्यपूर्ण जीवन का चित्रण हो। जिसमें वहाँ की भाषा, लोकोक्तियाँ, लोककथाएँ लोकगीत, मुहावरे और लहजा, वेशभूषा, धार्मिक-जीवन, समाज, संस्कृति तथा आर्थिक और राजनीतिक जागरण के प्रश्न एक साथ उभरकर आएँ।" इनकी संरचना को लेकर कहा गया है कि आंचलिक उपन्यासों की रचना के प्रमुख विधायक तत्त्व हैं—"नवीन कथा-विन्यास, जटिल यथार्थवादी विशिष्ट परिवेश, पात्रों की परिवर्तित मन स्थितियाँ, आंचलिक सन्दर्भों एवं स्वरों से रचित भाषा तथा बिम्बों, प्रतीकों और रंगों की अद्भुत योजना।" इन विभिन्न उद्धरणों में आंचलिक उपन्यासों के मानदण्ड निश्चित करने का प्रयत्न हुआ है। इन विभिन्न मतों के आधार

पर आंचलिक उपन्यासों के मानदण्ड स्थिर किये जा सकते हैं—जो इस प्रकार होंगे—

(१) ग्रामजीवन की आर्थिक समस्याओं, सांस्कृतिक स्थितियों, नये सामाजिक मूल्यों तथा गाँव की नई समस्याओं का चित्रण उसमें हो।

(२) दृष्टि अंचल-केन्द्रित हो।

(३) नायकशून्यता हो-अंचल का सामूहिक चरित्र ही व्यक्त हो।

(४) अंचल की आन्तरिक चेतना व्यक्त हो।

(५) अंचल-विशेष की भाषा, लोककथा, लोकगीत, मुहावरे, वेशभूषा, धर्म-जीवन आदि की अभिव्यक्ति हो।

(६) नवीन कथा-विन्यास, जटिल यथार्थवादी विशिष्ट परिवेश, पात्रों की परिवर्तित मनःस्थितियाँ, आंचलिक सन्दर्भ, आंचलिक बिम्ब, प्रतीक और रंगों की योजना।

उपर्युक्त छह मानदण्डों के आधार पर 'कितने चौराहे' उपन्यास की समीक्षा अगर हम करना चाहें तो काफी निराश होना पड़ता है। क्योंकि 'कितने चौराहे' पूर्णतः आंचलिक उपन्यास है ही नहीं। किसी एक विशेष अंचल के कारण यह कथा घटित हुई है—ऐसा भी दावा नहीं कर सकते। भारत के किसी भी प्रदेश के किसी भी कोने के स्कूल के बच्चों में ऐसा घटित होना संभव है। चरित्रों के परिवर्तन तथा घटनाओं के लिए 'अंचल' नहीं 'वह विशेष काल' कारणीभूत है। इसीकारण 'कितने चौराहे' काल-विशेष की नींव पर खड़ा है; अंचल-विशेष की नहीं। केवल रेणु ने यह उपन्यास लिखा है इसलिए आंचलिक कहना वास्तव में उस काल-विशेष की शक्ति के प्रति अन्याय करना है। अररिया कोर्ट के स्थान पर भारत का कोई भी कस्बा हो सकता है। हाँ, हम अलबत्ता यह कह सकते हैं कि 'कितने चौराहे' में 'कस्बाई जीवन' की यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है। पृष्ठभूमि के रूप में यहाँ कस्बा है। कस्बाई जीवन के गुण-दोषों की चर्चा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से इसमें काफी हुई है। वास्तव में आधुनिक भारत की संस्कृति 'कस्बों' में ही विकसित हो रही है। कस्बे-जो न शहर हैं और न देहात। आंचलिकता के गुण इसमें हैं तथा शहरी जीवन के दोष भी।

पूरन विश्वास, उसकी मशयी वृत्ति, बड़े महाराज को लेकर विभिन्न प्रकार की चर्चाएँ, पूरन विश्वास का भ्रष्टाचार के मामले में पकड़ा जाना, मोहरिल मामा का घर, मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण, दीपू-तपू और नीलू का व्यक्तित्व, वकीलों के घर, उनका व्यवहार, ट्रेजरी ऑफिस, कोर्ट, तहसील, पिकेटिंग, जेल—आदि विभिन्न व्यक्तियों, स्थानों, घटनाओं से स्पष्ट है कि इस उपन्यास का सम्बन्ध कस्बे से ही अधिक है। कस्बाई जीवन की सारी विशेषताओं की अभिव्यक्ति इसमें हुई है। उसका

अर्थ यह नहीं है कि इसमें आंचलिक तत्त्व हैं ही नहीं । इसमें शहर और अंचल के संस्कारों का समन्वय हुआ है । इसीकारण इस उपन्यास में आंचलिक तत्त्वों को हम रेखांकित कर सकते हैं । डा० विवेकीराय ने जिस तरह अपने प्रबन्ध के परिशिष्ट २ में हाल ही प्रकाशित चार उपन्यासों (अलग-अलग वैतरणी, जल टूटता हुआ, राग दरबारी और रीछ) के सम्बन्ध में जो शीर्षक "अनांचलिक उपन्यास, जिसमें समकालीन लोक जीवन रेखांकित हुआ है' दिया है, वही 'कितने चौराहे' के सम्बन्ध में भी पूर्णतः सार्थक लगता है। क्योंकि इसमें भी लोक-जीवन के अंधविश्वासों (मनमोहन की माँ का स्वप्न), लोकगीतों (गांधी से सम्बन्धित गीत), कृषि-संस्कृति, कृषि सौंदर्य और विवाह विकृतियों (शरबतिया के नये विवाह को लेकर), शिक्षा (मनमोहन की आरम्भिक शिक्षा), परम्परागत धारणाओं (जिस लड़की का कपाल चौड़ा हो वह जवानी में ही बेवा हो जाती है।"), ग्रामीण जनता पर होने वाले अत्याचारों (महँगाई, अकाल, अनावृष्टि के मारे किसानों पर जमींदारों का जोर-जुल्म, अत्याचार होता है।)" का यथार्थ चित्रण हुआ है। इसकी शैली में आंचलिक शब्दों का जहाँ तहाँ प्रयोग भी हुआ है। परन्तु इसमें आंचलिकता के अन्य लक्षण नायक-शून्यता, अंचल-केन्द्रित दृष्टि, अंचल का सामूहिक चरित्र, जटिल यथार्थवादी विशिष्ट परिवेश, आंचलिक बिम्ब प्रतीक, अंचल की आन्तरिक चेतना—आदि का सम्पूर्ण अभाव है । लेखक ने 'अररिया कोर्ट' को कस्बा कहा है । कस्बे की सारी विशेषताएँ अररिया कोर्ट में मिलती हैं। पूरी कथावस्तु 'अररिया कोर्ट' के परिवेश में ही घटित होती है। फिर यह, कहना कि यह 'आंचलिक उपन्यास' है, 'अररिया कोर्ट' के अस्तित्व को ही नकारना है।

टिप्पणियाँ

१ रेणु का आंचलिक कथा साहित्य • श्री पूर्णदेव, पृष्ठ सं० ५९
२ कितने चौराहे फणीश्वरनाथ रेणु : पृ० ८३
३ कितने चौराहे, पृ० ९९
४, ५. वही, पृ० १४१
६, ७ वही, पृ० १४३
८, ९, १०, ११. वही, पृ० ७
१२, वही, पृ० ११
१३. वही, पृ० १६
१४, १६ वही, पृ० २१
१५ वही, पृ० २०
१७ वही, पृ० ४४

१८. कितने चौराहे, पृ० ५८
१९. वही, पृ० ६२
२०. वही, पृ० ६३
२१, २२, वही, पृ० ६७
२३. वही, पृ० ६८
२४. वही, पृ० ७६
२५. वही, पृ० ७९
२६. वही, पृ० ८९
२७. वही, पृ० ९६
२८. वही, पृ० ९९
२९. वही, पृ० ११२
३०. वही, पृ० ११६
३१. वही, पृ० ११७
३२, ३३. वही, पृ० १४०
३४, ३५. वही, पृ० १४३
३६. वही, पृ० ४०
३७. वही, पृ० १०६
३८. वही, पृ० ८८
३९ वही, पृ० ३४
४०. वही, पृ० १२९
४१. वही, पृ० १३८
४२. वही, पृ० ४७
४३. वही, पृ० ४६
४४, ४५. वही, पृ० ४७
४६. वही, पृ० २७
४७. वही, पृ० ८९
४८. वही, पृ० ४७
४९. वही, पृ० ४९
५०. वही, पृ० ५१
५२. वही, पृ० ५७
५३. वही, पृ० ७१
५४. वही, पृ० ७६
५५. वही, पृ० ८०

५६, ५७ कितने चौराहे, पृ० ८०
५९ वही, पृ० ९९
६० वही, पृ० १०७
६१, ६२ वही, पृ० ११०
७६ वही, पृ० ४६
७७ वही, पृ० १३७
३५, ५८, ६३ रेणु का आचलिक कथा साहित्य श्री पूर्णदेव एम ए, पृ० ५९
६४ स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य मे ग्राम-जीवन डा विवेकीराय, पृ० १४१-१४५
६५ आचलिक उपन्यास सवेदना और शिल्प डा ज्ञानचन्द्र गुप्त, पृ० २०
६६ स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य मे ग्राम जीवन : डा विवेकीराय, पृ १०-१४
६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२ रेणु का आचलिक कथा साहित्य श्री पूर्णदेव पृ १२-१३
७३ आलोचना (त्रैमासिक) अक्तूबर, १९६७, डा धनजय वर्मा
७४ आधुनिक हिन्दी साहित्य डा हरदयाल, पृ ८०
७५ आचलिक उपन्यास सवेदना और शिल्प ज्ञानचन्द्र गुप्त पृ १७

राग दरबारी : भारतीय जीवन का जीवन्त दस्तावेज

ओम्प्रकाश होलीकर

आज के भारतीय जीवन के इस पक्ष की (पतनोन्मुखता, गिरावट, विकृति, मूल्यहीनता) बहुत सी विभिन्न स्थितियों के बड़े प्रभावी चित्र 'राग दरबारी' में हैं, जो हमारे चिर-परिचित अनुभव को फिर से ताजा करते हैं।

—नेमिचन्द्र जैन

'रागदरबारी' ग्रामीण यथार्थ की क्रूरता को बहुत निर्मम भाव से उजागर कर सका है।

—रामदरश मिश्र

आजाद हिन्दुस्तान की राजनीति से इस दौर में चले विकास कार्यों से, सरकार और उसकी नौकरशाही से तथा दूसरे औजारों की गतिविधियों से इस दरमियान जिस तरह की औलादें पैदा हुई हैं, उनका व्यक्तित्व शास्त्र, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र क्या है—यही रागदरबारी की वस्तु है।

—कमलेश

'समाज का प्रतिनिधित्व'—की दृष्टि से रागदरबारी को महाकाव्यात्मक उपन्यास कहने में कोई संकोच नहीं होता।

—शान्तिस्वरूप गुप्त

प्रामाणिक अनुभूतियों को लेकर जिस प्रकार इस उपन्यास का आरम्भ हुआ है, यदि व्यंग्य एवं हल्के-फुल्के सतही विवरणों के मोह में न पड़कर उसे गहरी अन्तरदृष्टि से, सूक्ष्मता से ग्रहण करने की कोशिश की होती तो निश्चय ही यह उपन्यास विगत बीस वर्षों की एक विशिष्ट उपलब्धि बन सकता था।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

११
राग दरबारी

स्वातंत्र्योत्तरकालीन भारतीय समाज का चित्र इस काल के उपन्यासों का प्रमुख विषय है। इन उपन्यासकारों ने स्वातंत्र्योत्तरकालीन भारतीय समाज की उथल-पुथल, आरोह-अवरोह, गति-स्थिति, पुरातन-अधुनातन का संघर्ष तथा टूटन, घुटन, क्षोभ, निराशा, हताशा, कुंठा, मूल्यहीनता, अनैतिकता आदि आधुनिक समाज की मानसिकता को अपना उपजीव्य बनाया। कविता और कहानी में आधुनिकता के ये बिम्ब स्पष्ट और बहुलता से उभरे हैं, किन्तु उपन्यास और वह भी विशालकाय उपन्यास में बहुत कम मात्रा में चित्रित हुए हैं। संभवतः इसका कारण उपन्यास के लिए आवश्यक विराट् और व्यापक अनुभव का होना नितांत जरूरी है, जो कि कुछ ही रचनाकारों के पास होता है। व्यापक कथा-फलक और विराट अनुभव वाले उपन्यासों में 'राग दरबारी' अपना विशिष्ट स्थान बनाए हुए है।

राग दरबारी : औपन्यासिक कटघरे के दायरे में—इस उपन्यास का रचना-काल सन् १९६८ ई० है। इस उपन्यास का मूल विषय स्वतंत्रता-परवर्ती भारतीय समाज की मूल्यहीनता को चित्रित करना है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक आदि सभी दृष्टियों से भारतीय समाज पतन के कगार पर खड़ा हुआ है। इस गिरावट या पतनोन्मुखता को ही श्रीलाल शुक्ल ने अपनी कथा के केन्द्रीय स्थल के रूप में स्वीकारा है।

कथानक—उपन्यास की कथा का मुख्य केन्द्र 'शिवपालगंज' है। 'शिवपालगंज' उत्तर प्रदेश का एक काल्पनिक गाँव है। इस गाँव की दैनंदिन जीवन की घटनाओं का ब्योरा प्रस्तुत किया गया है। यह गाँव वास्तविक रूप से अपना कोई अस्तित्त्व नहीं रखता। वह प्रतीक है—स्वातंत्र्योत्तर भारत के किसी भी विकृत तथा पतनोन्मुख गाँव का और साथ ही सम्पूर्ण भारत का भी। क्योंकि स्वयं 'भारत' ग्रामों में ही बसा हुआ है। इसलिए रचनाकार ने गाँव की कल्पना के माध्यम से सम्पूर्ण भारत की पतनोन्मुखता का मखौल उड़ाया है। शिवपालगंज केवल उत्तर भारत का ही कोई गाँव हो, यह भी जरूरी नहीं है। हाँ, अलबत्ता यह जरूर है कि इस गाँव की

कुछ विशिष्ट अंचलीय छटाएँ वहाँ परिलक्षित होती हैं जो संभव है, पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारत के गाँवों में न मौजूद हों। किन्तु ग्रामीण जीवन की इन आंचलिक छटाओं, रीति रिवाजों की बजाय लेखक का गाँव के समग्र चित्र को प्रस्तुत करना ध्येय रहा है। अत शिवपालगंज' का मूल स्वर—पतनोन्मुखता गिरावट विकृति मूल्यहीनता—जो हमें भारत के किसी भी गाँव में सुनाई पड़ता है। यहाँ तक कि नामपरिवर्तन से वह अपना ही गाँव प्रतीत होने लगता है, जो कि हम चिर-परिचित है जिसकी सभी घटनाएँ जीवन प्रक्रिया आदि से हम सम्बद्ध हैं। एक गाँव को केन्द्र मानकर भी लेखक की तलस्पर्शिनी दृष्टि में उसका कोई भी पक्ष अछूता नहीं रह सका है। अत्यन्त व्यापक धरातल पर उसकी कथा का विकास होता चलता है। समाज के सूक्ष्म से सूक्ष्म पहलू को उसने बहुत खूबी के साथ चित्रित किया है जिसे देखकर अपने ही गाँव का चिर-परिचित समग्र चित्र पाठकों की आँखों के सामने तैर उठता है। "आज के भारतीय जीवन के इस पक्ष की बहुत सी विभिन्न स्थितियों के बड़े प्रभावी चित्र 'राग दरबारी' में हैं जो हमारे चिर-परिचित अनुभव को फिर से ताजा करते हैं।" हाँ यह शिवपालगंज स्वाभाविक ग्रामों से थोड़ा-सा प्रगत और उन्नत दिखाई देता है, किन्तु इस अन्तर में भी अस्वाभाविकता नहीं आ पाती। क्योंकि भौतिक या बाह्य उन्नति की बजाय दोनों के दैनंदिन क्रिया-कलाप, जीवन-पद्धति इत्यादि समान दिखाई देती हैं।

३७४ पृष्ठों के इस विशालकाय उपन्यास के कथाफलक का व्यापक होना जरूरी ही है। अत कथा का मूल विषय शिवपालगंज का चित्रण ही है और इस गाँव में भी 'छंगामल विद्यालय इंटरमीजिएट कॉलिज' को कथा के केन्द्र के रूप में चुना है। इस बड़े उपन्यास की मुख्य कथा को एक ही पंक्ति में इस प्रकार कहा जा सकता है—'शिवपालगंज' के सभी क्षेत्रों की उथल पुथल का चित्रण। वस्तुत इतने सुदीर्घ उपन्यास में मूल्यहीन एक ग्राम का चित्र प्रस्तुत करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, क्योंकि विकृति, घिनौनापन, गिरावट, मूल्यहीनता आदि से ग्रस्त भारतीय समाज के चित्र का साक्षात्कार पाठक शुरू से अन्त तक करता है—बिना ऊबते हुए। यही श्रीलाल शुक्ल का सब से बड़ा कौशल है। व्यंग्य उनका एक ऐसा माध्यम है कि जिससे वे भारतीय सामाजिक मूल्यहीनता की पर्तों को उघाड़ते हुए भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किए हुए रहते हैं। लेखक शिवपालगंज का चित्रण करते हुए उस गाँव की छोटी से छोटी गतिविधि पर पूरी-पूरी नजर रखता है। इसलिए वह गाँव के माध्यम से—सहकारी संस्था चुनाव, पंचायत बैंक पुलिस, शिक्षा संस्थाएँ, अध्यापक प्राचार्य, संचालक मंडल, न्यायालय, वैद्य, सरकारी नौकर, डॉक्टर, दुकानदार, व्यापारी, अफसर, सत्तारूढ़ दल, विरोधी दल, पंचवार्षिक योजनाएँ, भ्रष्टाचार, युवा जगत्, प्रेम, अंतरराष्ट्रीय स्थिति, फिल्म, जुआरी, रिक्शावाले, पहलवान, गुंडे,

कृषि, अखबार, विज्ञापन, विवाह-पद्धति, दहेज प्रथा, बेकारी, धर्म, यूथ फेस्टिवल, नारेबाजी, खेलकूद, भूदान यज्ञ, वनसंरक्षण, वृक्षारोपण, भाषा-समस्या, बुद्धिजीवियों की पलायनवादी वृत्ति इत्यादि न जाने कितने ही ऐसे दैनंदिन जीवन के विषयों का स्पर्श करता हुआ अपनी कथा का विकास करता है—व्यंग्य के सहारे।

विषय की परिधि अत्यन्त विशाल है। अतः केवल अध्ययन की सुविधा के लिए वैद्यजी की कथा को मुख्य कथा और शेष कथाओं को सहायक कथाओं के रूप में माना जा सकता है। यद्यपि ऐसा विभाजन न तो संभव है, न ही लेखक का उद्देश्य रहा है। क्योंकि मुख्य कथा जितनी महत्वपूर्ण, उतनी ही और कहीं-कहीं तो उससे ज्यादा ये सहायक कथाएँ विविध पहलुओं को उजागर करने में समर्थ बन पड़ी हैं। विषय की विविधता से कथानक में रोचकता का समावेश हुआ है, किन्तु साथ ही सुसूत्रता का अभाव दिखाई देता है। कथा बिखरी-बिखरी सी लगती है फिर भी कथानक में कहीं ऊब नहीं आ पायी है। ऊब और एकसूत्रता के अभाव को लेखक ने परिच्छेद-विभाजन के माध्यम से कम करने का प्रयत्न किया है। क्योंकि ये परिच्छेद स्वयं एक पृथक् स्नैप हैं, चित्र हैं जो मूल्यहीनता, विकृति, विसंगति और अनैतिकता का पर्दाफाश करते हैं। पृष्ठों की बड़ी संख्या के कारण उत्पन्न होने वाली नीरसता से इसी परिच्छेद-विभाजन ने बचाया है। साथ ही ये विभिन्न परिच्छेद भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का अंकन करते हैं, जिनसे विषय-वैविध्यता के कारण भी नीरसता नहीं आ पाई है। उपन्यास की कथा की गति में आरोह-प्रत्यारोह भी नहीं है अतः कथानक की गति में त्वरा नहीं है। वह समान गति से अपनी आस-पास की भूमि का स्पर्श करता है। किन्तु कथानक की गति में त्वरा न होते हुए भी पाठक व्यंग्य के माध्यम से उत्पन्न होने वाली रोचकता के कारण कथा में रमा रहता है। शुरू से अन्त तक कहीं-कोई उतार-चढ़ाव नहीं। कथानक समान धरातल पर चलता है। उपन्यास के प्रारम्भ में कोई पृष्ठभूमि नहीं है और न ही अन्त में उपसंहार।

कथानक की सब से बड़ी विशेषता है विषय का मौलिक होना। यद्यपि सामाजिक पतन की अवस्था को लेकर न जाने कितने ही उपन्यास हिन्दी में लिखे गए हैं फिर भी उन सब से अलग दृष्टिकोण को लेकर, व्यंग्य का सहारा लेकर, व्यंग्य से मूल्यहीनता के साक्षात्कार से उत्पन्न मानसिक तनाव को हल्का कर लेखक ने भारतीय समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है, जो पूर्णतः यथार्थ है। "राग दरबारी' ग्रामीण यथार्थ की क्रूरता को बहुत निर्मम भाव से उजागर कर सका है।"[२] विषय की इस मौलिकता के कारण कथानक में नवीनता, रोचकता, कौतूहल, प्रभावोत्पादन और आकर्षकता आ गई है। लेखक की विशेषता विषय को नवीन दृष्टिकोण से व्याख्यायित करने तथा प्रस्तुत करने में है। उनके लेखन का विषय एक सामाजिक जानवर है, मानव प्राणी नहीं। श्रीलाल शुक्ल ने इन्सान के भीतर बैठे हुए हैवान

को चित्रित करने की कोशिश की है जो सम्पूर्ण मानव समाज के लिए घातक हैं, मानव-संस्कृति का रोग हैं। और व्यंग्यकार के लिए तो यह और भी आवश्यक बन जाता है कि वह मानव के बाह्य चित्रण की बजाय उसके भीतरी स्वरूप को उजागर करे। वैद्य, रंगनाथ आदि के माध्यम से लेखक ने आधुनिक सामाजिक जीवन की विकृति, दमुँहापन, मुखौटेपन को अभिव्यक्त किया है। अतः सम्पूर्ण 'राग दरबारी' में 'शिवपालगंज' के गंजहों का चित्रण प्रमुख नहीं अपितु मानसिक, सांस्कृतिक और नैतिक दृष्टि से विकृत और पतित मानव का चित्र प्रस्तुत करना रहा है, जो कि पशु या हैवान को अपने भीतर सहेजे और संजोए हुए है। यही हमारा असली स्वरूप है जिसे हम छिपाए रहते हैं। एकांत में जिससे साक्षात्कार करते हैं, जो हमारे जीवन का नियामक और संचालक है। इन्सानियत की खाल में छिपे हुए हैवानियत को चित्रित करना उनका प्रमुख ध्येय है। और इस पशु का चित्र व्यंग्य के माध्यम से खींचा है जो मर्माहत करने की बजाय गुदगुदाता है और अंततोगत्वा आत्म साक्षात्कार के लिए बाध्य करता है। इसी दृष्टि से ऊपर विषय को पूर्णतया मौलिक कहा गया है। "आजाद हिन्दुस्तान की राजनीति से, इस दौर में चले विकास-कार्यों से, सरकार और उसकी नौकरशाही से तथा दूसरे औजारों की गतिविधियों में इस दरमियान किस तरह की औलादें पैदा हुई हैं, उनका व्यक्तित्वशास्त्र, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र क्या है—यही 'राग दरबारी' की वस्तु है।"[1]

कथानक की दूसरी विशेषता है—घटनात्मक सत्यता की। लेखक सम्पूर्ण उपन्यास में यथार्थ की संभावना का नहीं अपितु यथार्थ का चित्रण करता है। जो है का वह अनावरण करता है। चाहिए की कल्पना नहीं करता। अतः घोर तथा क्रूर यथार्थपरक लेखक का दृष्टिकोण रहा है किन्तु फिर भी कहीं भी वीभत्सता तथा अश्लीलता के दर्शन नहीं होते। गाँव को केन्द्र बनाने के कारण "आज की राजनीति ने भारतीय गाँव की जिन्दगी को कितना तोड़ दिया है, उसमें कैसे-कैसे अजनबी स्वर उभार दिए हैं, लेखक ने बेहद सहज भाव से इस यथार्थ को मूर्त किया है।"[2] लेखक गाँव के जीवन की प्रत्येक घटना का अंकन करता है, फिर वह शौच की क्यों न हो। कई आलोचकों के मतानुसार लेखक ऐसे प्रसंगों से बच सकता था, जिससे कथा में वीभत्सता और अश्लीलता नहीं आ पाती थी। किन्तु ऐसे वर्णन जो कि दो-तीन स्थान पर आए हैं, वे सोद्देश्य हैं—संकेत मात्र से काम नहीं चल सकता था। अतः जान-बूझकर किन्तु अश्लील या घोर यथार्थवादी दृष्टिकोण को न रखकर ग्रामीण जीवन की सपाटता का अत्यन्त सपाट बयानी से वर्णन किया है। 'राग दरबारी' जब गाँव की कथा को केन्द्र मानकर लिखा गया है तो गाँव की सामान्य घटना को भी चित्रित करना लेखक का कर्तव्य हो जाता है। अतः औरतों के प्रातर्विधि से सम्बन्धित वर्णन ग्रामीण जीवन-पद्धति की श्रेष्ठता के उपहास रूप में किया गया है।

एक तरफ हम गाँवों में भारत की आत्मा और संस्कृति को मौजूद बताते हैं, तो दूसरी तरफ आश्चर्य की बात है कि ग्रामीण जीवन सामान्य मानव की नागरी सभ्यता और प्रगति से कोसों दूर है और इस दूरी को पाटने का कोई प्रयत्न नहीं करते हैं। यहाँ वे राममनोहर लोहिया की विचारधारा के समीप आ जाते हैं। उनका मत था कि मनुष्य की स्वच्छता का मूल्यांकन करना हो तो उसके शौचालय को देखकर किया जा सकता है। अतः यदि आधुनिक ग्रामीण जीवन में अभी भी इस ओर किसी राजनेता या समाज-सुधारक का खयाल नहीं जा पाता जो कि नितांत जरूरी है। अतः इस वर्णन को अश्लील कहना समुचित प्रतीत नहीं होता। तभी तो विदेशी यात्री अल्डुअस हक्सले भारत-यात्रा के अपने संस्मरणों से अविस्मरणीय ऐतिहासिक घटनाओं और सुरम्य स्थलों के साथ-साथ 'गार्ड ऑफ आनर' वाले दृश्य का संकेत करना नहीं भूले हैं। लेखक पर अश्लीलता का आरोप लगाना अयुक्तियुक्त है। क्योंकि अगर उसे अश्लील चित्र प्रस्तुत करने होते तो स्त्री-पुरुष सम्बन्धों से भरे उद्दीपक चित्रों की कल्पना कर सकता था किन्तु वह उनसे बचता चला है। फिर भी दो-चार स्थलों पर ऐसे दृश्यों को वह चित्रित करता है तो यथार्थपरक ही, न कि उद्दीपक।

कथानक का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग 'पलायन-संगीत' है, जिसकी समायोजना लेखक ने साभिप्राय की है। शुरू से अन्त तक व्यंग्यात्मक शैली के कारण हास्य मौजूद रहता है किन्तु 'पलायन-संगीत'—जो कि अंतिम परिच्छेद का अन्तिम भाग है—में आकर गांभीर्य, विषाद, हताशा, यथार्थ और आत्म-परीक्षण के स्वर मुखरित हुए हैं। लेखक को ऐसे लोगों से चिढ़ पैदा हो जाती है जो अपने को बुद्धिजीवी कहते हैं। ये स्वयं को 'cream of the society' समझते हैं। जिनमें वैचारिक संघर्ष तो मौजूद रहता है किन्तु अवसर आने पर जीवन की यथार्थता और कटुता को झेलने की बजाय, उन संघर्षों से टकराने की जगह पलायन का मार्ग ढूंढ़ते हैं। वे केवल सामाजिक व्यवस्था तथा अव्यवस्था के प्रति आक्रोश की भाषा करना जानते हैं, उसे कृति में उतारना नहीं। कथनी और करनी का अन्तर इन बुद्धिजीवियों के व्यक्तित्व का प्रमुख गुण है। ये केवल 'अतीत' में ही जीते हैं। और यह 'अतीत बोध' ही उन्हें अकर्मण्य बनाता है। इन बुद्धिजीवियों का काल्पनिक जगत् दल-दल या कीचड़ के समान है, जिससे उबरना अत्यन्त कठिन है। रंगनाथ के माध्यम से आधुनिक तथा-कथित बुद्धिजीवियों के रूप को 'पलायन-संगीत' में उभारा है। यहीं आकर कथा पाठक को कुछ सोचने के लिए, अपने भीतर आंकने के लिए विवश कर देती है।

इतना होते हुए भी कथानक में एकात्मकता और संगठनात्मकता का अभाव दिखाई देता है जिसे शैलीगत कौशल, परिच्छेद-विभाजन ने काफी अंशों तक दूर किया है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक शैली में सुदीर्घ कथा का विकास हुआ है, फिर भी पाठक कहीं भी ऊबता नहीं। अतः निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है

कि कुछ दोषों के बावजूद भी कथाओं को गूथने में लेखक अत्यन्त सफल रहा है।

पात्र—विशालकाय उपन्यास में पात्रों की संख्या अधिक न हो तो ही आश्चर्य का विषय है। विषय-वैविध्य के कारण पात्रों की संख्या का यहाँ बाहुल्य है। प्रमुख रूप से १०-१२ पात्र समस्त कथा में गुथे हुए हैं—वैद्यजी, रंगनाथ, रुप्पन, प्रिन्सिपल, सनीचर, बद्री पहलवान, लंगड, रामाधीन, बेला। किन्तु इन पात्रों में वैद्यजी और रंगनाथ प्रमुख हैं। वैद्यजी सम्पूर्ण घटनाओं के सूत्रधार हैं और रंगनाथ तटस्थ द्रष्टा। इनके अतिरिक्त पात्र स्वयं अपना अस्तित्व रखते हुए भी वे किसी विशिष्ट प्रवृत्ति को चित्रित करने के माध्यम बने हैं।

वैद्य कथा के प्रमुख पात्र हैं। वे ही नायक कहे जा सकते हैं। सारी कथा का ताना-बाना वैद्यजी के चारों ओर ही बुना जाता है। उनके घर पर सारा दरबार जमा होता है। वहीं से सारे गाँव की व्यवस्था की जाती है। वैद्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए हैं अतः आदर और श्रद्धा के वे योग्य ही हैं। दूसरे उनका व्यवसाय भी वैद्य का जो कि मानव शरीर का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है। अतः चाहते हुए या न चाहते हुए भी सभी की श्रद्धा यदि वैद्यजी के प्रति हो, तो इसमें बेचारे वैद्यजी का क्या दोष ? वे ही शिवपालगंज पर राज्य करते हैं किन्तु अपनी इच्छा से नहीं—जनता की इच्छा से। वस्तुतः "असली शिवपालगंज वैद्यजी की बैठक में था।"[१] उनके घर की बैठक में दरबार लगा करता है। उनके न रहते हुए बहुत से 'गंजहे' उस दरबार की देखभाल करते हैं। और वैद्यजी का काम सेवा का काम है अतः सारे गाँव की देखभाल करना उनका काम है। सारे गाँव की प्रगति और विकास के साधनों और उपायों के वे प्रवर्तक और संरक्षक हैं। गाँव की सभी संस्थाओं के वे चेयरमैन हैं। हाँ, जब कभी उनकी इच्छा होती है तो वे किसी दूसरे को—सनीचर—कोई एकाध पद दे देते हैं। किन्तु मुख्य पद 'छंगामल इण्टरमीजिएट कॉलिज' मैनेजर का पद वे कभी नहीं छोड़ते। इसी प्रकार 'को-ऑपरेटिव यूनियन' के बारे में रंगनाथ के द्वारा पूछे जाने पर रुप्पन का यह कहना "मैनेजिंग डाइरेक्टर थे और रहेंगे।"[२] उनकी शक्तिमत्ता को प्रतिपादित करता है। उनका यह मत था कि ये पद त्रिकाला-बाधित हैं। कोई सत्ता आए, किसी का शासन हो, कोई सी भी शासन-प्रणाली व्यवहार में लायी जाए, इनसे वैद्यजी के नेतृत्व और सेवा भाव में कोई अन्तर नहीं आता। स्वातन्त्र्योत्तर काल में आधुनिक जीवन में व्यापी हुई crisis of leadership की वैद्यजी जीती-जागती तस्वीर हैं। सिद्धान्त, आदर्श, पक्ष, मानवीयता आदि सारी बातें व्यर्थ हैं। येन केन प्रकारेण सत्ता को हथियाना आज की नेतागीरी का प्रमुख नारा है। वैद्यजी यदि चुनाव में जीत नहीं पाते तो वे तमंचा पद्धति को स्वीकार करते हैं। वे साध्य पर बल देते हैं, साधन पर नहीं। वे सब की सहायता करते हैं बशर्ते वह सिद्धान्तों या आदर्शों की लड़ाई न हो। लंगड को वे कहते हैं—"जाओ

भाई तुम धर्म की लड़ाई लड़ रहे हो, उसमें मैं क्या सहायता कर सकता हूँ।"[७] इसके साथ 'को-ऑपरेटिव यूनियन' में गबन होने पर उनकी स्पष्टवादिता और सत्यप्रियता दृष्टव्य है—"अब तो हम कह सकते हैं कि हम सच्चे आदमी हैं। गबन हुआ है और हमने छिपाया नहीं है।"[८] और गबन कोई दोष नहीं है व्यक्तित्व का। क्योंकि हर वस्तु की तरफ देखने का उनका अपना दृष्टिकोण है। हर शब्द का उनका एक अपना ही अर्थ है—जो लचीला है, स्वार्थ के लिए उसे खूब तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है। उनका तर्क है कि "गबन वही कर सकता है, जिसकी अपनी मुद्राएँ न हों।"[९] और सहकारी सम्पत्ति किसी विशेष व्यक्ति की न होकर सब की सम्पत्ति है। यदि कोई इस सम्पत्ति का उपयोग करता है तो वह गबन नहीं करता अपितु उसका अनुचित व्यय करता है। और यदि गबन हो भी जाए तो इसमें चौंकने का कोई कारण नहीं क्योंकि 'सहकारी सम्पत्ति के साथ गबन शब्द जुड़ते देखकर उससे घबराना न चाहिए।"[१०] गबन और सहकारिता मानों परस्पर पूरक हैं। यही उसकी नियति है। और साथ ही व्यक्ति को अपने भीतर रहने वाले दोष छिपाने नहीं चाहिए। उनका सिद्धान्त है कि "दोष को छिपाना न चाहिए, नहीं तो जड़ पकड़ लेता है।"[११] अतः वे अपनी बुराइयों को बेलौस और बेरोक सब के सामने कह देते हैं। इसमें उनका क्या दोष जो ऐसे भीतर और बाहर दोनों से समान रहने वाले व्यक्ति को अगर सामान्य जनता इकारने की वृत्ति कहती हो।

इस प्रकार वैद्यजी का संपूर्ण व्यक्तित्व ऐसे ही अन्तर्विरोधों से भरा हुआ है; जो आधुनिक नेता के प्रतीक रूप में चित्रित हैं। आधुनिक नेताओं में मौजूद स्वार्थप्रियता, अवसरवादिता, प्रतिष्ठा, कुर्सी-प्रेम, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, गुटबंदी, भाई-भतीजावाद, झूठे आश्वासन सामाजिक जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ उजागर करने में लेखक समर्थ हुआ है। इन आधुनिक नेताओं की अपनी भाषा, अपनी ही संस्कृति है। प्राचीन परिभाषाएँ नवीन रूप में ढल गई हैं। इसलिए वैद्यजी भी ईशोपनिषद के मन्त्र के आधार पर अपने जीवन को ढालते हैं—"तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" अर्थात् त्याग द्वारा भोग करना चाहिए। अन्तर केवल यही है कि ये नेता पहले उपभोग करते हैं, जिसकी अति के कारण उन्हें वे पद छोड़ने पड़ते हैं। तब वे सब के सामने 'त्याग' का आदर्श रखते हैं और फिर तिकड़मबाजी के द्वारा पुनः उसे प्राप्त कर लेते हैं।

वैद्यजी के व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण अंग है कि वे शिवपालगंज के प्रत्येक व्यक्ति को खूब अच्छी तरह पहचानते हैं। यह नेता या शासक का कर्तव्य भी है। तभी वह उनके दुःखों और कठिनाइयों को दूर कर सकता है। किन्तु इसके साथ-साथ दूसरी बात यह है कि उनके व्यक्तित्व को जनता पूरी तरह नहीं पहचान पाती। ऐसा व्यक्ति ही आधुनिक समाज में चिर नेता रह सकता है। गयादीन का मत है

कि नेता के लिए यह गुण अत्यन्त आवश्यक है—"चाहिए यह कि लीडर तो जनता की नस नस की बात जानता हो, पर जनता लीडर के बारे में कुछ भी न जानती हो।"[११] वैद्यजी ऐसे ही नेता हैं—"ऐसा मैनेजर पूरे मुल्क में न मिलेगा। सीधे के लिए बिल्कुल सीधे हैं और हरामी के लिए खानदानी हरामी।"[११]

वैद्यजी गुटबंदी को अपना धर्म समझते हैं। नेता बनने के लिए गुटबंदी निहायत जरूरी है। इसके बिना वह समाज-कार्य नहीं कर पाता। इस गुटबंदी का केन्द्र है—"छंगामल विद्यालय इण्टरमीजिएट कॉलिज।" इस कॉलिज में प्राध्यापकों को बिना इण्टरव्यू के नौकरी पर रख लिया जाता है। केवल एक ही योग्यता होनी चाहिए—वैद्यजी के साथ या उनकी चमचेगीरी। 'प्रिंसिपल' ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया गया है जिसका काम कॉलिज को व्यवस्थित रूप से चलाने की बजाय कॉलिज के प्रांगण में बीती हुई और होने वाली घटना की सूचना पहले वैद्यजी के दरबार में मिलनी चाहिए। उनके आदेश के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। "गुटबंदी परमात्मानुभूति की चरम दशा का एक नाम है वेदांत हमारी परम्परा है और चूँकि गुटबंदी का अर्थ वेदांत से खींचा जा सकता है। इसलिए गुटबंदी भी हमारी परम्परा है और दोनों हमारी सांस्कृतिक परम्पराएँ हैं।"[११] किन्तु इस गुटबंदी से वे कभी कतराते या घबराते नहीं थे, क्योंकि वैयक्तिक विकास और उन्नति के लिए गुटबंदी अत्यन्त आवश्यक है। कॉलिज में दो पार्टियाँ, पचायत में दो पार्टियाँ, कोऑपरेटिव यूनियन में दो पार्टियाँ इसी प्रकार शिवपालगंज की सार्वजनिक संस्थाओं में वे गुटबंदी बनाए रखते थे। क्योंकि उनके सामने शहरी नेताओं का आदर्श था—"यदि तुम्हारे हाथ में शक्ति है तो उसका उपयोग प्रत्यक्ष रूप से शक्ति को बढ़ाने के लिए न करो। उसके द्वारा कुछ नई और विरोधी शक्तियाँ पैदा करो और उन्हें इतनी मजबूती दे दो कि वे आपस में एक दूसरे से संघर्ष करती रहें। इस प्रकार तुम्हारी शक्ति सुरक्षित और सर्वोपरि रहेगी।"[१५]

इस प्रकार समग्र रूप से देखने पर वैद्यजी का व्यक्तित्व चिर-परिचित किसी भी नेता के व्यक्तित्व जैसा लगता है, जो पूर्णतः यथार्थ है। अतिरेक, कल्पना या अतिशयोक्ति का अवलम्ब नहीं। बाहर से अत्यन्त सभ्य, पवित्र, सहानुभूतिपूर्ण, नापाक, निर्दय तथा छली दिखाई देता है। वे निःशंक, स्वार्थी, अर्थलोलुप, सत्ताकांक्षी हैं। उनके व्यक्तित्व में कोई कमी नहीं है। कमी है तो सिर्फ एक बात की कि इन्सान की पोशाक में हैवान के रूप को छिपाकर आते हैं। अब जितना जमीन के ऊपर हैं उतना ही नीचे घुसे हुए हैं। पेशाब में चिराग जल रहा है।"[१६]

रंगनाथ—दूसरा महत्वपूर्ण पात्र है रंगनाथ जो कि निस्संगता के साथ शिवपालगंज की जिन्दगी को देखता है। रंगनाथ एम० ए० कर चुका है। आगे उसकी रिसर्च करने की इच्छा है। किन्तु एम० ए० तक पढ़ते हुए उसने अपने स्वास्थ्य को

खो दिया है। और अब स्वास्थ्य-सुधार के लिए अपने मामा—वैद्यजी-के घर-शिवपाल-गंज—आता है। रंगनाथ यहाँ बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है। रंगनाथ के व्यक्तित्व की सबसे पहली विशेषता यह दिखाई देती है कि बेचारा एम० ए० तक पढ़कर अपने स्वास्थ्य को खो देता है। आधुनिक शहरी संस्कृति की यह जीती-जागती तस्वीर है। बड़ी मेहनत से मध्यवर्ग के ये नवयुवक किसी तरह पढ़कर अपने अस्तित्व को टिकाने के लिए एम० ए० की डिग्री हासिल कर लेते हैं—किन्तु साथ ही तब तक शरीर-सम्पत्ति को नष्ट हुई पाते हैं और फिर से उनके जीवन में नौकरी यदि मिल भी जाये, तो भी एक प्रकार की विसंगति मौजूद रहती है। दूसरी बात यह है कि एम० ए० करने के बाद भी लतियायी हुई कुतिया जैसी वर्तमान शिक्षा-पद्धति के कारण जीवीकोपार्जन का कोई साधन जुटा नहीं पाता। फलस्वरूप रिसर्च करता है, जिसे वह घास खोदना मानता है। क्योंकि जिस प्रकार घास खोदना एक निरर्थक और निठल्ले का काम है, ठीक उसी प्रकार इस देश में जितने भी बुद्धिजीवी इस कार्य में लगे हुए हैं वे वास्तव में न तो कोई ठोस कार्य कर रहे हैं और निठल्ले होने के कारण अपने को व्यस्त रखने के लिए लोकलाज के कारण रिसर्च का बहाना कर रहे हैं। अतः इस देश में विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली गवेषणाएँ—शुद्ध व मौलिक गवेषणाएँ न होकर आयातित, अनुवादित और चोरी हुई गवेषणाएँ करवाई जा रही हैं, जिनका वास्तविक जीवन में कोई उपयोग नहीं। अन्यथा यह कितनी बड़ी विट-म्बना है कि जिस देश में प्रत्येक बड़ी विडम्बना है कि जिस देश में प्रत्येक वर्ष विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में असंख्य नवयुवक अपने शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत कर रहे हों वह देश आज भी शिक्षा और विज्ञान दोनों ही दृष्टियों से संसार के प्रगत राष्ट्रों से सैकड़ों साल पिछड़ा हुआ है।

रंगनाथ के व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता है, वैचारिक संघर्ष। आजकल ये तथाकथित बुद्धिजीवी वैचारिक संघर्ष में ही जीते हैं। किसी भी विचारधारा या जीवन-पद्धति के स्वयं ही दो प्रतिकूल तटों की कल्पना कर संघर्परत रहना। किन्तु इनका यह संघर्ष मानसिक धरातल पर घटित होता है। इनका जीवन समस्याओं से आक्रांत रहता है। शंका तथा सन्देह की नजरों के कारण इन्हें सभी स्थानों पर विकल्प की बू आने लगती है परिणामतः वे स्वयं अपने विचारों पर दृढ़ नहीं रह पाते। जिस दृढ़ता और निश्चय को लेकर रंगनाथ शुरू में दिखाई देते हैं वह अन्त में दिखाई नहीं देते हैं।

अवसर आने पर परिस्थिति का सामना न कर पाना रंगनाथ के व्यक्तित्व का एक पहलू है जो कि आज के बुद्धिजीवी वर्ग पर पूर्णतया चरितार्थ होता है। यद्यपि रंगनाथ तटस्थ द्रष्टा के रूप में मौजूद है तथापि ग्रामीण व्यक्तियों द्वारा उसकी तार्कि-कता को काट दिए जाने पर चुप रह जाता है। पढ़ा-लिखा होने के कारण मेले के

समय विशिष्ट मूर्ति को देखकर उसे देवता की बजाय सिपाही की मूर्ति बताकर गाँव वालो के सामने उसे सिद्ध नही कर पाता, अपितु स्वय उपहास का पात्र बन जाता है। उसकी तार्किकता का मन्दिर के पुजारी द्वारा कोई युक्तियुक्त उत्तर न दिए जाने पर स्वय को 'ईसाई' कहलवाकर अपनी ही गलती का अनुभव करता है। तब रुप्पन कहता है—*"कसूर तुम्हारा भी नही, तुम्हारी पढाई का है।"*[१७] आधुनिक पढाई ने मनुष्य को इतना निकम्मा बना दिया है कि हम अपने सामने ही सच्चाई पर रहते हुए अपना उपहास करने वाले व्यक्ति के प्रति विद्रोह नही कर पाते। ठीक इसी प्रकार खन्ना को निकाल दिये जाने के बाद प्रिंसिपल उन्हे खन्ना की जगह लेने को कहता है। वहाँ भी प्रिंसिपल के द्वारा डाट खाकर तथा अपमानित होकर "कुल मिलाकर उनसे यही साबित होता है कि तुम गधे हो।"[१८] इस उपाधि को लेकर वापिस लौटता है। आधुनिक बुद्धिजीवी भी इसी प्रकार सर्वत्र अपमानित, उपहासित, तिरस्कृत होकर भी उसके विरोध मे कुछ न कहता हुआ मौन होकर बर्दाश्त करता रहता है।

रगनाथ हमेशा अपने ही काल्पनिक जगत् मे विचरण करता रहता है। यह सही है कि वह शहरी सस्कृति और पढाई लिखाई के सस्कार लेकर गाँव आता है, किन्तु वह गाँव की जिन्दगी मे अपना मेल नही बिठा पाता। शिवपालगज का जीवन—चाहे वह विकृत, मूल्यहीन क्यो न हो—यथार्थ है। इस यथार्थ का साक्षात्कार करने से वह कतराता है। *वर्तमान से दूर भागता है और अतीत मे जीना चाहता है।* जिसको लेखक ने 'पलायन-सगीत' मे स्पष्ट किया है। बुद्धिजीवी की अकर्मण्यता, पुसत्वहीनता और पलायनवादी वृत्ति को उद्घाटित किया है। बडे-बडे शहरो मे रहनेवाले ये अन्धे लोग जो इस देश पर शासन करते हैं, किन्तु देश के यथार्थ चित्र—गाँव—को देखे बिना वातानुकूलित बगलो, रेस्तरो, क्लबो, सभा और सोसायटी मे बैठकर निर्णय लेते हैं। वस्तुत. उनके ये निर्णय वास्तविक परिस्थिति से पलायन ही है। ये बुद्धिजीवी जीवन-सघर्षो को झेलने के बजाय उनसे पलायन करने मे ही माहिर हैं। सफेद पोश के इस समाज मे छाई हुई नपुसकता ही रगनाथ के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। वह केवल आक्रोश की भाषा जानता है, उसे कृति मे उतारना नहीं। *भावात्मक आक्रोश कर* वह अपने कर्त्तव्य से चुक जाता है, ऐसी उसकी मान्यता है।

शासन-यन्त्रणा और शासको के बदल जाने के बाद भी प्रक्रिया मे कोई अतर नही आ पाया। पहले इग्लैंड से आकर अग्रेज यहाँ शासन करते थे जो कि गाँवो को न देखते हुए, उनसे परिचित न होते हुए, उनकी जीवन-पद्धति को निर्धारित करते थे। आज उन अग्रेजो की जगह बडे-बडे शहरो मे रहने वाले ये बुद्धिजीवी जिनका ग्रामीण जीवन से या समस्या के किसी भी यथार्थ पक्ष से सरोकार नही है, वे इस

देश की नियति का निर्माण कर रहे हैं। होना यह चाहिए था कि यह वर्ग वास्तविक जीवन के कार्य-क्षेत्र में उतरे, स्वार्थ को छोड़े किन्तु कागजी घोड़े दौड़ाने में ये सिद्धहस्त हैं। अतः शिक्षा, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में हमारी आँखें या तो अतीत में झाँकती हैं या पश्चिमी चकाचौंध को देखती हैं। "तो हालत यह है कि हैं तो बुद्धिजीवी, पर विलायत का एक चक्कर लगाने के लिए यह साबित करना पड़ जाये कि हम अपने बाप की औलाद नहीं हैं तो साबित कर देंगे। चौराहे पर दस जूते मार लो पर एक बार अमेरिका भेज दो।"[१९] विदेश-गमन की धुन हमारे बुद्धिजीवियों पर ऐसी छाई हुई है कि जीवन की एकमेव और अन्तिम इच्छा वही है। सारे संसार को, परिस्थितियों, वस्तुओं, आदर्श और विचारधाराओं को वे ऐसे प्रगत राष्ट्रों के चश्मे से ही देखते हैं। और अगर कभी चापलूसी, रिश्वतखोरी या अवैध मार्गों से अपनी 'रिसर्च' को पूरा करने के लिए कभी विदेश जाने का अगर मौका मिल भी जाता है तो "उसे विलायत भेज दिया जाता तो वह निश्चय ही बिना हिचक किसी गोरी औरत से शादी कर लेता। बाहर निकलते ही हम लोग प्रायः पहला काम यह करते हैं कि किसी से शादी कर डालते हैं और फिर सोचना शुरू करते हैं कि हम यहाँ क्या करने आये थे।"[२०]

इन बुद्धिजीवियों को एक और बीमारी है और वह है—'क्राइसिस ऑफ कांशस'। ये स्वय अपने व्यक्तित्व, मन्तव्य तथा अस्तित्व के प्रति आवश्यकता से अधिक जागरूक रहते हैं। परिणामतः जहाँ जरूरत नहीं वहाँ भी ये अपने को सम्बद्ध मान लेते हैं जिसके कारण मानसिक तनाव, निराशावाद, आवारगी, शराब आदि में वह अपने को पूरी तरह खो देता है। वस्तुतः ऐसे को बुद्धिजीवी कहना अपने आप में ही एक प्रश्न है। क्योंकि ये बुद्धि की बजाय "आहार, निद्रा, भय, मैथुन के सहारे जीवित रहते हैं।"[२१] जो वस्तुतः पशु के लक्षण हैं। इस प्रकार श्रीलाल शुक्ल ऐसे बुद्धिजीवियों के विषय में ऐसी धारणा बनाते हैं कि इन बुद्धिजीवियों और पशु में कोई अन्तर नहीं है। दोनों की मूल प्रकृति समान है तथापि वह सारे संसार को मूर्ख समझता है। उसकी यह स्थिति है कि "बुद्धिजीवी होने के कारण अपने को बीमार होने के कारण अपने को बुद्धिजीवी साबित करता है। और अन्त में इस बीमारी का अन्त कॉफी-हाउस की बहसों में, शराब की बोतलों में, आवारा औरतों की बाँहों में, सरकारी नौकरी में और कभी-कभी आत्म-हत्या में होता है।"[२२]

'पलायन-संगीत' बुद्धिजीवियों की पलायनवादी वृत्ति का पर्दाफाश करता है। ये बुद्धिजीवी जीवन, संघर्ष, समस्या या परिस्थिति को झेलने के बजाय उनसे भागना सिखाते हैं। इनके मन्तव्य, अभिवक्तव्य तथा सुदीर्घ भाषण सामान्य जन को एक बारगी विस्मय-विभोर कर डालते हैं। किन्तु अन्त में ये सब 'वाक्‌पटु' सिद्ध होते हैं। आश्चर्य तो यह है कि इन बुद्धिजीवियों में राष्ट्रप्रेम, स्वाभिमान आदि की भाव-

नायें दिखाई नहीं देती। छोटे-से-छोटे प्रलोभन पर अपनी बुद्धि को बेचने के लिए तैयार हैं। उनके जीवन का एक ही ध्येय है, वह है भौतिक समृद्धि। इस प्रकार ऊपर से साफ दिखाई देने वाले भीतर से अत्यन्त कलुषित हैं। स्वार्थ, स्वरति, भौतिक समृद्धि इनके जीवन के ध्येय हैं। जो बुद्धिजीवी अपनी बुद्धि को बेचकर भौतिक ऐश्वर्य, सम्पन्नता को प्राप्त नहीं कर पाता वह अपनी निराशा और दुःख को दूर करने के लिए अतीत मे छिप जाता है। वर्तमान को झेलने का, जीने का, उससे जूझने का साहस भला इन मे कहाँ ? जिस किसी भी प्रकार हो—यथार्थ से पलायन इनके जीवन का प्रमुख मुहावरा है—"भागो, भागो, भागो। यथार्थ तुम्हारा पीछा कर रहा है।" रगनाथ का शिवपालगज से शहर को वापिस जाना उसकी इसी पलायनवादिता—जो कि हर बुद्धिजीवी की भी है—का प्रतीक है।

रुप्पन—रुप्पन वैद्यजी की लडका है। सामन्तशाही प्रवृत्ति के कारण सार्वजनिक सम्पत्ति पर पैतृक अधिकार समझता है। उनकी उम्र १८ वर्ष की है जो हमारे यहाँ बालिग के योग्य समझी जाती है। अतः रुप्पन भी अपने को पूर्णतः स्वतन्त्र समझते हैं। यहाँ तक कि पिता का हस्तक्षेप भी उन्हें मंजूर नहीं है। किन्तु वे विद्यार्थी हैं। "स्थानीय कॉलिज की दसवीं कक्षा मे पढते थे। पढने से, और खासतौर से दसवीं कक्षा में पढ़ने से उन्हे बहुत प्रेम था, इसलिए वे पिछले तीन साल से उसमें पढ रहे थे।"[११] ऐसे विद्यार्थियों का स्वतन्त्र भारत में नेता बनने का जन्मसिद्ध अधिकार है। रुप्पन भी छोटी-सी इस उम्र मे स्थानीय नेता थे। "उनका व्यक्तित्व इस आरोप को काट देता था कि इंडिया मे नेता होने के लिए पहले धूप में बाल सफेद करने पडते हैं।"[१२] बौद्धिक परिपक्वता के न होते हुए भी वे स्वयं को नेता समझते थे और उनकी नेतागिरी का केन्द्र भी 'छगामल इण्टरमीडिएट कॉलिज' ही था, जिसके विद्यार्थी पढने की बजाय 'गजहापन' में अत्यन्त माहिर हैं। उन्हें उकसाना, गुटबन्दी करना, हाथापाई की नौबत आना आदि रुप्पन बाबू के लिए अत्यन्त सामान्य बातें थीं। यद्यपि शारीरिक सौष्ठव उनके पास नाम मात्र को भी नहीं था, किन्तु नेतागिरी के अधिकार को वे अपना पैतृक हक्क समझते थे क्योंकि उनके बाप भी नेता थे।"[१३] इसलिए राजनीति के क्षेत्र मे वह आचार संहिता, नैतिकता आदि मूल्यों को स्वीकार नहीं करता। वह आधुनिक युवा-शक्ति का प्रतीक है, जो स्वतन्त्र भारत के उत्थान और विकास के बजाय पुरानी पीढी के समान स्वार्थ के दलदल मे फँसी हुई है। प्रिंसिपल के ज्यादा बडबड करने पर—जो कि वैद्यजी का खास आदमी है—उसके विरोधी खन्ना मास्टर को उकसाता है और "कटके नैव कटकम्" न्याय के अनुसार प्रिंसिपल तथा वैद्य दोनों को राजनैतिक क्षेत्र मे हराकर स्वयं आसीन होना चाहता है। वह अपनी चिर-परिचित गजहों की डंडामार शैली मे कहता है—"यह तो पालिटिक्स है। इसमे बडा-बडा कमीनापन चलता है।"[१४]

रूप्पन 'बेला' से प्रेम करता है, क्योंकि वह समझता है कि हर युवा को गांव की किसी भी युवती से प्रेम करने का अधिकार है । 'बेला' के न चाहते हुए भी येन-केन-मार्गेय उसे हथियाना अपना लक्ष्य समझते हैं । वैद्यजी के विरोध करने पर, नाराजगी प्रकट करते हुए "मुझे तुम्हारे आचरण की खबर है" कहने पर वह भी वैद्यजी को खरे-खरे शब्दों में "तो मुझे भी आप के आचरण की खबर है" कहकर अपने पिता की जबान बन्द कर देता है । प्रेम का क्षेत्र निर्बन्ध और स्वतन्त्र है । उसमें जाति-पांति, ऊँच-नीच, अमीरी-गरीबी की दीवारें नहीं हैं । इसलिए बेला के न मिलने पर गांव में रहने वाली निम्न जाति की मजदूरनियों के साथ दुर्व्यवहार करना कोई अनैतिक नहीं मानते । रूप्पन के चरित्र में आधुनिकता का स्पर्श हुआ है । वे एक आधुनिक गरम दिमाग दिमाग वाले नवयुवक विद्यार्थी-नेता के प्रतिरूप कहे जा सकते है जो विधायक कार्यों की बजाय विध्वंसक की तरफ अधिक झुका हुआ प्रतीत होता है । अपने पिता के पद, मान और नाम का दुरुपयोग कर अपनी नेता-गिरी के क्षेत्र को व्यापक बनाता है । "तहसीलदार उसका हमजोली, थानेदार उसका दरबारी और प्रिंसिपल उसके मातहत था ।.........मास्टर लोग "भयानां भयं भीषणं भीषणानां" और पिताओं का पिता मानते थे ।"[१७] समग्र रूप से देखने पर रूप्पन बाबू नवयुवक, प्रेमी, मंद बुद्धिवाला, तिकड़मी, गुटबन्दी और गुंडागर्दी कराने वाले पिता के अधिकार, पद, नाम का सदुपयोग करने वाले तथा योग्य पिता का योग्य पुत्र के रूप में चित्रित हुए हैं ।

प्रिंसिपल—इस उपन्यास का महत्त्वपूर्ण होते हुए भी गौण और गौण होते हुए भी महत्त्वपूर्ण पात्र है । शिवपालगंज में भी 'कॉलेज' सम्पूर्ण कथा का केन्द्र होने के कारण उसका मुख्य अधिकारी, सर्वेसर्वा मुख्य न हो तो ही आश्चर्य है । छंगामल कॉलेज के मैनेजर वैद्य हैं । वैद्य किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति या तो भाई-भतीजा-वाद के आधार पर या 'हां जी' के स्वभाव के आधार पर करते हैं । इस कॉलेज के प्राचार्य की नियुक्ति दूसरी कोटि के मानदण्डों के आधार पर हुई है । अतः शैक्षणिक योग्यता, अच्छी शासन-यन्त्रणा, अनुशासन का महत्त्व आदि इस कॉलेज में हो तो ही आश्चर्य है । वैद्यजी ने इसके अतिरिक्त उनकी नियुक्ति खास गुण के आधार पर की है—"खर्च का फर्जी नक्शा बनाकर कॉलेज के लिए ज्यादा से ज्यादा सरकारी पैसा खींचने के लिए ।"[१८] दुबला-पतला जिस्म वाला यह प्रिंसिपल अपने दूसरे गुण गुस्से की चरम दशा में अवधी बोली का इस्तेमाल के लिए प्रसिद्ध हैं ।

प्रिंसिपल का काम वैद्यजी के दरबार को प्रतिदिन, कई बार तो दिन में चार-चार बार तक मस्तक टेकना जरूरी है । उनके साथ भंग पीते हुए उनकी हां में हां मिलाना, चापलूसी करना, झूठी बड़ाइयां मारना और अन्त में डांट खाकर वापिस आ जाना है । वैद्य जैसे नेताओं ने इन शैक्षणिक संस्थाओं को आढ़त-दुकाने समझा

हुआ है। वे स्वयं दलाल हैं जो निरक्षर होते हुए भी प्राचार्य के माध्यम से सरकारी पैसे को तथा बुद्धिजीवियों के वेतन को हड़प करते हैं। कॉलिज की उन्नति, नकल, शैक्षिणक वातावरण, विद्यार्थी संख्या और उनके परिणाम प्राध्यापकों की स्थिति आदि पर सोचने का प्रिंसिपल को समय ही नहीं है। किन्तु उनके व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण भाग उस समय प्रकट होता है जब वह आर्थिक विवशता को अभिव्यक्त करते हैं। प्रिंसिपल भी विवश और मजबूर हैं। आधुनिक जीवन की आर्थिक विपन्नता के लिए न चाहते हुए भी अनैतिकता को स्वीकार करना पड़ता है स्वाभिमान को तिलांजलि देनी पड़ती है। 'मुझे चार चार बहनों की शादी करनी है। एक कौड़ी पास नहीं है। अगर वैद्यजी कान पकड़कर कॉलिज से निकाल दें तो भीख तक न मिलेगी।' पारिवारिक उत्तरदायित्व सामान्य व्यक्ति के स्वाभिमान की जड़ें हिला देता है और तब उसे न चाहते हुए कुत्तों की जिन्दगी बसर करनी पड़ती है। प्रिंसिपल के इस कथन के माध्यम से श्रीलाल शुक्ल ने आधुनिक संस्था-प्रमुखों की आर्थिक विपन्नता और पारिवारिक बोझ की चक्की में पीसने वाले व्यक्तियों के चरित्र को रेखांकित किया है। क्योंकि पढ़ लिखकर भी किसी-न किसी पद पर नौकरी ही करनी है और नौकरी के लिए स्वाभिमान को छोड़कर चमचेगिरी की वृत्ति को अपनाना जरूरी है। अतः वे रंगनाथ को कहते हैं 'वाइस चांसलर' के बजाय प्रिंसिपल की नौकरी ज्यादा अच्छी है, क्योंकि वहाँ दस लोगों के सामने सिर झुकाना पड़ता है यहाँ केवल अकेले वैद्यजी के सामने ही। इसलिए वे विश्वविद्यालय में प्राध्यापक भी नहीं बनते। वे अपनी चारित्रिक विशेषता को इस प्रकार प्रकट करते हैं—"वैद्यजी की खुशामद करा लो, पर हरेक के आगे सिर झुकाने को तैयार नहीं।"[1]

प्रिंसिपल भी कभी बुद्धिजीवी थे। इसलिए इन बुद्धिजीवियों की चापलूसी वृत्ति, स्वार्थ, रिश्वतखोरी, पलायनवाद और नपुंसकता का खुलकर मजाक उड़ाते हैं। "रिसर्च भी क्या, जिसका खाते हैं उसका गाते हैं।"[2] कहकर वे स्वयं को तथा इन तथाकथित बुद्धिजीवियों को एक समान धरातल पर दिखलाते हैं। बुद्धिजीवियों के खोखले तर्क और स्वार्थ पर करारा प्रहार करते हुये कहते हैं—"विलायत का एक चक्कर लगाने के लिए यदि यह साबित करना पड़ जाये कि हम अपने बाप की औलाद नहीं, तो साबित कर देंगे।"[3] अतः जब अनैतिकता और स्वार्थ से समझौता ही करना हो, उसके मार्ग भिन्न हो सकते हैं—प्रिंसिपल का एक अपना मार्ग है। खन्ना विरोध कर उसकी जगह लेना चाहे या उन्हें निकलवाना चाहे तो वे कभी रुप्पन को कहकर, कभी वैद्यजी को कहकर या अन्य किसी उपाय से उसे इतना विवश करते हैं, जिससे उसे त्यागपत्र देकर जाना पड़ता है।

प्रिंसिपल के भी कभी रंगनाथ के समान कुछ विशिष्ट ध्येय और आदर्श थे। किन्तु प्रिंसिपल भी शिवपालगंज की राजनीति का शिकार है। रंगनाथ को प्रिंसिपल

के मुख से 'पिकासो' का नाम सुनकर गश आ जाता है। वे अच्छे गप्पबाज भी हैं, सहानुभूतिपूर्ण मित्र भी हैं किन्तु इस राजनीति के शिकार होकर आदर्शवादिता की खाल उतारकर व्यावहारिकता की खाल ओढ़ लेते हैं—जिनसे रंगनाथ असहमत हैं। इसी व्यावहारिकता के आधार पर खन्ना के निकाल दिये या चले जाने पर वे उसकी जगह नौकरी करने के लिए रंगनाथ को कहते हैं। क्योंकि सारे मुल्क में शिवपालगंज फैला हुआ है। यहाँ नौकरी न कर किसी दूसरी जगह जाओगे तो "जहाँ जाओगे, तुम्हें किसी खन्ना की ही जगह मिलेगी।" कहकर अपनी व्यावहरिकता, विवशता, परिवेश की मार तथा आधुनिक जीवन की विडम्बना को अभिव्यक्त करते हैं। प्रिंसिपल को रंगनाथ में कोई खास लगाव नहीं किंतु वैद्यजी के मानजे हैं अतः उनकी इच्छानुसार उनके रिस्तेदारों को कॉलिज में नौकरी देकर वे अपनी नौकरी पक्की करते हैं। प्रिंसिपल के माध्यम से शैक्षणिक जगत् में फैली हुई रिश्वतखोरी, निकम्मापन, स्वार्थ, गुटबन्दी, सरकारी पैसे का दुरुपयोग, भ्रष्टाचार और अनाचार का माध्यम ये संस्थाएँ आदि दोषों को उजागर करने में समर्थ हुआ है—व्यंग्य के सहारे।

लंगड़—"माथे पर कबीर पंथी तिलक, गले में तुलसी की कंठी, आँधी-पानी झेला हुआ दढ़ियल चेहरा, दुबली-पतली देह मिर्जई पहने हुए। एक पैर घुटने के पास से कटा था।"[१२] ऐसा लंगड़ जो कि शिवपालगंज से पाँच कोस दूर रहने वाला, कबीर और दादू के भजन गाने वाला है—थोड़ी देर के लिए मूल्य चेतना के वाहक के रूप में दिखाई देता है। तहसील से उसे एक नकल लेनी है। उसके लिए वह रिश्वत देना नहीं चाहता। वह धर्म, सिद्धान्त और सत्त की लड़ाई लड़ता है। ऐसे व्यक्ति को शिवपालगंज में कोई सहायता नहीं देता; जिसमें वह जीवन भर थक कर हार जाता है किन्तु नकल नहीं मिल पाती। फिर भी लंगड़ मूल्य-चेतना का वाहक बन नहीं पाता, क्योंकि उसकी 'सत्त' की लड़ाई रिश्वत की राशि के विवाद को लेकर शुरू हुई है, रिश्वत को नहीं।

इसके अतिरिक्त सनीचर, बद्री पहलवान, गयादीन, रामाधीन, जोगनाथ इत्यादि अनेक पात्र हैं जो आधुनिक सामाजिक जीवन के विविध पक्षों को उजागर करते हैं। 'बेला' जो एकमात्र प्रमुख स्त्री पात्र है। इसके माध्यम से श्रीलाल शुक्ल ने भारतीय समाज के नारी-जगत् की जातीयता, विवाह-प्रथा, प्रेम, दहेज आदि पर्तों को उद्घाटित किया है। 'राग दरबारी' के सभी पात्र उसकी कथा के मूल स्वर के अनुकूल हैं। कथा और पात्रों में परस्पर कहीं कोई विरोध नहीं दिखाई देता। सभी पात्र यथार्थ, स्वाभाविक तथा जीवन्त हैं। हाँ, इनमें संघर्ष दिखाई नहीं देता। क्योंकि पतनोन्मुख शिवपालगंज में मूल्यों की बजाय मूल्यहीनता की स्थिति है। सभी पात्रों का विकास सहज और नैसर्गिक है। उनमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। कोई भी पात्र असाधारण तथा अपवादात्मक रूप में नहीं दिखाई देता। यह सम्भव है

कि 'टार्च बीअरर' के रूप मे कोई पात्र मौजूद न हो—क्योकि श्रीलाल शुक्ल का वह उद्देश्य भी नही है। 'राग दरबारी' का प्रत्येक पात्र एक तरफ वैयक्तिक स्वरूप को लिए हुए है जो कि गौण दिखाई देता है, किन्तु दूसरी तरफ आधुनिक समाज मे मौजूद ऐसी ही विशेषताओ से समन्वित पात्रो का स्मरण कराते हैं जो उसका मुख्य है। निसन्दिग्ध रूप से पात्रो की सृष्टि मे श्रीलाल शुक्ल को सफलता मिली है।

कथोपकथन—दीर्घकाय उपन्यास म सवादो का सुन्दर समायोजन इस उपन्यास मे ऊँघताइट आने से बचाता है। सम्पूर्ण उपन्यास वर्णनात्मक और विवरणात्मक शैली मे लिखा गया है। जिसने पाठक के ऊब जाने का भय पूरा-पूरा बना रहता है। किन्तु लेखक ने उपर्युक्त शैली को अपनाकर भी व्यग का उसे मुलम्मा चढाकर सवादो के सौन्दर्य को उसने बढाया है। राग दरबारी के सम्वाद तिहरे ढग से काम करते हैं—(अ) कथा का विकास, (ब) पात्रो की व्याख्या (स) लेखक के उद्देश्य का स्पष्टीकरण।

समग्र कथा यद्यपि वर्णन प्रधान ही है किन्तु उपन्यास के प्रारम्भ मे ही सडक और ट्रक का व्यग्यात्मक वर्णन करने के बाद ड्राइवर और रगनाथ के सवादो से कथा को गति और एक नवीन अर्थ प्राप्त होता है। इन सवादो को उन्होंने सान पर चढाकर खूब तीक्ष्ण किया हुआ है। इसलिये प्रारम्भ से ही वे पाठको का ध्यान आकृष्ट करते हैं और साथ ही कथा को गति भी देते चलते हैं। दूसरा पात्रो की चारित्रिक विशेषताओं का उद्‌घाटन लेखक सम्वादों के माध्यम से करता है। पात्रो का केवल बहिरग लेखक ने चित्रित किया है किन्तु उनका अन्तरग—जो उपन्यास का मूल स्वर है—पारस्परिक सवादो मे ही अभिव्यक्त हुआ है। प्रिंसिपल का सही रूप हमारे सामने वैद्य जी, खन्ना और रगनाथ के साथ अलग-अलग किए सम्वादो मे स्पष्ट हो पाता है। प्रिंसिपल के व्यक्तित्व की आन्तरिक पीडा, विवशता सम्वादो के माध्यम से ही अभिव्यक्त हुई है, वर्णन और विश्लेषण से नही। इस प्रकार सभी पात्र—रुप्पन, वैद्य, गयादीन, खन्ना, सनीचर, लगड इत्यादि—अपने आन्तरिक चरित्र को सम्वादो मे उद्‌घटित करते हैं। तीसरा—लेखक के उद्देश्य का स्पष्टीकरण है। श्रीलाल शुक्ल स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय समाज की विकृतावस्था का चित्रित करना चाहते हैं। यदि लेखक केवल वर्णनात्मकता से उसका चित्र प्रस्तुत करता तो शायद प्रभावोत्पादक, यथार्थ तथा आकर्षक न बन पाता। किन्तु व्यग्य की सान पर चढे हुए इन सम्वादों ने प्रत्येक क्षेत्र मे मौजूद खोखलेपन, दुमुँहेपन, स्वार्थी तथा अनैतिकता की स्थिति को बडी खूबी से चित्रित किया है। विकृतावस्था के चित्रण के कारण उत्पन्न कटुता, तनाव और तिक्तता पाठक के मन म अरुचि उत्पन्न कर सकती थी। किन्तु इन सम्वादो ने उल्टे उसे रोचक बनाया है। इस दृष्टि से ये

सम्वाद लेखक के उद्देश्य को और स्पष्टता से उजागर करने में समर्थ हुए हैं।

इसके अतिरिक्त 'राग दरबारी' के सम्वादों के कुछ अन्य आकर्षक गुण हैं; जिनमें सर्व प्रथम है उपयुक्तता। यहाँ यह उपयुक्तता चार दृष्टियों से दिखाई देती है—घटना, वातावरण, अवसर और पात्र। घटनाएँ जिस प्रकार और जिस स्तर की हैं सम्वाद भी उसी स्तर के लेखक प्रयुक्त करता चलता है। वातावरण यहाँ परिवेश के लिए प्रयुक्त हुआ है। सम्पूर्ण उपन्यास ही परिवेश का चित्रण करता है और जहाँ कहीं भी लेखक को अपने लक्ष्य को संकेतित करने का अवसर मिला है वहाँ वह चूका नहीं। पात्रानुकूल सम्वाद तो आदि से अन्त तक विद्यमान हैं। संक्षिप्तता इसके कथोपकथन का अपना ही गुण है। समूचे उपन्यास में लघु सम्वादों का ही प्रयोग हुआ है फिर भी वैद्य जी के भाषण बहुत लम्बे हैं किन्तु वे सोद्देश्य हैं, उबाने वाले नहीं हैं। इसी संक्षिप्तता के कारण सरसता और रोचकता का स्वयं समावेश हो गया है। कुछ स्थानों पर वैद्य जी के भाषण उबाने वाले हैं। परन्तु वह आधुनिक नेताओं की भाषणबाजी वृत्ति का पर्दाफाश करने के लिए सोद्देश्य प्रयुक्त हैं। तीसरा गुण है स्वाभाविकता का। समाज का यथातथ्य चित्रण करने वाले लेखक के लिए यह अत्यन्त जरूरी है। स्वाभाविकता के विना विकृति ग्राह्य न होकर त्याज्य बन जाती है—मानसिक स्तर पर। प्रिंसिपल, वैद्य इत्यादि पात्रों के संवाद अत्यन्त स्वाभाविक तथा यथार्थ हैं। वस्तुतः आज का सारा शिवपालगंज वैद्य जी की बैठक में समाया हुआ है। पात्र और कथा ये समानान्तर स्तर पर चलते हैं; शास्त्रीय शब्दावली में इसे ही सम्बद्धता कहा गया है। अनुकूलता इसके सम्वादों का अपना ही वैशिष्ट्य है। यह अनुकूलता भिन्न-भिन्न स्तरों की है—परिस्थिति, मनःस्थिति, अवस्था, उम्र इत्यादि। सभी पात्रों के सम्वाद इन्हीं भिन्न-भिन्न स्तरों की अनुकूलता को लिए हुए है। इस उपन्यास के सम्वादों की सबसे बड़ी विशेषता है चरित्रोद्घाटन की। श्रीलाल शुक्ल ने शिवपालगंज तथा शिवपालगंजीय प्रवृत्तियों का उद्घाटन अपना उद्देश्य समझा है अतः मनुष्य के मन के भीतर छिपे हुए सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पहलुओं को सम्वादों के माध्यम से ही उद्घाटित कर खोखले मनुष्य के कृत्रिम रूप को उजागर किया है। समग्र रूप से कहा जाये तो इसके संवाद चुटीले तथा रसीले हैं वे एक तरफ पाठक को रिझाते चलते हैं तो दूसरी ओर यथार्थ का दर्शन कराते हैं। लेखक निःसंदिग्ध रूप से संवादों की सृष्टि में सफल है।

भाषा शैली :—श्रीलाल शुक्ल भाषा के खिलाड़ी हैं। शब्द तथा शब्द के भीतर रहने वाले विभिन्न अर्थों पर उनका पूरा अधिकार है। प्रमुख रूप से उन्होंने पाँच प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया है। (क) पात्रानुकूल भाषा :—उपन्यास के सभी पात्र सामाजिक हैं अतः समाज में जिस प्रकार भाषा बोली जाती है उसी भाषा का यहाँ प्रयोग हुआ है। सरपंच, प्रिंसिपल, पहलवान तथा गंजहे इनकी भाषा

अत्यन्त स्वाभाविक है। क्योंकि समाज के निचले तबके से सुन्दर भाषा की कल्पना भी व्यर्थ है (ख) ग्राम्य भाषा —यह इस उपन्यास का दोष भी है और गुण भी प्रातर्विधि तथा ग्रामीण स्त्रियों के शौच-समय के सम्वादों में लेखक ने ग्राम्यत्व दोष से युक्त भाषा का प्रयोग किया है किन्तु उसे अश्लील नहीं कहा जा सकता हाँ, उसमें फूहड़पन जरूर है परन्तु वह यथार्थ है। (ग) विभिन्न भाषाओं का प्रयोग — भाषा विचारों की वाहिका है। वह साधन है अभिव्यक्ति का। अत लेखक विभिन्न भाषाओं से शब्दों को ग्रहण करता है बिना किसी सकोच के। अँग्रेजी, उर्दू, सस्कृत आदि सभी प्रकार की भाषाओं से योग्य शब्दों को ग्रहण कर अर्थ-छटाओं की अभिव्यक्ति को वह महत्वपूर्ण समझता है। किन्तु कहीं भी यह भाषा खिचड़ी नहीं लगती अपितु वे स्वाभाविक रूप से आने के कारण ऐसे उपयुक्त हुए हैं कि उनका विदेशीपन समाप्त हुआ सा लगता है। (घ) लोक भाषा —बीच बीच में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है जैसे प्रसिद्ध 'अवधी' का प्रयोग करते हैं। किन्तु लोक भाषा का प्रयोग बहुत कम स्थान पर और कम मात्रा में ही हुआ है। (ङ) कृत्रिम भाषा —बीच-बीच में सरसता, चुटीलापन, श्रम-परिहार और मनोरजन के लिए 'मर्करी' जैसी कृत्रिम भाषा का प्रयोग किया गया है।

वस्तुत यह तो शास्त्रीय परिधि है जिसमें इनकी भाषागत खूबियों को बिठाया गया है। किन्तु श्रीलाल शुक्ल भाषा के कुशल शिल्पी हैं। अत उसमें किसी किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं। भाषा प्रवाहपूर्ण, सरस तथा सरल है। प्रवाह, सरलता और सरसता के लिए मुहावरे, लोकोक्ति तथा सस्कृत के श्लोक जड़ते चलते हैं। अपने व्यग्यात्मक कथन के समर्थन में कहीं श्रेष्ठ कवियों की पक्तियाँ, फिल्मी गीत, कहीं उर्दू के शेर कहीं कहीं कुछ विशिष्ट पक्तियाँ—हेर फेर कर जड़ते चलते हैं जिनसे वे अत्यन्त मार्मिक व्यग्य का स्वरूप धारण कर लेते हैं।

श्रीलाल शुक्ल की भाषा की सशक्त अस्त्र है, व्यग्य। समाज की विद्रूपता, विकृति तथा पतनोन्मुख अवस्था के चित्र प्रस्तुत करने वाले कलाकार को व्यग्य का अवलम्ब अत्यन्त आवश्यक है। श्रीलाल शुक्ल का व्यग्य ऊपर से रिझाने वाला, हँसाने वाला तथा गुदगुदाने वाला है किन्तु भीतरी स्तर पर असह्य हो जाता है मन को कचोटता रहता है, टीसता है, सालता है। इस टीस का निर्माण ही लेखक का मुख्य उद्देश्य है। 'राग दरबारी' पाठकों को आन्तरिक रुदन कराती है।

शैली —राग दरबारी मुख्य रूप से वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है। शुरू से अन्त तक चित्रों और वर्णनों की ही भरमार है। किन्तु लेखक इतना निपुण है कि पाठकों में नीरसता पैदा होने की सम्भावना के साथ ही एकाध हँसी की फुलझड़ी छोड़ देता है। या फिर तनाव को व्यग्य के माध्यम से हल्का करता है, और साथ ही कथानक को गति देता है, इसके अतिरिक्त अन्य शैलियों का प्रयोग

भी लेखक ने किया है—हास्य-व्यंग्य, रिपोर्ताज, विश्लेषणात्मक, आंचलिक तथा संवादात्मक । जहाँ जिस किसी शैली से अपना लक्ष्य उद्‌घटित किया जा सकता है उसे निःसंकोच लेखक ने स्वीकारा है ।

देश काल वातावरण:—आधुनिक उपन्यासों में इस तत्त्व का बहुत कम मात्रा में प्रयोग मिलता है । वस्तुतः ऐतिहासिक उपन्यासों में ही इसका पूर्णता के साथ निर्वाह हुआ है । किन्तु समाज का हूबहू चित्रण करते समय लेखक ने देशकाल और वातावरण का चित्रण अत्यन्त सजगता के साथ किया है । देहाती और शहराती संस्कृति के द्वन्द्व को बखूबी चित्रित किया है । कहीं-कहीं इनका विपरीत चित्रण भी मिलता है—वह सोद्देश्य है । लेखक मानवीय विकृत मूल्यों और गन्दी सतहों को उघारना चाहता है अतः यह लेखक की सफलता ही है । सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने स्थानीय रंगों (Local colours) का प्रयोग अत्यन्त कुशलता के साथ किया है । वातावरण के समानान्तर ही स्थानीय रंगों का प्रयोग हुआ है । उपन्यास का मूल स्वर जिन्दगी की विकृति को दिखाना है । शिवपालगंज उत्तर भारत का विशिष्ट अञ्चल होने के कारण उत्तर भारतीय संस्कृति उसमें मौजूद है किन्तु वह शिवपालगंज पर हावी नहीं हुई है । स्थानीय रंगों के प्रयोग से समूचे उपन्यास में सजीवता आ गई है । उपन्यास में अनेक स्थानों पर आंचलिकता का प्रभाव दिखाई देता है । पात्रों की वेश-भूषा, भाषा-अवधी तथा गंजहों का चित्रण करते समय आंचलिकता का पुट आया है । इस आंचलिकता के स्पर्श ने कथानक में यथार्थता ला दी है । तीसरी विशेषता है प्रकृति चित्रण की । किन्तु यहाँ बहुत कम मात्रा में प्रकृति का चित्रण हुआ है । यहाँ प्रकृति का चित्रण परिवेश और मानसिक स्थिति के उद्‌घाटन के लिए किया गया है, प्रकृति-चित्रण में लेखक का मन नहीं रमा जो स्वाभाविक ही है ।

उद्देश्य :—स्वातंत्र्योत्तर भारत की पतनोन्मुख अवस्था का यथातथ्य चित्रण लेखक का प्रमुख उद्देश्य है । लेखक भी जन-सामान्य के समान ही निराश, हताश और पीड़ित है किन्तु वह जीवन या यथार्थ से भागता नहीं । वह हमें जूझना सिखाता है । जीवन जीना है तो कर्मठ होकर ही । अतः उपन्यासकार केवल गन्दगी विकृति, गिरावट, मूल्यसंकट आदि स्वरों को यदि गुंजाता है तो अश्लीलता, भद्दे और फूहड़ रूप में नहीं बल्कि आशावादी स्वरों के साथ पाठकों के जीवन के प्रति आकृष्ट करता है । वह पाठकों को मृत्यु से परे ढकेलकर जीवन की ओर फेंकता है । इस दृष्टि से लेखक अपने उद्देश्य में सफल है । यह ठीक है कि वह समस्याओं का समाधान नहीं सुझाता, सुधार का उपदेश नहीं देता किन्तु यथातथ्य के दर्शन कराकर वह एक टीस हमारे भीतर जरूर पैदा करता है जो हमें फिर से सोचने के लिए मजबूर करता है । हमें आत्मनिरीक्षण के लिए बाध्य करता है । यही इस

उपन्यास का उद्देश्य है जिसमें लेखक पूर्णतया सफल है ।

राग दरबारी महाकाव्यात्मक उपन्यास ?

'गोदान' के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी साहित्य मे महाकाव्यात्मक उपन्यास की चर्चा विस्तार से शुरू हुई । वस्तुत केवल पृष्ठो के आधिक्य से कोई भी कृति महाकाव्यात्मकता का स्पर्श नही कर पाती । जब तक उपन्यास की कथावस्तु, पात्र तथा भाषा-शैली मे औदात्य, गाम्भीर्य, वैविध्य व्यापकत्व, देशकालातीतत्व आदि गुण नही आते तब तक उसे महाकाव्यात्मक उपन्यास कहना अनुचित ही कहलायगा। यहाँ हम चार तत्वो-कथानक, पात्र, भाषा-शैली तथा उद्देश्य के आधार पर राग-दरबारी की महाकाव्यात्मकता को निकषेंगे ।

कथानक —इस उपन्यास का कथानक अत्यन्त विशाल है । समाज के प्रत्येक अ ग तथा जीवन के प्रत्यक पहलू का सूक्ष्मता के साथ चित्रण किया गया है । यथार्थ का तो चित्रण करता ही है साथ ही जीवन के सभी समावित कोणो से उसकी व्याख्या करता चलता है । इस कथा का मूल केन्द्र शिवपालगज नामक एक काल्पनिक गाँव है, जो समग्र हिन्दुस्तान का प्रतीक है । जहाँ 'सस्कारहीनता', नैतिक विघटन और विकृति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये हैं । रगनाथ बाबू को सारे हिन्दुस्तान मे शिवपालगज छाया हुआ दिखाई देता है । स्वातन्त्र्योत्तरकालीन भारतीय जन-जीवन की मूल्यहीनता और ह्रासोन्मुख-सस्कृति का खुलकर चित्रण किया गया है । कथानक की विशालता के साथ-साथ विषय-वैविध्य भी यहाँ दृष्टिगोचर होता है । सहकारी सस्था, चुनाव पद्धति, पचायत, बैंक, पुलिस-महकमा, शिक्षालय, प्राध्यापक, मैनेजिंग बोर्डो, न्यायालय, वैद्य, डाक्टर, सरकारी नौकर, चपरासी, अफसर, दुकानदार व्यापार, पचवर्षिक योजनाएँ भ्रष्टाचार, सत्तारूढ दल, विरोधी दल, युवा-जगत, प्रेम, अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, फिल्म, जुआरी, रिक्शे वाले, पहलवान, गुडे, कृषि, नारेबाजी, नेता, खेलकूद, भूदान यज्ञ, अखबार, विवाह-पद्धति, बेकारी, धर्म, युथ-फेस्टिवल, वन सरक्षण, वृक्षारोपण, अन्ध विश्वास, भाषा-समस्या, नयी और पुरानी पीढी का सघर्ष इत्यादि न जाने कितने विषयो को लेखक ने अपने कथानक मे स्थान दिया है । हाँ, इतना जरूर है कि मुख्य विषय के साथ-साथ ही अवसर मिलने पर इन विषयो पर अपना मत व्यग्यात्मक पद्धति से देता है जो आधुनिक जीवन की कृत्रिमता को बखूबी रेखांकित करता है ।

कथानक की विशालता, वैविध्य तथा घटना बाहुल्य इसकी सफलता है किन्तु इतने मात्र से उसे महाकाव्यात्मक उपन्यास नही कहा जा सकता क्योंकि इसका कथानक देशकाल की सीमा से अनिबद्ध नही । विशिष्ट काल की तथा विशिष्ट परिस्थितियो से घिरे हुए लोगों का चित्रण यहाँ किया गया है । घटनाएँ भी समय सापेक्ष हैं । शिवपालगज को केन्द्र माना है किन्तु यह कथानक में शाश्व-

तना और सार्वजनीनता के तत्त्व को नहीं उत्पन्न कर पाते । फिर भी सदोष क्यों न हो कथानक की दृष्टि से 'राग दरबारी' महाकाव्यात्मक उपन्यास की परिधि का स्पर्श तो कर लेता है । "स्थितियाँ इतनी वज़ादार हैं कि इन पहलुओं का वस्तुगत प्रस्तुतीकरण ही महान उपन्यास बन जाता है । अतः समाज का प्रतिनिधित्व (chronic Quality) की दृष्टि से राग दरबारी को महाकाव्यात्मक उपन्यास कहने में कोई संकोच नहीं होता ।"[११]

पात्रः—इस उपन्यास में पात्र बहुलता और पात्र-वैविध्य विद्यमान है । किन्तु शाश्वततथा अमर पात्र नहीं हैं, जो कि महाकाव्यात्मक उपन्यास के लिए आवश्यक है । इस उपन्यास में वैद्य जी तथा रंगनाथ ये दो ही प्रतिनिधि पात्र हैं जो कि सशक्त हैं अन्य पात्रों के प्रतिनिधित्व में कोई अर्थवत्ता नहीं है किन्तु उपर्युक्त दोनों प्रातिनिधिक पात्रों के व्यक्तित्व में कोई औदात्य नहीं और न ही कोई Tregic element है । इसके अतिरिक्त समूचे उपन्यास में एक भी ऐसा पात्र नहीं जो जाति का प्रतिनिधित्व करता हो और सबसे बड़े आश्चर्य की बात है कि स्त्री पात्र का तो अभाव है, जो महाकाव्यात्मक उपन्यास की दृष्टि से दोष ही माना जायगा । कोई भी पात्र व्यक्तित्व के भीतरी-संघर्ष, तनाव और घुटन को चित्रित नहीं करता न ही कोई पात्र मूल्यों की प्रतिष्ठापना ही करता है; केवल समाज में विद्यमान पतित या पतनोन्मुख पात्रों को ही चित्रित किया गया है । यह ठीक है, कि ये पात्र यथार्थ और विकृति का हूबहू चित्र प्रस्तुत करते हैं किन्तु व्यक्तित्व के प्रति आस्था उत्पन्न नहीं कर पाते । "पर वे पात्र कहाँ हैं जो दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं; लेकिन अन्धेरे में ही कहीं उनकी संघर्ष यात्रा अनवरत चल रही है और वे दिन-रात अपने-अपने रास्तों को पा लेने या उसे बना लेने के लिए बेचैन हैं ।"[१२] अतः पात्र की दृष्टि से देखा जाये तो 'राग दरबारी' का कोई भी पात्र महाकाव्यात्मक उपन्यास के स्तर का नहीं है ।

शिल्पः—'राग दरबारी' की भाषा में यथार्थता है, सरसता है, प्रवाह है और प्रभावोत्पादकता है किन्तु उसमें गांभीर्य का अभाव है । उपन्यासकार गाँव की जिन्दगी को चित्रित करना अपना ध्येय मानकर चला है अतः जब गाँव ही फूहड़, बेहूदा तथा भद्दा है तो उसकी अभिव्यक्ति उससे भिन्न कैसे ? जन-सामान्य के जीवन को चित्रित करने के कारण तथा उसमें जीवंतता लाने के लिए सामान्य जन की भाषा का प्रयोग किया है । कहीं-कहीं लोक भाषा का प्रयोग किया है । इतना ही नहीं कई स्थानों पर उनकी भाषा में ग्राम्यत्व दोष भी मिलते हैं । इसके अतिरिक्त इनके प्रकृति वर्णन भी अभिजात्य नहीं और काव्यात्मक भी नहीं हैं । इनकी भाषा का सबसे बड़ा अस्त्र है व्यंग्य । व्यंग्य श्रीलाल शुक्ल की सीमा भी है और उपलब्धि भी । आद्यांत उपन्यास में व्यंग्य समाया हुआ है, अतः कई स्थानों पर वह हल्का-फुल्का हो गया है । "प्रामाणिक अनुभूतियों को लेकर जिस प्रकार इस उपन्यास

का आरम्भ हुआ, यदि व्यंग्य एवं हल्के-फुल्के सतही विवरणों के मोह में न पड़कर उसे गहरी अन्तर्दृष्टि से, सूक्ष्मता से ग्रहण करने की कोशिश की होती तो निश्चय ही यह उपन्यास विगत बीस वर्षों की एक विशिष्ट उपलब्धि बन सकता था।"[1] आलोचक का यह कथन स्पष्ट कर देता है कि लेखक व्यंग्य के मोह में पड़कर महाकाव्यात्मक उपन्यास के लिए आवश्यक औदात्य और गाम्भीर्य का नहीं बटोर पाया है और यही वह महाकाव्यात्मक उपन्यास की मापा की दृष्टि से हल्का लगता है।

उद्देश्य—'राग दरबारी' स्वातन्त्र्योत्तर विघटन का हूबहू चित्र प्रस्तुत करता है। किन्तु इसमें किसी आदर्श स्थिति की कल्पना तक भी नहीं की गई है, न ही लेखक उदात्त ध्येय को लेकर चला है। इसके उद्देश्य से पाठकों को न तो कोई संदेश मिलता है और न ही विशिष्ट जीवन दृष्टि। महाकाव्यात्मक उपन्यास के लिए उदात्त लक्ष्य का होना नितान्त अनिवार्य है। अतः उद्देश्य की दृष्टि से भी यह उपन्यास महाकाव्यात्मक उपन्यास की कोटि में नहीं बैठ पाता है।

उपर्युक्त चार तत्त्वों के आधार पर किये गये विवेचन से स्पष्ट है कि 'राग-दरबारी' की विशालता तथा दीर्घकायत्व उसे महाकाव्यात्मक उपन्यास की कोटि में बिठा पाने में असमर्थ है।

राग दरबारी : व्यंग्य कृति या व्यंग्य दृष्टि

व्यंग्य कृति या व्यंग्यदृष्टि से युक्त यह उपन्यास लिखा गया है। इसको परखने के लिए व्यंग्य की परिभाषा को जानना अत्यन्त आवश्यक है। डिफो ने "The end of satire is Reformation व्यंग्य का लक्ष्य सुधार को माना है। इसी प्रकार स्विफ्ट, ड्रायडन आदि लेखकों ने व्यंग्य का प्रमुख उद्देश्य मानव के व्यक्तित्व में निहित दोषों के सुधार को ही माना है। व्यंग्यकार का कार्य डॉक्टर के समान है जो समाज में फैली हुई गन्दगी को दूर करता है। वह यथार्थ का उद्घाटक, दोष-सुधारक, नियम-प्रतिष्ठापक, न्यायाधीश, आदर्शों का पालक, नैतिमत्ता का प्रस्तोता, दोषी को दण्डित करने वाला, सामाजिक असंतुलन को नष्ट कर उसे संतुलित करने वाला होता है। कई सतहों पर एक साथ काम करता है। इसलिए उसे Moral agent तथा Social Scavanger कहा जाता है।

राग दरबारी १९६८ में लिखा गया। समूचा भारत राजनैतिक दृष्टि से पतन की कगार पर खड़ा हुआ था। चारों तरफ उच्छृंखलता छाई हुई थी। सभी आदर्शों तथा मूल्यों का अवमूल्यन हो चुका था। ऐसे समय से प्रभावित होकर ही लेखक ने उपन्यास के कथानक का ताना-बाना बुना है। शिवपालगंज कथापट का केन्द्रबिन्दु है, जो प्रतीक या प्रतिनिधि रूप में चित्रित है। इसी शिवपालगंज में सारा भारत समाया हुआ है। इस गाँव में सभी क्षेत्रों में अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, आर्थिक शोषण, नैराश्य, कुण्ठा तथा नैतिक अवमूल्यन का साम्राज्य है।

"सच्चा व्यंग जीवन से सीधा साक्षात्कार होता है, जीवन की सच्ची समीक्षा होती है। यह शर्त तो रागदरबारी पूरी करता है किन्तु इसके साथ ही "विसंगतियों से टकराने का साहस पैदा करना सफल व्यंग का काम है। यह मनुष्य को एक और अच्छा मनुष्य बनाने की एक प्रक्रिया है।" व्यंग्यकार के इस ध्येय की पूर्ति रागदरबारी नहीं कर पाता है अतः इसे व्यंग-कृति कहने की बजाय व्यंग-दृष्टि युक्त लिखा गया या क्रीड़ा-दृष्टि युक्त (Comic) लिखा गया उपन्यास कहना अधिक समीचीन जान पड़ता है। दूसरी बात यह कि लेखक घटना और पात्र दोनों दृष्टियों में घोर यथार्थ का उद्घाटन तो करता है किन्तु मूल्यों के प्रतिष्ठापक पात्र का अभाव दिखाई देता है। तीसरी बात यह कि हास्य-व्यंग की अति के भी कारण दोष उत्पन्न हुआ है। इसीलिए आलोचकों ने 'स्माइल ए टू डे', 'स्वतन्त्रता दिवस का सप्लीमेंट', 'अच्छा मजाक' आदि विशेषण दिए हैं, जो प्रभाव के गाम्भीर्य को हल्का करते हैं। अतः समग्र रूप से विचार करने पर डॉ० शांतिस्वरूप गुप्त के मत से सहमत होकर कहा जा सकता है कि रागदरबारी को "व्यंग-कृति तो नहीं कहा जा सकता, पर उसमें व्यंग-दृष्टि या क्रीड़ा (Comic) दृष्टि अवश्य है। पूरे उपन्यास को इसी क्रीड़ा-दृष्टि से देखा गया है। ······ व्यंग-दृष्टि ने उपन्यास की समृद्धि में निश्चित योगदान दिया है।"

आंचलिकता का प्रश्न :—मानव में आंचलिक प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान है। वह जिस अंचल में पलता है उसे अभिव्यक्ति देना चाहता है। यह आंचलिक प्रवृत्ति कलाकार को व्यापक फैलाव की बजाय गुणात्मक गहनता की ओर ले जाती है। आंचलिक कलाकार उस अंचल विशेष के रीति-रिवाज, धर्म, संस्कृति तथा राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक इन सभी चित्रों को विस्तार से प्रस्तुत करता है। कोश में अंचल शब्द के दो अर्थ दिए गए हैं :—(१) अंचल शब्द एक ऐसे भूखण्ड विशेष का वाचक है जो सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से अपने आप में एक इकाई हो जिसके जीवन की कुछ अपनी विशेषताएँ हों।" (२) जनपद और क्षेत्र 'अंचल' के कोशगत अर्थ को जान लेने के बाद आंचलिक उपन्यासों के मूल तत्त्वों का संकेत करना भी आवश्यक हो जाता है जिसके आधार पर ही रागदरबारी आंचलिक उपन्यास है या नहीं, यह सिद्ध किया जा सकता है। प्रमुख रूप से आंचलिक उपन्यास के छः मूलतत्त्व हैं :—

(क) कथानक का आंचलिक आधार
(ख) लोक संस्कृति का चित्रण
(ग) अंचल की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति का चित्रण
(घ) भौगोलिक स्थिति का अंकन या प्रकृति-चित्रण
(ङ) पात्रों के चरित्र विकास में अंचल का योग

(च) जनजागरण की नयी दिशा का संकेत ।

उपर्युक्त इन छ तत्वो के आधार पर रागदरबारी को निकष पर देखा जाए तो यह सिद्ध होता है—

(क) शिवपालगज विशिष्ट अंचल मात्र नही है । रूप्पन बाबू तो स्वयं कहते हैं कि "सारे मुल्क मे शिवपालगंज फैला है ।" वस्तुत: शिवपालगज तो प्रतीक है पतनोन्मुख और मूल्यहीन स्वातन्त्र्योत्तर समग्र भारत का । अत जब शिवपालगंज विशिष्ट अंचल ही नही सिद्ध होता तो अन्य तर्क स्वय निराधार हो जाते हैं ।

(ख) आंचलिक उपन्यासो मे नैतिक मूल्यो का खंडन-मंडन तथा विकास और प्रतिष्ठापना की चर्चा नही होती किन्तु 'रागदरबारी' का तो यही मूल उपजीव्य है ।

(ग) आंचलिक उपन्यास व्यापकता की बजाय संक्षिप्तता का चित्रण करते हैं । किन्तु 'रागदरबारी' शिवपालगंज के माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय मूल्य-हीनता का दस्तावेज है । इसे स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय समाज का दर्पण कहा जा सकता है ।

(घ) 'शिवपालगज' के शिवप्रसाद सिंह के 'करैता' की गाँव की तरह तो है जिसमे ग्रामीण, सामाजिक, राजनैनिक, आर्थिक स्थितियो के चित्र मौजूद हैं किन्तु 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' से सर्वथा भिन्न है ।

(ङ) 'रागदरबारी' मे गाँव की जिन्दगी को रूपायित किया गया है, यत्र-तत्र ग्रामीण भाषा का प्रयोग भी किया गया है किन्तु इतने से कोई उपन्यास आंच-लिक नहीं कहलाया जा सकता ।

उपर्युक्त समीक्षण से यह स्पष्ट है कि 'रागदरबारी' दरबारी गाँव की जिन्दगी से घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध होते हुए भी एक अत्यन्त अनांचलिक उपन्यास है । गाँव के माध्यम से यह आधुनिक भारतीय जीवन की मूल्यहीनता और संस्कारहीनता को एक सहज निर्ममता के साथ अनावृत करता है ।"[11]

शीर्षक की प्रतीकात्मकता—शीर्षक और कृति का परस्पर सम्बन्ध रहता है । शीर्षक से ही कृति के कथानक का बोध होता है, और कथानक का मूलभाव शीर्षक मे केन्द्रित रहता है । किन्तु आजकल यह आवश्यक नही रहा है फिर भी पारस्परिक सम्बन्ध को अस्वीकारा नही जा सकता । 'रागदरबारी' मे किसी साहित्यिक मानदण्ड के समीप होने की बजाय जिन्दगी के ज्यादा समीप होने की कोशिश है ।" यह कथन स्पष्ट करता है कि रागदरबारी जीवन की धारा को पकडने का प्रयास है । लेखक का लक्ष्य देश मे फैले हुए अनाचार, भ्रष्टाचार, अन्याय तथा अवमूल्यन को चित्रित करना है । समूचे उपन्यास का सम्बन्ध ही भारतीय जीवन से है । अत शीर्षक का सम्बन्ध भी जीवन से है किन्तु उसे प्रतीकात्मक रूप से रखा गया है । दरबारी शब्द से सामंती संस्कृति का चित्र पाठको के सम्मुख प्रस्तुत होता

है, जिसमें राजा की रुचि की प्रधानता को महत्त्व दिया जाता था। दरबारी उसकी पूर्ति करने के लिए विवश होते थे। यहाँ तक कि वह उनका स्वभाव ही बन जाता था। लेखक का मत है कि आज भी भारत में सामंतवाद के नष्ट होने के बाद भी सामन्तवादी मनोवृत्ति नष्ट नहीं हुई। प्राचीन राजा-महाराजाओं के स्थान पर आधुनिक मंत्रियों ने, अधिकारियों ने स्वयं को आसीन कर लिया है। सामान्य जनता आज भी दरबारी बनी हुई है। आधुनिक नेता-सामंतों के प्रतीक के रूप में तथा सामान्य जन दरबारी के रूप में चित्रित हैं। इस प्रकार प्रतीकात्मक अर्थ लगाने का ठोस आधार यह है कि श्रीलाल शुक्ल की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन व्यंग्य है। सम्पूर्ण कथा में लाक्षणिक अर्थ प्रमुख है। ऐसे व्यंग्य कथाकार से शीर्षक अछूता रहे यह सम्भव ही नहीं। अतः शीर्षक का सम्बन्ध जीवन से है, भारतीय जनमानस की मनोवृत्ति से है। "यह शीर्षक न तो संगीतशास्त्र से कोई सम्बन्ध रखता है और न तो दर्शन एवं धर्म से।.........

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद नये सामंतों का उदय हुआ है और नये दरबारी अस्तित्व में आए हैं। ये दरबारी परोपजीवी प्रवृत्ति वाले हैं जो बगुलाभगत नेताओं की 'राग' अलाप रहे हैं।"[१८]

रागदरबारी : कृति की राह से कृति की पहचान :—जिस प्रकार जीवन और मूल्य निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं उसी प्रकार साहित्य और उसके प्रतिमान भी निरन्तर परिवर्तित होते चलते हैं। साहित्य के रूप के साथ समीक्षा के प्रतिमान न बदले तो सच्ची समीक्षा सम्भव ही नहीं। अतः 'रागदरबारी' की समीक्षा पूर्व-निर्धारित मानदण्डों के आधार पर न कर 'रागदरबारी' के माध्यम से ही की जाए तो ज्यादा उपयुक्त होगी। ऊपर औपन्यासिक तत्त्वों के आधार पर की गई समीक्षा का शीर्षक ही स्वयं स्पष्ट कर देता है कि वह केवल अध्ययन की सुविधा मात्र के लिए है। किसी भी कृति की सही पहचान उसके बीच से गुजर कर ही संभव है। यहाँ हमने यही प्रयास किया है।

'रागदरबारी' १९६८ में प्रकाशित रचना है जबकि भारतीय समाज पतन की चरम अवस्था पर पहुँचा हुआ था। किसी भी पीढ़ी के लिए स्वतन्त्रता-प्राप्ति ही अन्तिम ध्येय नहीं होना चाहिए। उपलब्ध स्वतन्त्रता के अस्तित्व को टिकाना अत्यन्त आवश्यक होता है। किन्तु भारत में इस प्रकार नहीं हुआ। पराधीनता के काल में जनता की वृत्ति त्याग, सेवा, देशप्रेम आदि से समन्वित थी। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ही हमारी मनोवृत्ति में अवसरवादिता, स्वरति, व्यक्तिपूजा, ऐश-आराम की वृत्ति, चारित्रिक अभाव, अनुशासनहीनता, दायित्वहीनता, कार्यकुशलता का अभाव आदि ऐसे घर कर बैठ गए जिससे सामाजिक जीवन में एक प्रकार की असंगति और अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। चारों तरफ नैतिक पतन छा गया। कोई भी राष्ट्र या

व्यक्ति चारित्रिक उन्नति के बिना समृद्ध नहीं बन सकता। स्वातन्त्र्योत्तरकालीन भारतीय समाज मे प्रत्येक व्यक्ति (Crisis of Leadership) और (Crisis of Character) में इस प्रकार फँस गया है कि उसके बाहर वह नहीं निकल पा रहा है।

यह युग असतोष और अस्वीकार का युग है। आधुनिक पीढ़ी में यह असतोष और अस्वीकार परिस्थितिजन्य है। अत आधुनिक पीढी के व्यक्ति को पुराने नेता, विश्वास, आस्था, आदर्श, परम्परा और मूल्यों से सख्त नफरत है। वह इन सबको तोडना चाहता है, बदलना चाहता है। पुराने आदर्शों और मूल्यों की जड़ें इस असगति ने पूरी तरह हिला दी हैं जिससे चारो तरफ एक प्रकार का असतुलन, आक्रोश, निराशा और कुण्ठा भारतीय जन जीवन में विद्यमान दिखाई देती है।

'रागदरबारी' का कथा-पट उपर्युक्त सामाजिक यथार्थ के तन्तुओ से निर्मित है। वस्तुत 'रागदरबारी' स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय यथार्थ का दर्पण है। 'शिवपालगज' कथा का केन्द्रबिन्दु है जो सारे मुल्क में फैला हुआ है। रागदरबारी भारतीय जीवन का आत्मसाक्षात्कार है और इसका माध्यम है व्यग्य। व्यग्य जीवन की सच्ची समीक्षा है। अतः लेखक ने व्यग्य के माध्यम से भारतीय जीवन की अव्यवस्था, रिक्तता और मूल्यहीनता के चित्र उपस्थित किये हैं। यह युग नारो का युग है, ठोस कार्य का कम। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय सामाजिक जीवन की उपलब्धि के नाम हुल्लड़-बाजी, नगई, विघटन, असुरक्षा, असहकार, तस्करी, सम्प्या-जीविता, मोहभग, तनाव, लूटवृत्ति, भ्रष्टाचार, महँगाई, दिशाहीन विद्रोह इ० अनगिनत वृत्तियो को गिनाया जा सकता है। 'रागदरबारी' इन सब वृत्तियो का कच्चा चिट्ठा है। इसलिए उसे भारतीय यथार्थ जीवन का दस्तावेज कहा गया है। जिसमे स्थितियाँ और कथ्य वर्णन-क्रम से नहीं जीवन-क्रम से अर्थात् उन्हें जिए जाने की व्यग्र सवेदनाओं से ओत-प्रोत है।

लेखक ने कथा के माध्यम से समाज की विसगति को उजागर किया है जैसे इस कथा का केन्द्र शिक्षा-सस्था है जिसका प्रमुख कार्य गुटबन्दी और अशिक्षा देना है, पुलिस असुरक्षा के लिए है, सहकार—स्वाहाकार तथा गबन के लिए, राजनीति अराजकता के लिए है। देशरक्षक आज देशभक्षक बन बैठे हैं। चुनाव—बलात् सर्वसम्मति से लिए जाते हैं। अधिकारी रिश्वतखोर हैं। इस प्रकार सारा समाज एक प्रकार के छद्मरूप को धारण किए हुए है। प्रत्येक व्यक्ति मुखौटा ओढ़े हुए है अत असली व्यक्तित्व की पहचान करना अत्यन्त कठिन कार्य हो गया है। उपन्यास को पढते हुए ऐसा लगता है कि मानो आदि से अन्त तक घटनाएँ घटित नहीं होती अपितु दुर्घटनाएँ होती हैं। और आश्चर्य है कि जनसामान्य तब भी निष्क्रिय, निश्चेष्ट और निश्चिन्त है।

इस प्रकार लेखक ने समाज के उस अंग को जो मूल्यहीन और खोखला है, व्यंग के माध्यम से उद्‌घाटित किया है। संभव है कि कथापट 'समग्रता' को न लिए हो किन्तु निसंदिग्ध रूप से यह स्वीकार करना होगा कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में श्रीलाल शुक्ल को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

कथा के समान सभी पात्र 'स्वरति' में मग्न हैं। हाँ, यह ठीक है कि कोई भी पात्र 'आदर्श पात्र' नहीं है जो कि स्वाभाविक है। क्योंकि यथार्थ जीवन में ही कहीं आदर्श नही रहा है तो कृति में कैसे सम्भव है ? सभी पात्र यथार्थ तथा जीवन्त हैं।

वैद्य कुलपूज्य ब्राह्मण हैं। पेशा वैद्यकी है। साथ ही वे स्कूल मैनेजर तथा कोऑपरेटिव के मैनेजिंग डायरेक्टर हैं। इतने से ही वे सन्तुष्ट नही। पंचायत को भी वे अपने आधीन रखने का प्रयत्न करते हैं। वैद्य आधुनिक नेताओं के प्रतीक हैं, जो बगुलाभगत हैं। शाकाहारी पोशाक पहनकर मांसाहार करते हैं। प्रिन्सिपल वैद्य के दरवाजे पर भांग घोटते हैं। उनका प्रमुख कार्य कॉलेज में गुटबन्दी, मारपीट, गदगी, नंगई, गालीगलौज, शह-मात इ० कराना है। किसी भी शिक्षक को उसकी योग्यता पर नहीं अपितु या तो चापलूसी के आधार पर या वैद्यजी के रिश्तों के आधार पर नियुक्त करते हैं। आधुनिक अधिकारियों की प्रमुख चापलूसी वृत्ति के रूप में प्रिन्सिपल प्रतिनिधि रूप में चित्रित किए गए है। रूप्पन ७८ वर्षीय युवक है। असंतोष एवं अस्वीकार उनके व्यक्तित्व के प्रमुख अंग हैं। स्कूल मैनेजर के पुत्र हैं, छात्रनेता हैं तथा साथ स्थानीय राजनीति में सक्रिय भाग लेते हैं। वे उच्छृंखलता उदण्डता तथा अनुशासनहीनता के रोग से ग्रस्त है। स्कूल, थाना, कॉऑपरेटिव संस्था आदि सब में युवक होने के नाते दखलदाजी करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं। रूप्पन की सबसे बड़ी विशेषता है कि युवक होने के कारण जब मन में आए तब वे किसी भी युवती से प्रेम करने का अधिकार रखते हैं। वस्तुतः रूप्पन के माध्यम से आधुनिक छात्रनेताओं की स्वार्थवृत्ति का पर्दाफाश किया है। रंगनाथ काफी पढ़े-लिखे हैं। अतः अकर्मण्य, निष्क्रिय तथा निठल्ले हैं। समाज उन्हें बुद्धिजीवी कहता है अतः वे यथार्थ से पलायन करते हैं, अतीत के स्वप्नों में रमने वाले, कायर, आत्मघाती, कुण्ठित, खोखले, पराश्रित, निराश आदि रोगों से ग्रस्त हैं। उनका समूचा व्यक्तित्व लिजलिजा है जो अधिक पढ़-लिख लेने के कारण है। रंगनाथ यहाँ आधुनिक बुद्धिजीवी के प्रतिनिधि पात्र रूप में चित्रित है जो यथार्थ से दूर भागकर स्वरति में डूबकर आत्मघात करता है। लंगड़ और खन्ना—दो ऐसे पात्र हैं जो थोड़े से आदर्शों को लेकर जीते हैं। वे भी पूर्णतः आदर्श पात्र नहीं हैं। संभव भी नहीं क्योंकि लेखक का उद्देश्य यथार्थ का चित्रण है। एक नकल के लिए लंगड़ को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है। आधुनिक लालफीताशाही तथा आदर्शवादिता का

निर्मम उपहास किया गया है।

इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त सनीचर, मोतीराम, मालवीय, छोटा पहलवान, रामाधीन आदि वैयक्तिक चरित्रों के माध्यम से लेखक ने उनके स्वार्थवृत्ति तथा खोखलेपन का पर्दाफाश किया है। और दरोगा, जज, वकील, सिपाही पच, चपरासी, गवाह, इजीनियर किसान, कुटुम्ब नियोजन अधिकारी, क्लर्क आदि प्रातिनिधिक पात्रों के माध्यम से इनकी भ्रष्टाचार, कामचोर, रिश्वतखोरी वृत्ति का अकन किया है। वेश्या एकमेव स्त्री पात्र है जो गौण पात्र है। नारी सत्ता आज भी भारतीय जीवन म उपेक्षित है, इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

सम्भव है कि उपर्युक्त पात्रों में मूल्यों का प्रतिष्ठापक पात्र न हो अत लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने पात्रों को लेकर खूब आलोचना की है कि जहाँ समाज ही ऐसे पात्रों से भरा हुआ हो जिसने उसे जीर्ण शीर्ण, खोखला, रुग्ण तथा मोहभग की आस्था तक पहुँचाया हो वहाँ आदर्शों के प्रति आस्था रखने वाले पात्रों का सृजन यथार्थ न होकर काल्पनिक होगा जो उपन्यास में गुण की बजाय दोष ही अधिक साबित होगा।

कथ्य के नवीन होने के कारण् लेखक को नए शिल्प का अवलम्ब ग्रहण करना पडा है। कथ्य के अनुकूल शिल्प को ढाला है। विसगतिमय समाज को प्रस्तुत करने के लिए व्यग को साधन के रूप मे ग्रहण किया है। इनके सवाद सक्षिप्त, चुभते, तीखे तथा आन्तरिक विसगति को उद्घाटित करने वाले हैं। व्यग, उनका सबल अस्त्र है। सवादो ने कथा को गति दी है और साथ ही हास्य की सृष्टि भी। भाषा पर लेखक को असाधारण अधिकार है। भाषा न तो सस्कृतनिष्ठ है न ही अत्यन्त गम्भीर तथा न ही विशिष्ट गरिमामडित। जनसामान्य के अनुकूल ही भाषा का प्रयोग सर्वत्र हुआ है। भाषा मे कही भी त्रुटि दिखाई नही देती। वह सीधी-सादी, सरल तत्सम, तदभव तथा देशज शब्दो को लिए हुए चलती है। भाषा का प्रमुख साधन है *व्यग। इसी व्यग से अभिधेय अर्थ के साथ लक्षणिक अर्थ का सकेत देते चलते है। अभिधापरक अर्थ हास्य की सृष्टि करता है तो लाक्षणिक पाठक के अन्तर्मन मे पीडा और आक्रोश जगाता है। भाषा मे मुहावरे, लोकोक्तियाँ, फिल्मीगान तथा सस्कृति की उक्तियो को तोड-मरोड कर जडा है किन्तु वे विकृत अर्थ को स्पष्ट करते हैं।* कहीं-कहीं काव्यात्मक भाषा का भी प्रयोग हुआ है। कृत्रिम भाषा का सोद्देश्य प्रयोग भी मिलता है। प्रत्येक शब्द नये आयामो को उद्घाटित करता है जिससे कथनभगिमा मे सादृता और तीखेपन का समावेश हुआ है। व्यग के माध्यम से लेखक ने अर्थों के खोखलेपन विभिन्न आयाम, व्यजकता, लाक्षणिकता, हास्य का उद्रेक तथा आन्तरिक पीडा को व्यक्त किया है। व्यग उसके शिल्प की सबसे बडी उपलब्धि है।

इस प्रकार कृति की राह से गुजरने पर यह कृति सम्भव है कि उपन्यास के तत्त्वों के आधार पर श्रेष्ठ उपन्यास सिद्ध न हो, महाकाव्यात्मक उपन्यास के लक्षण न हों, श्रेष्ठ व्यंग-कृति न हो किन्तु यह निःसंदिग्ध रूप से स्वीकार करना होगा कि 'राग-दरबारी' भारतीय स्वातन्त्र्योत्तर जीवन के चारित्रिक ह्रास तथा जीवन के विभिन्न सदोष अंगों के चित्रण के माध्यम से वह आत्मसाक्षात्कार कराता है, यही उसकी महती उपलब्धि है।

टिप्पणियाँ

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान : नेमिचन्द्र जैन
२. आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि : डॉ. रामदरश मिश्र, पृ० ११८
३. आलोचना : त्रैमासिक : कमलेश का लेख
४. आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि : डॉ. रामदरश मिश्र, पृ० १२६
५, ६. रागदरबारी : श्रीलाल शुक्ल, पृ० ३३
७. वही, पृ० ४१
८. वही, पृ० ४५
९, १०, ११. वही, ३२७
१२. वही, ३४४
१३. वही, ३६
१४. वही, पृ० ८९
१५. वही, पृ० ३२३
१६. वही, पृ० २०५
१७. वही, पृ० १३६
१८. वही, पृ० ३७४
१९. वही, पृ० २१८
२०. वही, पृ० ८१
२१. वही, पृ० १६५
२२. वही, पृ० १८५
२३, २४, २५. वही, पृ० २१
२६. वही, पृ० १६७
२७. वही, पृ० २७१
२८. वही, पृ० २८
२९. वही, पृ० २१५
३०, ३१. वही, पृ० २१८
३२. वही, पृ० ३९

३३ हिन्दी उपन्यास महाकाव्य के स्वर डॉ शान्तिस्वरूप गुप्त

३४, ३५ डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

३६ रागदरबारी : प्रकाशकीय वक्तव्य

३७ कमलेश

३८ डॉ त्रिभुवन सिंह

विपात्र का कथ्य : दरमियानी दूरियों का दर्द

डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे

मुक्ति, अकेले में अकेले की नहीं हो सकती। यदि वह है तो सब के साथ है।
—मुक्तिबोध

अद्वैत का ब्रह्म मात्र 'अनस्तित्व का अस्तित्व' है जिसकी मनुष्य को बिलकुल जरूरत नहीं है। —मुक्तिबोध

व्यक्तिस्वातन्त्र्य का ढोंग करने वाले विषमताग्रस्त देशों में मजदूरी के कारण जननेन्द्रिय भी बेचे जाते हैं।

गरीबी की वेदना और धन की अहग्रस्त वासना के युग्मीकरण के कारण भीतर और बाहर की दरिद्रता बढ़ती ही जाती है। —मुक्तिबोध

वेदना स्वयं कर्म का उत्साह उत्पन्न नहीं कर सकती। —मुक्तिबोध

सवाल जिन्दगी में होने वाली गलतियों का नहीं है, सवाल उन फासलों का है, जिन्हें बीचोबीच रखकर गलती नहीं सुधारी जा सकती। ऐसा क्यों इसलिए कि हर एक को घमण्ड है कि उसके अपने पास जो कुछ है वह मूल्यवान है —मुक्तिबोध

१२
विपात्र

'विपात्र' उपन्यास मुक्ति की उपनिषद् है। मुक्तिबोध ने पारम्परिक भारतीय विचारधारा के समान ही मुक्ति को मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ माना है, किन्तु उनकी मुक्ति-विषयक धारणा पारम्परिक धारणा से एकदम भिन्न है। उनकी दृष्टि में *परलोक सम्बद्ध एवं व्यक्तिपरक मुक्ति की कैवल्यात्मक धारणा उद्दाम स्वार्थमात्र* है। इस उद्दाम स्वार्थ के मूल में ब्रह्मविषयक अद्वैतवाद की विचारधारा है। उनके अनुसार अद्वैतवाद का यह ब्रह्म 'मात्र अनस्तित्व' का अतिस्तत्त्व है, जिसकी मनुष्य को 'बिल्कुल जरूरत नहीं है।'[1] उन्होंने 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' कविता में ब्रह्म के मुंह का टेढ़ापन कहते हुए स्पष्ट किया है कि इसी ब्रह्म के आश्रय में अमीर अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब बनते चले जा रहे हैं। इस व्यक्तिपरक ब्रह्म की आराधना से प्राप्त होने वाली मुक्ति की धारणा के विपरीत उनका तो विचार यह है कि—'मुक्ति, अकेले में, अकेले की नहीं हो सकती।" "यदि वह है तो सबके साथ है।"[2]

सब के साथ रहकर "भीतर व बाहर के दलिद्दर से मुक्ति"[3] प्राप्त करना ही उनकी दृष्टि में सच्ची मुक्ति है। दूसरों के साथ सघन आत्मीय सम्बन्धों के परिवेश में जीने को ही वे जीवन का परम पुरुषार्थ मानते हैं। सघन आत्मीय सम्बन्धों से रहित जीवन उनकी दृष्टि में शून्य मात्र है।

भीतर और बाहर की दरिद्रता से मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सघन आत्मीय सम्बन्धों का स्थापित होना अनिवार्य है। मुक्तिबोध ने व्यक्ति-व्यक्ति के बीच स्थापित होने वाले सम्बन्धों के महत्त्व पर बल देते हुए लिखा है कि—"विभिन्न वायुमण्डलों और दिक्कालों में से आए हुए लोग भी, एक ठंडे घने पीपल की छाया के नीचे विश्राम करते हुए गले मिलें तो इसमें मुझे प्रकृति का विशेष उद्देश्य ही दिखाई देता है।"[4]

इस प्रकार के विविध मिलन-स्थलों पर स्थापित हुए सम्बन्धों के माध्यम से ही व्यक्तियों में उस सामाजिकता का उदय होता है, जिसे मुक्ति की माता कहा जा सकता है। सौहार्दपूर्ण सामाजिक सम्बन्धों के कारण अनेक व्यक्ति एक सामाजिक

इकाई के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं। आत्मीय सम्बन्ध के जादूभरे प्रभाव से एक और एक व्यक्ति मिलकर गणित के नियम के अनुसार दो नही हो जाते, बल्कि एक ही बने रहते हैं। मुक्तिबोध ने इसीलिए कहा है—

"एक-धन एक से
पुन एक बनाने का यत्न है अविरत।"[१]

एक-धन-एक से पुन एक बनाने वाले आत्मीय सम्बन्धो पर विचार करते हुए व्यक्तियों की रुचि भिन्नता को भुलाया नही जा सकता, क्योंकि "आदमी की पसदगी-नापसदगी, रहन सहन आदि के तरीके अलग-अलग होते हैं। किसी दूसरे आदमी के ढाँचे मे वे फिट नही किए जा सकते।"[२] दूसरे के ढाँचे मे फिट करने के प्रयत्न आत्मीयता का आधारभूत व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता है और व्यक्ति के नाम पर केवल वह कठपुतली या अधिक-से-अधिक रोबो मात्र बनकर रह जाता है। 'विपाश' का बास दूसरो की जिन्दगियो को शासित करके उनकी गतिविधियो को अपने अनुकूल ढालना चाहता है। बास के अनुकूल ढाँचे मे कसा जाना निवेदक को अपने व्यक्तित्व के प्रतिकूल प्रतीत होता है। ढाँचे के कसाव से मुक्त रहने के लिए उसकी आत्मा छटपटाने लगती है, क्योंकि व्यष्टि ही नही, अपितु समष्टि के विकास के लिए व्यक्ति स्वातन्त्र्य की नितान्त आवश्यकता है। स्वतन्त्र व्यक्तियो मे ही आत्मीय सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं, परतन्त्र कठपुतलियो मे नही।

व्यक्तिस्वातन्त्र्य की समस्या बडी नाजुक समस्या है। विशिष्ट ढाँचे मे कस डालने वाली समाज व्यवस्था मे जिस प्रकार व्यक्तिस्वातन्त्र्य असभव है, उसी प्रकार भेदाभेद की विषमता से ग्रस्त शोषणयुक्त समाज मे भी वह असभव है। विषमता-ग्रस्त समाज मे व्यक्तिस्वातन्त्र्य केवल उन व्यक्तियो को ही प्राप्त होता है, जिनके पास पैसा होता है। शोषित निर्धनो को तो 'स्वतन्त्रता बेचने की आजादी की मजबूरी'[३] हो सकती है। इस मजबूरी के कारण अलग-अलग लोग अपनी आजीविका को पाने के लिए अलग-अलग ढग से पूँछ हिलाने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। इसी कारण विद्या केन्द्र के लोग बॉस के सामने अलग-अलग शैली से अपनी-अपनी पूँछ हिलाते हुए दीख पडते हैं। यह बात दूसरी है कि पूँछ हिलाने के बावजूद निवेदक रायसाहब के समान अपने को बॉस के सामने हीनता से ग्रस्त होकर पूर्णत समर्पित नही कर पाता है। लेकिन वह बॉस से झगडा मोल लेने को भी तैयार नही हो पाता, क्योंकि उसकी यह पन्द्रहवी नौकरी है। उसे यह अच्छी तरह से मालूम है कि नौकरी को दुतकारना आसान है, किन्तु पेट पालना बहुत मुश्किल है। बॉस से झगडा करके नौकरी को दुतकारने का विचार आते ही उसके सामने घर के सारे दुर्भाग्य आ खडे होते हैं। लम्बे-लम्बे रोग तथा बालबच्चो और बूढे माता-पिता की जिम्मेदारियाँ उसे असमता के बोध से कुण्ठित करके प्रवाह-पतित सूखे काठ की तरह परिस्थितियो की विवशता

में वहे चले जाने के लिए बाध्य कर देती है। दूसरी ओर भनावत अपनी चौदहवीं नौकरी को बनाए रखने के लिए मौकापरस्त बनने के लिए विवश है। अपने अनुभवों के आधार पर उसे यह मालूम हो गया है कि खोटा सिक्का अच्छा चलता है। यह दशा मध्यमवर्ग के व्यक्तियों की है। निम्नवर्ग के व्यक्तियों की विवशता का तो कोई अन्त ही नहीं है। पूंजीवल पर उच्च वर्ग के लोग उन्हें गुलाम बनाने के लिए पूरी तरह से स्वतन्त्र हैं। तात्पर्य यह है कि विषमता से ग्रस्त समाज में अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल अपने-अपने व्यक्तित्व को समृद्ध बनाने के लिए मनुष्य को व्यक्तिस्वातंत्र्य मिल सकना संभव नही है। यही कारण है कि तथाकथित व्यक्तिस्वातंत्र्य का ढोंग करने वाले विषमताग्रस्त देशों में मजबूरी के कारण "जननेन्द्रिय भी बेचे जाते हैं।"[4]

वर्गवैषम्य से पीड़ित समाज में आत्मीय सम्बन्धों को स्थापित करने के लिए आवश्यक सच्चा व्यक्तिस्वातंत्र्य न होने के कारण शोषित व्यक्ति वेदना की अधिकता के कारण आत्मबद्ध बन जाता है। एक ओर वह निस्सहायता और असुरक्षितता के कारण किसी अन्य व्यक्ति पर विश्वास करने की क्षमता खो बैठता है तथा दूसरी ओर उसका आत्मविश्वास लुप्त हो जाता है। परिणामतः हीनता का शिकार बनने के कारण उसमें कर्म का उत्साह रह नहीं पाता। दुःख की अतिमात्रा उसके व्यक्तित्व को माँजने के स्थान पर घिस डालती है। वह अपनी पेट की आग बुझाने के लिए चोरी करने के लिए विवश हो जाता है। उसकी विवशता को समझने का प्रयत्न करने के स्थान पर उच्च वर्ग का व्यक्ति निर्धन व्यक्ति को चोर और आवारा समझने लगता है। 'लामलोभ की समझदारी' के कारण उसकी मानवीय समझदारी लुप्त हो जाती है। निर्धनता से सम्बन्धित यह मानसिक ग्रन्थि बॉस में भी है। 'दो कदम चलने में भी तकलीफ' महसूस करने वाला बॉस पेट के लिए मछली या आम चुराने वाले फटेहाल गरीब लड़कों को बेरहमी से पीटता है। परन्तु यही बॉस बगीचे के आम तोड़कर खाने वाली कॉलिज की लड़कियों के पीछे-पीछे घूमता है। उसके मन में गरीबों के प्रति असीम घृणा है। वह शोषक वर्ग की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाला पात्र है। वह जनता को कुत्ता और गरीब को कमीना समझता है। वह अपने मातहतों को संस्कृति के नाम पर गरीबों से घृणा करने के लिए उकसाता है। उसकी दृष्टि में गरीबों की बस्ती 'डिसरेप्यूटेबल जगह' है। इस प्रकार की जगहों में रहने वाले शोषित मनुष्यों के व्यक्तित्व, इतने अधिक कुचले जाते हैं कि वे शोषकों की 'मेहरबानी' या उपभोग्यता को प्राप्त करने में गौरव का अनुभव करने लगते हैं। अंग्रेज अफसरों की उपभोग्या बनी काली नौकरानियाँ इस बात पर गर्व किया करती थीं कि वे 'बड़ों के घर' में हैं। स्वाधीनता के बाद विदेशी शोषकों का स्थान देशी उच्च वर्ग के लोगों ने लिया है।

जिस प्रकार शोषणजन्य वेदना व्यक्ति को आत्मबद्ध बनाती है, उसी प्रकार

शोषकों की वासना भी उन्हें आत्मबद्ध बना डालती है। शोषणयुक्त समाज में शोषक उच्च वर्ग को वासनामयी कल्पनाओं में रममाण होने के लिए भरपूर सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। वासना की अधिकता के कारण इस वर्ग के लोग उत्तरोत्तर अधिकाधिक व्यक्तिबद्ध बनते चले जाते हैं। गरीबों से आत्मीय सम्बन्ध प्रस्थापित करना इन लोगों को अपमानास्पद प्रतीत होता है। बॉस इन्हीं लोगों में से एक है। बॉस के अतिरिक्त उच्च वर्ग के एक अन्य शराबी और रण्डीबाज रईस का समावेश 'विपात्र' में किया गया है। इस रईस की अपनी कोई कमाई नहीं है और न ही उसकी अपनी कोई मेहनत है। उसने केवल 'विधवा जमींदारिन के साथ मेहनत की है।'[9] इसी मेहनत के बल पर वह हर तीसरे साल कार बदलता है और हर दूसरे साल प्रेमिका। इस वर्ग के लोगों के लिए ही श्री अज्ञेय ने यह लिखा है कि इन लोगों को श्रम के नाम पर केवल रतिश्रम से ही परिचय होता है।[10] ऐसे ही लोगों के पीछे विधायक फिरते दिखाई देते हैं, जो श्यामल जनसमुदाय से मतों को पाकर जीतने के बाद उस समुदाय को बड़े ठाठ से भूल जाया करते हैं।

शोषक वर्ग से सम्बन्धित एक मुनीम का बेटा भनावत है। वह स्वयं स्वीकार करता है कि गरीब लोगों से ब्याज बट्टा करके उसके पिता ने अपना घर भरा है। भनावत के पिता ने अपने बेटे को शोषण की तिजारत के सब 'गुर' बता दिए थे, किन्तु भनावत को तिजारत करना नामंजूर था। वह अपने पैरों पर खड़ा होना चाहता था। उसने पिता से बगावत करके दूसरों की स्वतन्त्रता खरीदने के काम से इनकार कर दिया। उसने 'शैतान का बच्चा' होते हुए भी शैतान बनना नहीं चाहा, किन्तु समाज के शैतानी ढाँचे ने उसे 'शैतान का नौकर' बनाकर छोड़ा। समाज की रचना ही कुछ इस प्रकार की है कि इसमें शोषक बनने से इनकार करने पर शोषित बनने के लिए विवश होना पड़ता है। इस प्रकार के समाज में व्यक्तिस्वातन्त्र्य जनता के लिए छलना मात्र होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शोषणग्रस्त समाजव्यवस्था में वेदना और वासना से उत्पन्न व्यक्ति बद्धताओं के कारण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच आत्मीय सम्बन्ध प्रस्थापित करने के लिए अवकाश ही नहीं होता। इस प्रकार के समाज में एक ओर अस्तित्वरक्षा के संघर्ष में थके हारे वेदनाग्रस्त लोग व्यक्तिबद्ध बन जाते हैं तथा दूसरी ओर सम्पन्न लोग वासनाग्रस्त हो जाने के कारण अहंकार के दलदल में धँसकर व्यक्तिबद्ध बन जाते हैं। 'गरीबों की वेदना और धन की अहंग्रस्त वासना के युग्मीकरण'[11] के कारण भीतर और बाहर की दरिद्रता बढ़ती ही जाती है। समाज दुराचारों का अड्डा बन जाता है। गरीबों की वेदना धन की वासना की पूर्ति के लिए विवश हो जाती है। इसी स्थिति को दृष्टि में रखकर मुक्तिबोध ने लिखा है कि—

शोषण की अतिमात्रा
स्वार्थों की सुखयात्रा
जब-जब सम्पन्न हुई
आत्मा से अर्थ गया, मर गई सभ्यता ।"[१२]

उच्च वर्ग और निम्न वर्ग की वासना और वेदना से उत्पन्न आत्मबद्धताओं के कारण इन दो वर्गों के व्यक्तियों में दरमियानी फासले उभर आते हैं । ऊँच-नीच की भावना से उत्पन्न होने वाले इन फासलों को निवेदक ने अक्षांश वाले फासले कहा है । ये फासले उस प्रकार के फासले हैं जिस प्रकार के फासले एक ही निसैनी की उपरली और निचली सीढ़ियों पर खड़े दो व्यक्तियों के बीच में होते हैं । इस प्रकार के फासले सबसे अधिक खतरनाक होते हैं, क्योंकि उपरली और निचली सीढ़ियों पर खड़े व्यक्तियों में संघर्ष छिड़ जाने पर घातक परिणाम सामने आते हैं । इन फासलों के मूल में घृणा है । आज तक उच्चवर्ग के लोग निम्नवर्ग के लोगों से घृणा करते आए हैं, किन्तु अब निम्न वर्ग के लोगों में ज्यों-ज्यों आत्मचेतना जाग रही है, त्यों-त्यों उनमें उच्चवर्ग के प्रति असंतोष और घृणा का भाव बढ़ता जा रहा है । वे उच्चवर्ग से अपना सम्बन्ध तोड़ने के लिए या तो ईसाई बन रहे हैं या संघबद्ध होकर बौद्ध धर्म की शरण में जा रहे हैं । उनके इस धर्मान्तर के मूल में आध्यात्मिकता की भूख प्रमुख कारण नहीं है, अपितु उत्पीड़क उच्चवर्ग से मुक्ति पाने की इच्छा है । इन उच्च और निम्न वर्गों की पारस्परिक घृणा का अवश्यम्भावी परिणाम सामाजिक विस्फोट के रूप में फलने वाला है । वर्गवैषम्य की खाई को पाटे बिना इस विस्फोट के घातक प्रभावों से बचा नहीं जा सकता । इस खाई में फैले हुए दलदल को सुखाने के लिए क्रान्ति के ज्वालामुखी की आग ही चाहिए । इस आग का एक मात्र अन्य पर्याय वर्गवैषम्य को दूर करने वाला वास्तविक समाजवाद ही है । "समाजवाद ही ....जनसाधारण की मुक्ति का राजपथ है ।"[१३] समाजवादी समाजव्यवस्था में ही........

"श्रम गरिमा का पी दूध
सत्य नवजात
विकसता जाएगा ।।"[१४]

धनजीवी उच्चवर्ग के सम्पर्क से मध्यवर्ग के व्यक्तियों में भी जनघृणा की भावना संक्रमित हो गई है । इस वर्ग में जनता से घुल-मिल जाने वाले, सनावत जैसे लोग विरले ही होते हैं, जो 'काफे-द-मजदूर' की 'अच्छी चाय' पीना पसन्द करते हों । स्वयं निवेदक को अपनी माँ से यह शिकायत है कि गरीब घर से आई हुई उसकी माँ खाते-पीते परिवार की गृहलक्ष्मी बनने के बाद धीरे-धीरे अपनी जमीन को ही तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगी है । लेकिन निवेदक निम्नवर्ग के फटीचरों से घृणा

करना नहीं चाहता। जनता को कुत्ता समझने वाले बॉस पर उसे बेहद गुस्सा आता है। गंदी गली से गुजरते हुए बूढ़ी ठठरी और शिशु ठठरी को देखकर उसके अवचेतन में से अनायास ही जबर्दस्त आह निकल पड़ती है। उसके लिए मनुष्य की अच्छाई की एक मात्र कसौटी व्यक्तिगत हित को जनसामान्य के हित के नीचे रखना है। उसकी दृष्टि में वही मनुष्य अच्छा है, जिसके हृदय में गरीब जनता के लिए करुणा की नदी लहराती है। इसीलिए उसका कहना है कि—

> 'आदमी की दर्दभरी गहरी पुकार सुन
> पड़ता है दौड़ जो
> आदमी है वह खूब।"

मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग के बीच अक्षांश वाले घृणाजन्य फासले तो है ही किन्तु मध्यमवर्ग के उच्च मध्यम वर्ग और निम्न मध्यम वर्ग के स्तरों में भी ये फासले पैदा हो गए हैं। धन की सुविधा के कारण ऊँचा ज्ञान प्राप्त करने वाले लोग विश्वविद्यालयों, सचिवालयों आदि में पद प्राप्त करने के बाद प्राथमिक पाठशालाओं के शिक्षकों को बड़ी ही तुच्छता की दृष्टि से देखने लगते हैं। इस दृष्टि को बढ़ाने में अंग्रेजी दासता का भी बड़ा भारी हाथ है। अंग्रेजी की ऊँची शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति प्राय अपने को जनसाधारण से ही नहीं, अपितु निम्न मध्यम वर्ग से भी वरिष्ठ समझने लगते हैं।

अक्षांश वाले फासलों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के फासले होते हैं, जिन्हें निवेदक ने देशान्तर वाले फासले कहा है। ये फासले दो भिन्न वर्गों के व्यक्तियों के बीच में नहीं, अपितु एक ही वर्ग के व्यक्तियों के बीच होते हैं। ये फासले उस प्रकार के फासले हैं, जिस प्रकार के फासले एक ही समतल मैदान पर खड़े हुए व्यक्तियों में होते हैं। 'विपात्र' में देशान्तर वाले फासलों का उल्लेख मध्यम वर्ग के संदर्भ में हुआ है। यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि इस वर्ग के लोग व्यक्तिबद्धता को जन्म देने वाले वासना और वेदना के कारणों से मुक्त होने पर भी दरमियानी दूरियों के दर्द से क्यों पीड़ित हैं? ऊँचा ज्ञान पाने के बावजूद अक्षांश वाले तथा देशान्तर वाले फासलों को लाँघने में असमर्थ क्यों हैं? इसी विवेचन के प्रसंग में निवेदक ने चिढ़कर यह उत्तर दिया है कि—'हम में सामाजिक चेतना नहीं थी क्योंकि असल में हम सब लोग हरामखोर थे।"[११]

बुद्धिजीवी वर्ग की असामाजिकता का विश्लेषण करते हुए निवेदक ने यह स्पष्ट किया है कि प्राचीन काल में ज्ञान वैयक्तिक मोक्ष का साधन माना गया था। आधुनिक काल में ज्ञान विषयक आध्यात्मिक एवं मोक्ष पर दृष्टिकोण के अनुपयुक्त हो जाने पर ज्ञान को भीतर और बाहर की दरिद्रता से मुक्ति दिलाने वाली सामाजिकता का साधन बना दिया जाना चाहिए था, किन्तु पूँजीवादी समाज में दुर्भाग्य

से ऐसा नहीं हो सका। वह व्यक्ति की भौतिक उन्नति की पूर्ति का साधन मात्र बनकर रह गया। इसीलिए शिक्षित लोग 'अच्छी जिन्दगी बसर करने' की 'विशेष जीवन प्रणाली के उपासक' बन गए। वे 'ठाठ से रहने के चक्कर से बँधे हुए बुराई के चक्कर, में फँस गए।'[७] 'चाहे जैसे व्यक्तिगत उन्नति प्राप्त करना' उनके जीवन का नियम बन गया। इसी के परिणामस्वरूप 'खाओ, पिओ, मौज करो' का सिद्धान्त उनके लिए 'मारो-खाओ, हाथ मत आओ' के सिद्धान्त में बदल गया। नतीजा यह हुआ कि "उदर से लेकर शिश्न तक के पूर्तिवाले जो ऐंद्रियिक जीवन है" उस पर 'बौद्धिक कलई' करना मात्र ज्ञान का उद्देश्य हो गया। संस्कृति और 'ऊँची बातचीत' व्यक्ति की 'आत्मा को सहलाने का एक तरीका' बनकर रह गई। ऊँची बातचीत में पिछड़ जाने के भय पर विजय पाने के लिए रावहसाहब जैसे लोग रोज दो-चार अखबार देख लिया करते हैं। इस कोटि के लोग "अपनी बर्बरता को ढाँकने के लिए रवीन्द्र की जयन्तियाँ मनाते हैं, अपने पशुत्व को छिपाने के लिए, सुन्दर भावों से जंगली आत्मा को ढँकते हैं।"[१८] इन लोगों के लेखे 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गः वेदो ज्ञेयोध्येयश्व' की सुक्ति का कोई महत्त्व ही नहीं है। विशुद्ध जिज्ञासा उनकी दृष्टि में निरर्थक है। ज्ञान के द्वारा अपने व्यक्तित्व को समृद्ध बनाने का विचार सपने में भी उनके मन में नहीं आता। इसी कारण राव साहब की दृष्टि में 'जगत का ज्ञानार्जन आदर नहीं, अपितु उपेक्षा और दया की वस्तु है क्योंकि वह अपने अर्जित ज्ञान का उपयोग करके कैरियर नहीं बना सका।' अपना-अपना कैरियर बनाने के लिए रावसाहब जैसे लोग बॉस की रखैलें बनकर इसी बात में लगे रहते हैं कि किसी प्रकार वे दूसरी रखैलों से अधिक प्रिय बनकर और अधिक ऊँचे ओहदे पर पहुँच जाएँ। ऊँचे ओहदे पर पहुँचने की स्पर्धा के कारण सहयोगी लोग प्रतियोगी प्रतीत होने लगते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि सहयोगियों के बीच में देशान्तर वाली दूरियाँ आ जाती हैं। अवसरवाद के शिकार बने हुए ये लोग व्यक्तिस्वातंत्र्य के नाम पर अपने स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए दौड़-धूप में लगे रहते हैं। अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए किसी दूसरे के हित को चूल्हे में झोंकने में इन्हें कतई संकोच नहीं होता। ऐसे लोगों के लिए मुक्ति बोध ने कहा है कि—

"बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास,
किराये के विचारों का उद्भास।"[१९]

क्रीतदास बौद्धिक वर्ग के रावसाहब जैसे अवसरवादी लोगों की जिज्ञासा मूल में ही दुर्भावनाग्रस्त होने के कारण के समान होती है, क्योंकि स्वार्थ साधन में अनुपयोगी जिज्ञासा इन लोगों को निरर्थक प्रतीत होती है। ये लोग कभी अपने उच्च स्तर को प्रदर्शित करने के लिए किसी बहस में भी भाग लेते हैं तो वे अपने

अन्तरंग व्यक्तित्व मे पशुता से मुक्त नही हो पाते । थोथी बहसो मे लगे हुए ऐसे ही लोगो के सम्बन्ध मे मुक्तिबोध ने लिखा है—

"और मेरी आँखें उन बहस करने वालो के
कपडो मे छिपी हुई
सघन रहस्यमय पूछ देखती ! ।"[१०]

मध्यम वर्ग के जगत जैसे अध्ययनशील व्यक्ति इतने अन्तर्मुख होते हैं कि वे अपने को बाहर की दुनिया मे अजनबी महसूस करने लगते हैं। उनका क्रिया-शक्तिहीन निस्सग जीवन समाज की दृष्टि से निरर्थक हो जाता है। उनमे सामाजिक क्षेत्र मे घुमने की शक्ति नही होती। समाज से असंपृक्त रहने के कारण किसी इरीना के साथ विलायत मे जाकर घर बसाने के स्वप्न देखा करते हैं। इस प्रकार के लोग विदेश जाकर लौट भी आएँ तो उनकी स्थिति ऐसी होती है—"लौट विदेशो से। अपने ही घर पर मैं इस तरह नवीन हूँ। इतना अधिक मौलिक हूँ— । असल नहीं।" साहित्य के अध्ययन के कारण इन लोगो को मानवीय जीवनमूल्यों को समझने की शक्ति अगर प्राप्त हो जाती है, तो भी क्रियाशीलता के अभाव म ये जीवनमूल्य जानकारी मात्र बन कर रह जाते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति बारीक बेईमानियो के सूफियाना अन्दाज से भले ही मुक्त हो, किन्तु जनता से असंपृक्त रहकर आत्मतोष मे जीने के पाप से ये बरी नहीं किए जा सकते। ज्ञान के द्वार लाया गया उत्तरदायित्व निभाने के लिए खतरो का सामना करने से कतराने वाले ये लोग भी सामाजिक दुर्दशा की जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकते। ऐसे ही लोगो के सम्बन्ध में मुक्तिबोध ने लिखा है कि—'आजकल सचाई का सबसे बडा दुश्मन असत्य नही, स्वय सचाई ही है, क्योकि वह ऐंठती नही, सज्जनता को साथ लेकर चलती हैं।"[११] इन लोगो म अपने जीवन मूल्यो के प्रति दुर्दान्त स्नेह की आस्तिकता का अभाव होता है, परिणामत उनमे जीवन की वास्तविक अस्मिता का उदय नही हो पाता। अस्मिता से वचित ये लोग सृजन की क्षमता को खो बैठते हैं। इसी कारण इनका जीवन निस्सग और अन्तर्मुख बन जाता है।

मध्यम वर्ग के लोग उपर्युक्त असामाजिकताओ के कारण दरमियानी फासलो से पीडित हो उठते हैं। अपनी पीडा से राहत पाने के लिए इस वर्ग के लोग 'सम्मिलन वासना' का सहारा लेते हैं। महफिलबाजी, गपबाजी आदि इसी सम्मिलन वासना को तृप्त करने के अनेक साधन हैं। आत्मीय सम्बन्ध से हीन यह थोथी सामाजिकता फासलो को मिटाने के स्थान पर बढाने मे ही सहायक होती है। "क्लब मे जाकर 'ब्रिज' खेलने के बावजूद इन लोगो के बीच की खाई को पाटने वाले ब्रिज तैयार नही हो पाते। महफिलबाजी मे अजीब-सी घुटन महसूस होने लगती है। कॉफी हाउस मे दो-चार घण्टे गप्पे लगाने के बाद ताजगी महसूस होने

के स्थान पर विरक्ति की टूटन मन को पीड़ित करने लगती है। मित्रों को चिट्ठियाँ लिखने और उनसे फोन करने के बाद भी ये फासले ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। ऊपरी सम्बन्धों के कारण ये लोग परिचित होकर भी अपरिचित रह जाते हैं, क्योंकि परिचय सतही और छिछला होता है और अपरिचय घना और कड़ा। एक अबूझ बेपहचान दर्द इन लोगों के जीवन की गति को अवरुद्ध कर डालता है। थोथी सामाजिकता से 'सोशल' बनने का प्रयत्न इनको अकेलेपन के दर्द से मुक्त नहीं कर सकता। फासले बने रहते हैं, क्योंकि फासलों को पाटने वाली सृजनशील संकल्प-शक्ति इनमें नहीं होती। दरमियानी फासलों को दूर करने का एक मात्र उपाय सृजनशीलता को अपनाना है। निस्संगता को झटक कर क्रियाशील बनना है। खयाली धुन्ध में खोये रहने से अपने को उबार कर बुद्धिजीवियों को साल्वादोरद मादारिमागा की पंगत छोड़नी होगी और उसे एड्ना सेण्ट विंसेण्ट मिले के समान शोषित को शोषणमुक्त करने के लिए क्रियाशील बनना होगा। पीड़ितों के प्रति सच्ची करुणा के बिना क्रियाशीलता सम्भव नहीं है। इसलिए मुक्तिबोध ने कहा है—

"……करुणा करनी की माँ है।
बाकी सब कुहासा है, धुआँसा है।"[११]

यदि करुणा-प्रेरित क्रियाशीलता को अपनाकर मध्यम वर्ग वर्गवैषम्य से ग्रस्त समाजव्यवस्था को नहीं बदलेगा, तो दरमियानी फासले बने रहेंगे और प्रेम का भूखा संवेदनशील मनुष्य एक ओर सहानुभूति का एक-एक कण पाने के लिए तरस कर रह जायगा। वर्ग वैषम्य अगर किसी प्रकार बना रहा, तो मनुष्य की प्रेम प्रदान करने की शक्ति, दूसरी ओर, क्षीण होती चली जायगी। इन फासलों के कारण न निम्नवर्ग सुखी है और न सुविधाभोगी उच्च वर्ग संतुष्ट है। उच्च वर्ग के बॉस फासलों से पीड़ित हैं और अहसान तथा अधिकार के बल पर अपने मातहतों का 'साथ' पाना चाहते हैं, पर क्या वह उन्हें मिल पाता है? मध्यम वर्ग के लोग भी अकेलेपन से घिर कर त्रस्त हैं। उनकी स्थिति कटी हुई डाल के समान निजत्व से हीन हो गई है। सृजनशीलता के अभाव में वे एबीलार्ड बनकर रह गए हैं। विद्याकेन्द्र का सारा वातावरण घुटन से भरा है। इस घुटन से भरे तिलस्म को तोड़कर बाहर आने के लिए वहाँ के शिक्षकों की आत्माएँ तड़प रही हैं, पर निस्संगता के कारण तिलस्म की कैद तोड़ पाने में असमर्थ हैं। हेमिंग्वे जैसा अदम्य जिजीविषा से सम्पन्न व्यक्ति पूँजीवादी समाज में सर्वत्र व्याप्त अकेलेपन की असहायता के कारण आत्महत्या करने के लिए विवश हो गया, फिर सामान्य लोगों की स्थिति का कहना ही क्या? व्यक्तियों की जिजीविषा को सार्थक रूप में क्रियाशील बनाए रखने के लिए सामाजिक विषमता को नष्ट करके आत्मीय सम्बन्धों को

विकसित करना ही होगा।

दरमियानी फासलो को दूर करने के लिए आत्मीय सम्बन्ध आवश्यक हैं और आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र व्यक्तित्व अपेक्षित हैं। मध्यम वर्ग के लोगो की आत्माएँ प्राय पैसो के लिए बिक जाने के कारण तिजारती जननेन्द्रियो के समान हो जाती हैं। इस प्रकार के बिके हुए लोगो के साथ 'आत्मीय' सम्बन्ध स्थापित नही किए जा सकते, क्योकि इनके पास आत्मा होती ही कहाँ है ? मुक्तिबोध की दृष्टि मे 'सामाजिक व्यक्तित्व' का नाम ही 'आत्मा' है। बिके हुए आत्महीन लोगों के साथ सम्बन्ध रखने की अपेक्षा दुनिया के किसी अँधेरे कोने मे मर जाना निवेदक को पसन्द है। इसीलिए दर्शनशास्त्री मिश्र ने विद्या केन्द्र के घुटनभरे वातावरण को छोडकर चले जाने का इरादा निवेदक के पास व्यक्त किया, तो निवेदक को उसका साहस अच्छा ही लगा। परन्तु इसके साथ अपनी जिम्मेदारियो से भरी जिन्दगी की असहायता का अनुभव भी उसे तीव्रता के साथ हुआ। अपनी असमर्थता के अनुभव के कारण वह मिश्र के साथ के बावजूद अकेला अनुभव करने लगा। दिल की हलचल के मुताबिक 'हलचल' न कर पाने से उसकी दशा उस छपाई मशीन के समान हो गई, जो चल तो रही है, पर कागज के न होने से छपाई के काम मे व्यर्थ सिद्ध हो रही है। सृजनशील संकल्प शक्ति के कुंठित हो जाने के कारण उत्पन्न बजरपन ने उसे बुरी तरह से थका-हारा बना डाला है। इस विपरीततम स्थिति मे भी उसकी कांडिमल जान ने आत्म-समर्पण करने से इनकार कर दिया है। वह मृत्यु के अन्धेरे मे समा जाने की कल्पना करने तक की सुविधा पाने के लिए खाली नही है। उसे निराशा ने ग्रस नही लिया है, इसलिए 'से नो टु डेथ' यह पुस्तक का नाम अच्छा लगता है। उसे जनसमुदाय की 'तालीम की भूख' देखकर यह विश्वास हो चला है कि भविष्य उज्ज्वल है। उपन्यास का अन्त करते-करते वह एड्ना सेण्ट विन्सेण्ट मिले के समान सघन आत्मीय सम्बन्धो के परिवेश मे जीने का सकल्प व्यक्त करता है। वह 'सकर्मक सत्‌चित्‌ वेदना भास्वर' समानधर्मा को न पाकर मुक्तिबोध ने लिखा है—

"अपने समाज मे अकेला हूँ बिलकुल,
मुझमे जो भयानक छटपटाहट है
नही वह किसी मे।"[११]

'विपात्र' के निवेदक ने दरमियानी फासलो और अकेलेपन की पीडा को व्यक्त करते हुए आत्मीय सम्बन्धो के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। रुचिभिन्नता के कारण व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेद तो बना ही रहेगा और भेद के होने पर भिन्न रुचि के व्यक्तित्वो मे टकराहट होती ही रहेगी। मतभेदों की दूरियों के बावजूद आत्मीय सवन्धों के कारण दरमियानी फासले और अकेलापन नहीं रहेंगे। मतभेदो

और रुचिभेदों की दूरियाँ लीलाभूमि मे परिवर्तित हो जाएँगी । पारम्परिक नक्रिय आत्मिक सम्बन्ध अपने निर्वैयक्तिक गीलेपन मे लीलाभूमि को हरियाली से समृद्ध कर देंगे । यह लीला क्या है ? इसका प्रयोजन कौन सा है ? इन प्रश्नों के उत्तर मे हमारा ध्यान परमेश्वर की लीला की व्याख्या की ओर सहज ही चला जाता है । परमेश्वर भी अपने अकेलेपन की निरानन्दता को लीला के द्वारा आनन्द में परिवर्तित कर देता है । लीला के अतिरिक्त उसका दूसरा प्रयोजन नही है । इसी प्रकार दुनियादारी के प्रयोजनों से मुक्त सहज मानवीय सम्बन्ध ही लीला है । सहज मानवीयता की छाया मे व्यक्तित्वो की खुली टकराहट भी एक दूसरे के दृष्टिकोणों को विशद बनाने मे सहायक ही बनेगी । मुक्तिबोध ने इसीलिए कहा है कि—"एक दूसरे का मूल्यांकन करते । हम निज को सँवारते जाते है ।" अन्त.करण का आयतन सक्षिप्त न हो, तो फासले महकते मुनहले फैलावो मे रूपातरित हो जाते है । ऐसी स्थिति मे किसी से हाथ मिलाते ही दिलो के मिलने मे विलम्ब नही होता । तभी तो मुक्तिबोध का कहना है कि—

"...... हाथ तुम्हारे मे जब भी मित्र का हाथ
फैलेगी बरगद छाँह वही ।"[२४]

निष्कर्ष यह है कि 'विपात्र' बुद्धिजीवियो के सकट की अभिव्यक्ति है । श्रीकान्त वर्मा ने मुक्तिबोध की कहानियों के सम्बन्ध मे जो यह लिखा है कि—"मुक्तिबोध की कहानियाँ मध्यम वर्ग के विरुद्ध एक जिरह है,"[२५] वह 'विपात्र' पर भी पूर्णत. लागू है । मध्यम वर्ग के विरुद्ध की गई यह जिरह उसे 'जनचरित्री' बनाने के लिए जनता का पक्ष लेकर की गई है । विद्यानिवास मिश्र ने ठीक ही कहा है कि—"मुक्तिबोध का काव्य (साहित्य) ऐसा नरकाव्य है, जिसमें नारायण की आँखो की व्यथा भरी है ।"[२६]

टिप्पणियाँ

१. चाँद का मुह टेढा है : मुक्तिबोध : पृ. १२९
२. विपात्र : पृ. ६५
३. वही, पृ. १९७
४. विपात्र : पृ० ७३
५. चाँद का मुँह टेढा है, पृ० ८६
६. विपात्र, पृ० ३०
७. वही, पृ० ३२
८. वही, पृ० ७५
९. वही ,पृ० ५४

१० "हम लोगों का एकमात्र धर्म है—सुरतिश्रम
उस अत्यज का एकमात्र सुख है—मैथुन सुख।" (अज्ञेय)
११ विपात्र, पृ० ८४
१२ चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० १९६
१३ नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध मुक्तिबोध, पृ० ११५
१४ चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० १३९
१५ वही, पृ० ४१
१६ विपात्र, पृ० ३३
१७ काठ का सपना पृ० ३४
१८ विपात्र, पृ० ८०
१९ चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० २०४
२० वही, पृ० २९
२१ एक साहित्यिक की डायरी, पृ० ५०
२२ काठ का सपना, पृ० ४४
२३ चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० २५५
२४ वही, पृ० ६
२५ काठ का सपना : प्राक्कथन, पृ० ९
२६ गजानन माधव मुक्तिबोध : सं० लक्ष्मणदत्त गौतम, पृ० २३९

वे दिन : अकेलेपन की अवसादपूर्ण गाथा

डा० चन्द्रभानु सोनवणे

आधुनिकता-बोध का तीसरा मोड़ 'वे दिन' है, जिसमे आधुनिकता की कला-त्मक अभिव्यक्ति बड़ी सहजता से हुई है।"

डा० इन्द्रनाथ मदान

"मृत्युबोध और अकेलेपन का बोध आधुनिक मानसिकता के महत्त्वपूर्ण अग हैं। 'वे दिन' के कलेवर मे इन अगो को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।"

"लड़ाई में बहुत लोग मरते हैं—इसमें कुछ अजीब नही है लेकिन कुछ चीजें हैं जो लड़ाई के बाद मर जाती हैं—शाति के दिनो में हम उनमे से थे।"

'वे दिन'

"वे दिन उपन्यास में मृत्युबोध की चर्चा गौण रूप से आई है, उसका मुख्य विषय तो अकेलेपन का बोध है।"

"व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के अलगाव के अँधेरे को परिचय के द्वारा भेद कर अन्तरग सम्बन्ध स्थापित किए बिना अकेलेपन की पीड़ा से मुक्ति सम्भव नहीं है।"

"बुनियादी अकेलेपन की सवेदना को अभिव्यक्त करने वाला यह उपन्यास इन्द्रिय सवेदनो और मनोदशाओं को 'विविड' और 'वडरफुल' ढग से अकित करने के कारण अद्वितीय हो गया है।"

१३
वे दिन

डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान आधुनिकता-बोध की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास-साहित्य के तीन महत्त्वपूर्ण मोड़ मानते हैं। उनके अनुसार पहला मोड़ 'गोदान' है, जिसमें आधुनिकता का अर्थ स्पष्ट हुआ है तथा दूसरा मोड 'शेखर : एक जीवनी' है, जिसमें आधुनिकता का विकसित रूप अंकित हुआ है। आधुनिकता-बोध का तीसरा मोड़ 'वे दिन' है, जिसमें आधुनिकता की कलात्मक अभिव्यक्ति बड़ी सहजता से हुई है।[1] प्रथमतः आधुनिकता-बोध की दृष्टि से 'वे दिन' पर विचार करना उपयुक्त होगा।

आधुनिकता-बोध आज सारे संसार के साहित्य क्षेत्र का सर्वाधिक प्रचलित फैशन है। श्री निर्मल वर्मा हिन्दी साहित्य में आधुनिकता-बोध के अध्वर्यु व्यक्तियों में से एक माने जाते हैं। इसलिए उनके साहित्य में आधुनिकता-बोध से सम्बद्ध मानसिकता का समावेश अनिवार्यतः हुआ है। मृत्युबोध और अकेलेपन का बोध आधुनिक मानसिकता के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। 'वे दिन' के कलेवर में इन अंगों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।

यद्यपि 'वे दिन' में मृत्युबोध की चर्चा कुछ-एक प्रसंगों में हुई है, किन्तु इन प्रसंगों में मृत्युबोध ओढ़ी हुई मानसिकता मात्र प्रतीत होती है। पश्चिमी संसार में मृत्युबोध का प्रमुख आधार युद्ध की विभीषिका रही है। प्रस्तुत उपन्यास का घटना-स्थान प्राग नगर है, जो चेकोस्लोवाकिया की राजधानी है। यद्यपि यह नगर द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका में से गुजरा है, किन्तु इस उपन्यास में किसी ऐसे स्थल को अंकित नहीं किया गया है, जो इस विभीषिका को साकार करने के लिए आधार बन सके। इसके अतिरिक्त भुक्तभोगी पात्रों के माध्यम से भी मृत्युबोध को उभारने में लेखक को सफलता नहीं मिली है। भुक्तभोगी पात्रों में से एक पात्र फ्रांज है, जिसका यह कहना है कि "तुम्हें अपना बचपन लड़ाई में नहीं गुजारना चाहिए......वह जिन्दगी भर पीछा नहीं छोड़ती।"[2] यद्यपि फ्रांज का बचपन लड़ाई में गुजरा था, किन्तु वह लड़ाई किस रूप में उसके पीछे पड़ी है, यह स्पष्ट नहीं है। सचमुच ही

यदि लड़ाई उसके पीछे पड़ी होती, तो वह 'तटस्थ भाव से' लड़ाई की घटनाएँ न सुनाता। फ्राज के अतिरिक्त लड़ाई की विभीषिका में से गुजरा हुआ दूसरा पात्र रायना है, जिसने जवानी के दिनों में लड़ाई का आतंक सहा है। इस कारण वह शस्त्रास्त्रों के खिलौनों से भी सख्त नफरत करती है। यद्यपि उसने जाक के प्रसंग में नाजियों के कॉन्सेंट्रेशन कैम्प का उल्लेख किया है, किन्तु यह उल्लेख निरातंक-सा ही प्रतीत होता है। इस प्रसंग से यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता कि लड़ाई की विभीषिका में से बच निकलने के बावजूद ऐसे कौन-से कारण हैं, जिनके कारण लड़ाई के बाद शान्ति के दिनों में उसे अपना घर ही कॉन्सेंट्रेशन कैम्प लगने लगा। हम उन कारणों को समझ पाने में असमर्थ रह जाते हैं, जिनके कारण रायना अपने और जाक के सम्बन्ध में यह कहती है कि "लड़ाई में बहुत लोग मरते हैं—इसमें कुछ अजीब नहीं है लेकिन कुछ चीजें हैं जो लड़ाई के बाद मर जाती हैं—शान्ति के दिनों में हम उनमें से थे।"[1]

'वे दिन' उपन्यास में मृत्यु के आतंक की अभिव्यक्ति केवल उस पोलिश यहूदी के प्रसंग में हो सकी है, जिसके लिए महज जीना मात्र जीवन का सबसे बड़ा सुख था। यहूदी होने के कारण नाजियों ने उसे गोली से उड़ा दिया था। मृत्युबोध से सम्बन्धित यह छोटी-सी वर्णित घटना कथानक का अत्यंत गौण भाग है और इस घटना के झकझोरने वाले प्रभाव के अंकन में लेखक विशेष रूप से प्रवृत्त नहीं है।

लड़ाई के अतिरिक्त शासन विशेष के आतंक के माध्यम से भी मृत्युबोध को उभारा जा सकता था। विभक्त बर्लिन इस प्रकार के आतंक का धारदार स्थल बन सकता था, किन्तु विभक्त बर्लिन की दृष्टि से केवल इतना ही कहा गया है कि फ्रांज की माँ पश्चिम बर्लिन में रहती थी और हर महीने उसकी ओर से फ्रांज को कुछ न कुछ मिलता ही रहता था। इसी कारण फ्रांज के साथी उससे मजाक में कहा करते थे कि उसे दोनों दुनियाओं का 'आनन्द' मिलता है। साम्यवादी दुनिया के ।गमून चेकेस्लोवाकिया के शासन के प्रतिबन्धमय रूप की दृष्टि से केवल इतना ही उल्लेख हुआ है कि हॉस्टेल के रेडियो पर केवल प्राग को सुनने की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त फ्रांज के कमरे में दीवार पर लगे नियिन्सकी के चित्र का उल्लेख है, फ्रांज ने जिसे 'शैतान' कहा है। निधिन्सकी कौन है और उसकी शैतानियत का रूप क्या है, यह सामान्य पाठक के लिए अनबूझ बना रहता है। कहने का आशय यह है कि मृत्युबोध को उभार सकने वाले संभावित स्थलों का यथोचित उपयोग नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत प्राग का चित्रण 'सिटी ऑफ ड्रीम्स' के रूप में ही हुआ है। स्कोटिगोरिक के सम्बन्ध में रायना तो यह कहती भी है कि—"इट इज लाइक ड्रीम लैण्ड।"[2] ऐसी स्थिति में उपन्यासगत मृत्यु का डर उसी प्रकार अवास्त-

विक डर सा प्रतीत होता है , जिस प्रकार स्केटिंग रिंक की उस लड़की का डर है, जो लड़कों के सीटी बजाने पर डर का अभिनय करते हुए चीख उठती है और उसकी वह चीख उनकी हँसी के ठहाकों में डूब जाती है । ड्रीम-लैण्ड के वातावरण में मृत्यु का डर दिखाए बिना कैसे रह सकता है ?

उपन्यास के भारतीय पात्रों की दृष्टि से तो मृत्युबोध बैठे-ठाले की बातचीत तक ही सीमित है । थानयुन से बातें करते समय इंदी लड़ाई की चर्चा छोड़ देता है, जिस पर थानयुन 'मुसकराकर' पूछ ही बैठता है कि मुद्दत से बीती लड़ाई की बात उसे कैसे सहसा याद आ गई ? स्वयं इंदी को यह पता नहीं है कि इस 'अजीब' बात की याद उसे क्यों हो आई है ? कि "एक बार मैं ऊँचे टावर पर चढ़ा था......उस दिन मैंने पहली बार मृत्यु के बारे में सोचा था ।" अपने मृत्युविषयक चिन्तन पर उसे 'हैरानी' अवश्य है, किन्तु वह मृत्युबोध के आतंक से सर्वथा मुक्त है । स्पष्ट है कि इंदी और थानयुन के लिए मृत्युबोध की चर्चा केवल फैशन की वस्तु है, जीवन की भोगी हुई सचाई नहीं । अनुभव की सचाई के अभाव के कारण ही वे मृत्युबोध से आतंकित नहीं हैं ।

'वे दिन' उपन्यास में मृत्युबोध की चर्चा गौण रूप से आई है, उसका मुख्य विषय तो अकेलेपन का बोध है । आधुनिकता बोध के अनुसार यह अकेलेपन का बोध महज जीने के नंगे बनैले आतंक से जुड़ा है । सामान्यतः यह समझा जाता है कि अकेलेपन का रामबाण इलाज प्रेम है, किन्तु आधुनिकता बोध का बुनियादी अकेलापन इस इलाज के किए जाने पर भी घटने के स्थान पर बढ़ने वाला मर्ज है । 'वे दिन' उपन्यास में इसी बुनियादी अकेलेपन की अवसादमय स्थिति की अभिव्यक्ति है । हमें यह देखना है कि अकेलेपन की इस मूल संवेदना को अभिव्यक्त करने में लेखक को किस सीमा तक सफलता मिली है ?

अकेलेपन की संवेदना को गहराने के लिए लेखक ने 'वे दिन' में अत्यन्त सतर्कता से प्रयत्न किया है । उपन्यास का आरम्भ अकेलेपन की असहाय स्थिति से किया गया है तथा उपन्यास का अन्त अकेलेपन की पीड़ा को भुलाने के लिए प्राग से दूर पहाड़ों पर चले जाने के इंदी के विचार के साथ हुआ है । उपन्यास के बीच में स्थान-स्थान पर अकेलेपन को प्रगाढ़तर रूप में उपस्थित करने के लिए विविध प्रकारों से सहायता ली गई है । और तो और, वीरान टैक्सी-स्टैण्ड के टेलीफोन की 'आतुर अकेली पुकार' को सुनने वाले के अभाव का अंकन सोद्देश्य है । इसी प्रकार होस्टल के सूने गलियारे में अचानक अकेले पड़ गये बच्चे के समान बार-बार चीख उठने वाले टेलीफोन का उल्लेख अकेलेपन के भावबोध की गूंज लिए हुए है । पात्र एवं परिस्थिति का चयन करते समय अकेलेपन की अनुकूलता को दृष्टि में रखकर परदेश में अस्थायी रूप से रहने वाले विद्यार्थियों को चुनने में लेखक का कौशल

प्रकट है । प्राय ऐसे विद्यार्थियों के प्रति स्थानीय लोगों की जिज्ञासा म्यूजियम इन्ट-रेस्ट तक ही सीमित होती है । अन्यथा प्राय. इन विदेशी विद्यार्थियो को अलग ही छोड दिया जाता है । इसके कारण इंदी और थानयुन तीन-तीन वर्ष से प्राग मे रहने के बावजूद अपने को अजनबी अनुभव करते हैं । इसके अतिरिक्त उपन्यास की कथा का काल क्रिसमस की छुट्टियों का काल है । छुट्टियो के कारण इंदी का स्मालियम रूममेट किसी दूसरे स्थान पर चला गया है, जिसके कारण इंदी अकेलेपन का अनुभव करता है ।

आधुनिक-बोध के अनुसार हर व्यक्ति दूसरे के लिए अँधेरा है । व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के अलगाव के अँधेरे को परिचय के द्वारा भेद कर अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित किए बिना अकेलेपन की पीडा से मुक्ति सम्भव नही है । अत होस्टल के विदेशी विद्यार्थियों मे अन्तरंग घरेलू सम्बन्ध की मायावी झलक का होना स्वाभाविक ही है । होस्टल के तीसरी मंजिल पर बेलग्रेड का रहनेवाला युगोस्लाव मेलन्कोविच राजनीतिक कारण से अपने घर नही जा सकता । वह जब कभी आधी रात को अपनी पीडा को एकोर्डियन के स्वरो में वाणी दे देता, तो होस्टल के विद्यार्थी एक दूसरे के कानो मे फुसफुसा कर कहते—"यह मेलन्कोविच है, जो अपने घर नही जा सकता ।" स्वय इंदी को अपने कमरे मे रायना को गुनगुनाते हुए बर्तन धोते देखकर घर के आत्मीय वातावरण की याद आ जाती है । उसे ऐसा लगने लगता है कि जैसे वह अपने घर मे ही है और उसकी बड़ी बहन रसोईघर मे काम करते समय धीरे-धीरे गुनगुना रही है किन्तु घर के आत्मीय वातावरण की याद करने वाले इसी इंदी की पत्रविषयक उत्सुकता अपनी बहन के आत्मीयतापूर्ण पत्र को पाकर सहसा मर जाती है । यह समझ मे नहीं आता कि वह बहन के पत्र को पढ़कर उस रात मन से अपने घर क्यों नही जाना चाहता था ? वह उस पत्र को अगले दिन पढने के लिए जेब मे रख छोडता है । शुक्रवार को मिले इस पत्र को वह रविवार को भी नहीं पढ़ पाता । इतना ही नहीं, उसे इस बात की हलकी-सी खुशी ही होती है कि बिजली के न होने के कारण वह उस पत्र को पढ नही पायेगा । इंदी ने इस पत्र को बाद मे कब पढा, या कभी पढा ही नहीं, इसके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा गया है । बहन के पत्र की इस प्रकार उपेक्षा करने वाला इंदी यदि अकेलेपन की पीडा का शिकार है, तो वह उसके लिए बहुत कुछ खुद जिम्मेदार है । यदि उसे अपने घर की याद नही सताती, तो घरेलू सम्बन्ध के अभाव के कारण उत्पन्न उसकी अकेलेपन की पीडा का मतलब ही नही रह जाता । इंदी के समान ही घर की अवहेलना थानयुन मे भी दिखाई देती है ।

अकेलेपन की पीडा को भोगने वाले इंदी, थानयुन आदि आधुनिक युवकों की तुलना मे हमे कुछ अन्य पात्र ऐसे दिखाई देते हैं, जो घरेलू सम्बन्धों से टूट कर

दिशाहारा उल्का की तरह भटक नहीं गए हैं। फ्रांज की माता दूसरा विवाह करके पश्चिमी बर्लिन में बस जाने के बाद भी अपने अट्ठाईस वर्ष के बेटे को हर महीने कुछ-न-कुछ भेजती ही रहती है। इसी प्रकार थानथुन की माता इकलौते बेटे के विदेश चले जाने पर 'बहुत अकेली' रह जाती है। वह दूसरा विवाह करने से पूर्व अपने बेटे के मुख का विचार छोड़ नहीं पाती, इसीलिए वह अपने विवाह के सम्बन्ध में बेटे की प्रतिक्रिया को जानने के लिए उत्सुक है। फ्रांज और थानथुन की इन माताओं के अतिरिक्त पीटर जैसा सामान्य गेटकीपर भी घर से जुड़ी हुई आत्मीयता की भावना से वंचित नहीं है। होस्टल के विद्यार्थी धनाभाव की दशा में घर चिट्ठी लिखने के लिए डाक-टिकट खरीदने के बहाने हमेशा पीटर से पैसा उधार लेते रहते हैं। पैसा देते समय पीटर को इस बात का संतोष होता है कि हजारों मील दूर रहने के बावजूद ये विद्यार्थी अपने घरों को नहीं भूले हैं। घर-विषयक इस आत्मीयता के कारण होस्टल के तरुण विद्यार्थियों की तुलना में वह 'सेंट' तो क्या, एंजिल से कम नहीं है।

अपने-अपने घरों से उदासीन इन विद्यार्थियों का प्रतिनिधित्व इंदी करता है। उसके पक्ष में यह कहा जा सकता है कि उसने ऐसी उम्र में घर को छोड़ा है, जब कि बचपन का सम्बन्ध घर से टूट जाता है तथा बड़प्पन का नया रिश्ता अभी जुड़ नहीं पाता। घर छोड़ने के बाद विशिष्ट काल तक घर से दूर भिन्न सांस्कृतिक वातावरण में रहने के बाद उसके लिए फिर से अपने पुराने घर में पहले की तरह लौट सकना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में उसे घर बहुत अवास्तविक-सा जान पड़ता है, जैसे वह दूसरे की चीज हो, दूसरे की स्मृति हो! यह तर्क एक सीमा तक ही सच है, क्योंकि घरेलू आत्मीय सम्बन्ध दो व्यक्तियों के बीच के अन्तराल को पाटने में समर्थ हो सकते हैं। यदि दुर्जनतोषन्याय से यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि तेजी से मानसिक विकास लाने वाली उम्र में घर छोड़ने के बाद घर का लगाव नहीं रह पाता, तो यह भी उतना ही सच है कि इसी उम्र में नए रिश्ते जोड़ने की संभावनाएँ भी सबसे अधिक होती हैं। इसके लिए एक मात्र शर्त इतनी है कि व्यक्ति में परखने की प्रवृत्ति हो। यदि हम अन्य व्यक्ति की प्राइवेसी का आदर करने के शिष्टाचार के नाम पर उसकी निजी जिन्दगी में दखल न देने की मान्यता से चिपके रहेंगे, तो अकेलेपन की भावना के अतिरिक्त हमारे हाथ और क्या लग सकता है? हम एक दूसरे की निजी जिन्दगी का परिचय केवल व्यावहारिकता की दृष्टि से ही नहीं पाना चाहते। व्यावहारिकता की सीमाओं में बँधा हुआ सतही परिचय हमें भीड़ में भी अकेला बना देता है। इसलिए इंदी का यह विचार कि हम एक दूसरे को इतनी सीमा तक जानने लगे थे, जहाँ यह पता चल जाता है कि हममें से कोई एक दूसरे की मदद नहीं कर सकता। यदि कोई कुछ मदद कर भी

सकना है, तो उतनी नहीं, जितनी दूसरे को जरूरत है, ठीक नहीं है। यह ठीक है कि एक विशिष्ट सीमा के आगे कोई किसी की मदद नहीं कर सकता, किन्तु यह भी सही है कि वह परिचय-जन्य सहानुभूति दे सकता है, जो सबसे बड़ी मदद सिद्ध होती है और जिसके कारण नरक की घटक भी नहीं रह जाती। ट्रेजडी तो यह है कि इंदी के समान रायना भी अपने और इंदी के सतही परिचय को आवश्यकता से अधिक समझती है। रायना की इस धारणा के पीछे दूध से जलने के बाद छाछ को भी फूँक-फूँक कर पीने वाले व्यक्ति की सतर्कता है। व्यावहारिकता के बने बनाए घेरे से बाहर आकर प्राप्त किए गए परिचय में ही अन्तरंग सम्बन्ध का खुलापन महसूस होता है और इस प्रकार के खुलेपन में ही किसी के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास होता है।

अकेलेपन की संवेदना के इस प्रसंग में यह देखना आवश्यक है कि अकेलेपन से पीड़ित पात्रों ने अपने अपने अकेलेपन से मुक्ति पाने के लिए जिन मार्गों का सहारा लिया है, वे कहाँ तक सही हैं। प्रथमतः हम रायना के अकेलेपन पर विचार करें, तो हमें यह दिखाई देता है कि अपने अकेलेपन से छुटकारा पाने के लिए वियेना से बाहर प्राग आदि नगरों में जाती रहती है। इन प्राग आदि पराये नगरों में भी वह सर्दियों के मौसम में जाना पसन्द करती है, क्योंकि सर्दियों के दिनों में टूरिस्टों की भीड़ नहीं रहती। पराये नगरों में भी अगर अकेलेपन का उसे अनुभव होने लगता है, तो वह उस अकेलेपन को बहलाने के लिए ट्रेनें बदलती रहती है, जिससे उसका अकेलापन बहुत कुछ कम हो जाता है। अकेलेपन के तनाव से मुक्त होने के लिए वह इंदी के समान अपने को शराब में डुबो देना चाहती है। शराब के नशे की एक सीमा के बाद प्रायः मनुष्य ढेर-सी बातें कहने के लिए आतुर हो जाता है। नशे में उसे इस बात का भान नहीं रह जाता कि सुनने वाले के लिए उसकी बातें विशेष महत्त्व की हैं या नहीं। श्रोता की सहृदयता निजी अन्तरंग को खोलने की कसौटी होती है। शराबी आदमी नशे में इस कसौटी को परखने की शक्ति खो देता है। नशे के माध्यम से अकेलेपन से छुटकारा पाने की यह प्रवृत्ति तात्कालिक उपाय मात्र बनकर रह जाती है। अकेलेपन के दबाव और तनाव के प्रसंग में शराब के नशे का समर्थन केवल उस दशा में ही किया जा सकता है, जबकि दबाव और तनाव झर जाएँ और वह नशा वेकवेंघाएँपन के अलगाव को भेदने की भूमिका बन जाए। मॉनेस्टरी से जरा नीचे उतरने के बाद होस्तिनेस या सराय में भरपूर बियर पीने के बाद ही रायना इंदी के सामने सहज भाव से खुलकर बोलने लगती है और इस खुलेपन के कारण इन दोनों में निकटता का अनुमान बढ़ जाता है। प्रस्तुत उपन्यास में केवल इसी दृष्टि से शराब के नशे को स्थान दिया गया होता या मौसम के तकाजे के अनुसार उसकी मात्रा निरत होती, तो कोई बात नहीं थी, किन्तु स्टडनेगाठी

बात तो यह है कि सम्पूर्ण उपन्यास शराब से सराबोर है।

उपन्यास का घटनास्थल प्राग बियर के नगर के रूप में में विख्यात है। इस बियर के नगर से सम्बन्धित इस उपन्यास में बियर का तो जैसे अखण्ड साम्राज्य है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही इंदी टूरिस्ट एजेन्सी में जाने से पहले बियर पीता है और उसके बियर पान के साथ ही उपन्यास का अन्त होता है। उसे बियर पीने के बाद गिलास में बची हुई बियर फेंकना हमेशा ही अखरता है। इसीलिये वह होस्तिनेस या सराय में रायना के गिलास में बची हुई बियर को उसके बराबर मना करने के बावजूद पी कर खत्म कर देता है। बियर के अतिरिक्त अन्य अनेक शराबों का भी वह रसिक है। उसके पलंग के नीचे का भाग तो मानों शराब की खाली बोतलों का 'सैलर' ही है। वह तो कुछ पी कर संभलने वाले व्यक्तियों में से एक है।[६]

इंदी के समान ही रायना पीती हीं नहीं, बेतहाशा पीती है। उसे तो बचपन से ही बियर पीने की आदत है। इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त उपन्यास के अन्य पात्र भी प्रायः जब तब पीते ही रहते हैं। और तो और पीटर जैसा गौण पात्र भी गेटकीपरी करते-करते विदेशी टिकट इकट्ठा करता रहता है और उन्हें बेच कर अपनी रात को बियर के पैसे जुटाता रहता है।

'वे दिन' उपन्यास में केवल शराब का ही बोलवाला नहीं है, अपितु वोद्का, स्लीवोवित्से (ब्रांडी), शेरी, कोन्याक, तोकाई, पापरिका आदि न जाने कितने जाने-अनजाने शराबों के नाम आये हैं। इतना ही नहीं, विभिन्न शराबों के प्रभाव वैशिष्ट्य की सूक्ष्मताओं का जहां-तहाँ उल्लेख हुआ है। कहते हैं कि वोद्का सुख का चिह्न हैं, जिसे पीने के बाद इंदी को हमेशा भूख सताने लगती थी। स्लीवोवित्से (ब्रांडी) को पीकर ऐसे लगने लगता है, "जैसे अन्तड़ियों में कोई धीमे-धीमे गुदगुदी कर रहा हो।"[७] कोन्याक तो अपने प्रभाव में अद्भुत होती है। "और चीजें प्यास बुझाती हैं, कोन्याक उसमें खेलती है—और वह खलती नहीं। वह खोलती है……… दिन भर के जमा किए हुए शब्दों को।"[८] इन सबसे भिन्न प्रभाव तोकाई का पड़ता है। वह "शुरू-शुरू में हमेशा खामोश-सा बना देती है। लेकिन लगता नहीं कि हम खामोश बैठे हैं। हम सुनने लगते हैं—आवाजों को, जो अब हैं या जो हमने बहुत पहले सुनी थीं और यह 'सुनना' उतना ही उत्तेजित कर देता है जितना बातें करना। ………पीने के समय कुछ बीता हुआ नहीं लगता। लगता है, सब स्मृतियां एक जगह ठहर गई हैं—पानी के नीचे सुडौल, चमकीले पत्थरों की तरह।"[९] अनावश्यक रूप में जहां-तहां की गई शराबों की चर्चा के विषय को अनावश्यक आलोचना विस्तार से बचने के लिए हम यहीं पर छोड़ देना ठीक समझते हैं।

अकेलेपन के दुःख को जिस प्रकार कुछ काल के लिये शराब की मस्ती में डुबोने का प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार उसे मदन की मस्ती में भी अल्पकाल

के लिए डुबोया जा सकता है। कुछ लोगों का तो ऐसा विचार है कि अकेलेपन का रामबाण इलाज ही मदनमस्ती है। उनका तर्क है कि अद्वैतवाद का एकाकी ब्रह्म भी अकेलेपन की ऊब से उबरने के लिये निजी स्वरूप को ही पति-पत्नी के रूप में द्विधा विभक्त करके स्वरूपगत आनन्द को विषयगत रूप देकर भोग करना है। मदन या काम विषयक यह विचार गलत नही है, इसमे केवल इतना परिवर्तन कर लेना चाहिए कि काम अकेलेपन का शर्तिया इलाज तभी बन सकता है, जब कि वह सह-भोक्ताओ के अन्तरंग सम्बन्ध की भूमिका बन कर सहभोक्ताओ को एक दूसरे का पूरक अर्धांग बना दे। अन्यथा यह भी शराब की मस्ती की तरह तात्कालिक भुलावा मात्र बन कर रह जाता है। प्रस्तुत उपन्यास मे देह की सतह तक सीमित रह जाने वाले काम सम्बन्धों का अनेक प्रसगो मे उल्लेख हुआ है। उपन्यास के प्रारम्भिक भाग मे ही इदी ने शिकायत करते हुए उस नियम का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार कोई भी विद्यार्थी आठ बजे के बाद अपनी प्रेमिका को होस्टल पर नही ला सकता था। उसे यह नियम 'काफी हास्यास्पद' लगता है। इस नियम के कारण गर्मियों में तो विशेष अडचन नही होती थी, क्योंकि गर्मियो की रातों मे अपनी-अपनी लडकियो के साथ चेखोवी गार्डन्स आदि स्थानों मे सहवास का सुख उठाया जा सकता था; किन्तु सर्दियो के दिनो के लिए यह नियम अत्यन्त ही असुविधाजनक था। सर्दियो के दिन फ्राज जैसे विद्यार्थियो के लिए अडचन नही थी, क्योंकि वह होस्टल पर नही रहता था। उसके कमरे पर उसकी लडकी कभी भी आ जा सकती थी। सर्दियो मे उसके कमरे मे अगीठी मे सुलगती हुई आग देख कर ही उसके मित्र जान जाते थे कि उसकी लडकी मारिया घर मे है। होस्टल पर रहने वाले साहसी प्रेमी सर्दियो के दिनों में भी म्यूजियम आदि की सीढियो के अँधेरे कोनो मे यथाकथचित् सहवाससुख उठा ही लेते थे, किन्तु निश्चिन्तता और सुविधापूर्वक नही। इसलिए विद्यार्थी सर्दियो के दिनो मे होस्टल के गेटकीपर या 'एंजिल' को मना कर इस मुश्किल से बच जाते थे। होस्टल के कमरे मे एक दूसरी दिक्कत अवश्य थी और वह थी रूममेट की। अपने रूमानियम रूममेट की प्रेमिकाओ के कारण इदी को अक्सर अपनी शामे होस्टल के बाहर काटनी पडती थी। इदी की असुविधा का विचार करके उसके रूममेट ने उसे आँखें मूँदकर अपने पलग पर लेटे रह सकने की अनुमति ही नहीं दे रखी थी अपितु यहाँ तक कह रखा था कि चाहे वह बीच-बीच मे आँखें खोल कर देख भी सकता है। अपने रूममेट के समान इदी की भी कोई निश्चित प्रेमिका नही थी। वह हर तीन चार महीनो के बाद किसी नई अपरिचित के साथ अपने प्रिय होटल स्लाविया मे पहुँच जाता था। उस होस्टल के क्लॉकरूम के काउटर पर काम करने वाली मिसेज तानिया हर बदली हुई लडकी को देखकर पहले तो दु खी हो जाती थी, किन्तु बाद मे उसका दु ख कुतूहल मे बदल गया था।

इंदी उसके दुःख को तो सह लेता था, किन्तु उसके कुतूहल के कारण उसे शर्म महसूस होती थी। गनीमत है कि शर्म को पूरी तरह से घोल कर पी नहीं गया था।

लड़की-बदल इंदी के लिए रायना का सम्बन्ध अपने पूर्वसम्बन्धों से भिन्न प्रकार का सम्बन्ध सिद्ध हुआ। पहले ही दिन रायना के अबोध ढंग से फ्लर्ट होने के बाद वह इंदी के लिए टूरिस्ट-कम-ट्यूटेट हो गई थी। दूसरे दिन इंदी के चूमने और आलिंगन करने के तरीके से ही वह जान गई थी कि इंदी इन बातों में 'बहुत अभ्यस्त' है। तीसरे दिन तो वह रायना को भोगने की तैयारी करके ही होस्टल से निकला था। इसलिए उसने कड़ाके की सर्दी में सवेरे स्नान किया था। होस्टल के लड़के किसी लड़की से मिलना हो, तो ही सर्दियों में नहाने का कष्ट उठाते थे। नहाने में दिलचस्पी न होते हुए भी इंदी ने विशेष कारण से ही सवेरे स्नान किया था। इस प्रसंग में इंदी ने नग्न होकर अपने गुह्यांग को छूकर प्यार करने का जो विवरण उपस्थित किया है, वह बड़ा ही अनावश्यक है। रायना को भोगने की इंदी की योजना सहज ही सफल हो गई, क्योंकि रायना भी तो अधिक दिन अकेली नहीं रह सकती थी। दूसरे शहरों में उसके साथ जो घटित होता था, वह प्राग में भी घटित हुआ। इंदी और रायना दोनों के लिए ही दैहिक सम्बन्ध में कोई नवीनता की बात नहीं थी, किन्तु दोनों ने ही इस दैहिक सम्बन्ध में यह अनुभव किया कि यह केवल रोजमर्रा की चीज नहीं है। आत्मीयता के स्पर्श ने इस सम्बन्ध के स्वरूप को मौलिक रूप से परिवर्तित कर दिया था। इस सम्बन्ध की आत्मीयता को गणितीय पद्धति से सकारण सिद्ध करना सरल कार्य नहीं है। इस प्रसंग में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कभी-कभी दैहिक सम्बन्ध के माध्यम से सहभोक्ताओं को अपने व्यक्तित्वों की परस्पर संवादी आंतरिक लयों की उपलब्धि हो जाती है। इंदी के जीवन-मंच पर रायना का पदार्पण अप्रत्याशित रूप में हुआ, किन्तु उसे यह अनिवार्य ही प्रतीत हुआ। इस सम्बन्ध के विषय में अनपेक्षितता की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इंदी ने जिन्दगी-भर बहुत-से दरवाजों को खटखटाया, किन्तु उसे उन दरवाजों के परे कुछ नहीं मिला। एक दिन अकस्मात् उसका हाथ उस दरवाजे के भीतर से खींच लिया गया, जिसको उसने खटखटाने का विचार भी नहीं किया था। उस हाथ ने इंदी को इस तरह से पकड़ा कि वह उसे जिन्दगी भर छोड़ नहीं सका। दरवाजों को खटखटा कर बढ़ जाने वाली जिंदगी में वह पहली बार रुका और वहीं का होकर रह गया। उसे बड़े ही अनजाने रूप से 'झूठे वसन्त' के दिनों में जिंदगी के असली वसन्त के दिनों का अनुभव मिला। इंदी ने इन दिनों का अधिकतम आनन्द बड़ी आतुरता से निचोड़ा और अब उसी के कारण पूरी तरह से निचुड़-सा गया है। उसके लिए रायना का सम्बन्ध महज चेतना की सतही परत को छूकर ही गुजर नहीं गया, अपितु

चेतना की गहनतम परतों को विक्षुब्ध करने वाला सिद्ध हुआ। इसलिये रायना के साथ भोगी हुई स्थितियों को वह आज अकेले भोगने के लिए विवश है। आज भी अतीत से वर्तमान में पहुँचने वाली रायना की अधीर और आग्रहपूर्ण आवाज इंदी को पकड़ लेती है। रायना के सम्बन्ध के दिन, आज की अकेली पुकार के दिन बन कर रह गए हैं। ये वे दिन हैं, जिन्हें इंदी न छोड़ सकता है और न ही दुबारा पकड़ सकता है। यही स्थिति कुछ भिन्न सदर्भों के साथ रायना के लिए भी सच है। ठिठुरन के दिनों में इंदी के आत्मीय सम्बन्ध की ऊष्मा पाकर जाक के साथ अनुभूत जिंदगी के मुलगते क्षणों की उसकी सजातीय एवं सघनतर स्मृतियाँ फिर से दहक उठती हैं। रायना के लिए इंदी के सम्बन्ध के दिन मन को हॉट करने वाली पूर्व-स्मृतियों को उत्प्रेरित करने वाले दिन हैं। इसी कारण इन दिनों में इंदी जितना ही रायना से अपने लिए सुख छीनता जाता था, उतना ही रायना अपने जाक से सम्बन्धित उन दिनों की स्मृतियों के कारण खाली होती चली गई थी। उसके लिए प्राग के ये दिन वियेना के उन दिनों के साथ अनिवार्यतः जुड़े हुए हैं।

'वे दिन' उपन्यास इन्दी और रायना के सम्बन्ध के गिने-चुने साढ़े तीन दिनों की कहानी है। उसके सम्बन्ध के विकास को बड़ी ही सूक्ष्मता और सशक्तता के साथ उपस्थित किया है। इस सम्बन्ध के स्थापित होने के पूर्व इन दोनों चरित्रों की मानसिक भूमिकाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध होने से पूर्व दोनों की मानसिक भूमिकाओं में हमें मूलभूत अन्तर दिखाई देता है। रायना से मिलने से पूर्व इन्दी अनेक लड़कियों से मिला था, परन्तु इन दैहिक मिलनों में मन के मिलन से वह प्रायः मुक्त ही रहा था। इंदी ने रायना से मिलने पर ही प्रथमतः आत्मीय लगाव का अनुभव किया। इंदी के समान ही रायना अपने काम-सम्बन्धों में एकनिष्ठ नहीं रही है, किन्तु इन सम्बन्धों में से उसका और जाक का सम्बन्ध गहरी आत्मीयता का सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध के अतिरिक्त उसके शेष कामसम्बन्ध केवल शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन मात्र रहे हैं। जाक के सम्बन्ध ने उसे अकेलेपन की पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए टूरिस्ट बना दिया है। टूरिस्ट के नाते ही वह इन्टरप्रेटर का काम करने वाले इंदी से मिली। इंदी और रायना में उम्र का अन्तर भी उपेक्षणीय नहीं है। इंदी जवान है और रायना प्रौढ़। इसके अतिरिक्त रायना के साथ मीता भी है, जो उसके उत्तरदायित्व और अलगाव को बनाये रखने का कारण है।

इंदी और रायना का प्रथमतः मिलन इन्टरप्रेटर और टूरिस्ट का मिलन था। टूरिस्टों में मूलतः ही ठंडा सा परायापन होता है। तिस पर यह टूरिस्ट तो अपनी पूर्वस्मृतियों के कारण विशेष रूप से अन्तर्मुख है। उससे परिचय बढ़ाने के लिए उसका अपने से बाहर निकलना आवश्यक था। अपने को दूसरे तक बढ़ा कर ही

परिचय बढ़ाया जा सकता है, इसलिए बहिर्मुखता परिचय या सम्बन्ध की पहली शर्त है। कोई भी मनुष्य बहिर्मुख होकर किसी नए व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। नए व्यक्ति से इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करते समय सुरक्षा की भावना व्यक्ति-मात्र में आती ही है। इसी कारण रायना ने इंदी को पहले-पहल खतरनाक-सा समझ लिया था। नयेपन के आतंक को दूर करने के लिए एक दूसरे के अँधेरे को भेदने वाला विश्वास अपेक्षित है। नयेपन के संकोच और संदेह को दूर करके ही यह विश्वास पाया जा सकता है। इंदी के केवल इन्टरप्रेटर मात्र बने रहने पर यह बात सम्भव नहीं थी। इसलिए वह रायना को सहजतः प्रसन्न करने के लिए प्रयत्न कराता है। इसके लिए वह रायना के लिए अधिकतम उपयोगी होना चाहता है, जिससे कि वह कृतज्ञ होकर वह इंदी के प्रति उन्मुख हो सके। रायना के लिए उपयोगी न हो सकने की स्थिति में उसे झुंझलाहट-सी होती है। शॉपिंग के समय जर्मन जाने वाली शॉपगर्ल के प्रसंग में इंदी ने इसीलिए अपने को बेकार-सा महसूस किया है। वह रायना के लिए उपयोगी पड़ने के प्रयत्न में 'रिल्केरेंदेवू का बिल अदा करना चाहता है, किन्तु दूसरी ओर उसके द्वारा बिल चुकाए जाने पर रायना जरूरत से अधिक गम्भीर हो जाती है। वह नहीं चाहती उसके कारण दूसरे को खर्च करना पड़े। किन्तु इसके साथ ही वह इंदी के प्रति अपने को उपकृत अनुभव करती है। वह इंदी से यह कहती है कि अगर तुम न होते, तो मैं इतना सब कुछ नहीं देख सकती थी। इस प्रकार दोनों के बीच नयेपन का संकोच और संदेह ज्यों-ज्यों दूर होता चला गया, त्यों-त्यों पहचान बढ़ती चली गई। इंदी और रायना यह भूल गये कि वे टूरिस्ट और इण्टरप्रेटर से बातें कर रहे हैं।

इंदी और रायना की बढ़ती हुई पहचान के बीच सहसा अपहचान के क्षण उभर आते थे। बहिर्मुख होने पर भी रायना आन्तरिक दुःखद स्मृतियों के स्पर्श से बीच-बीच में अचानक ही अस्वस्थ हो उठती थी। उसकी आँखों में अजीब-सा ठंडा-पन घिर आता था। उसकी हँसी ऐसी हो जाती थी कि वह मन को अधिक आश्वस्त नहीं करती थी। उसका स्वर सब प्रकार के भावों से निचुड़कर एकदम खाली-सा हो उठता था। यद्यपि वह वियेना से छुटकारा पाने के लिए प्राग आई थी, किन्तु प्राग में वह उन्हीं चीजों को देखना चाहती थी, जिन्हें वह जाक के साथ पहले देख चुकी थी। परिणामतः वह वियेना के अतीत से छूट नहीं पाती थी। अतीत से लगाव के कारण ही वह सेंट लारेंतों को अकेले ही देखना चाहती है। इस प्रसंग में अकेले-पन का अवसर देने के कारण वह इंदी के प्रति कृतज्ञ-सी हो उठती है। अतीत की स्मृतियों के कारण रायना और इंदी के बीच कितनी ही बार अनुपस्थित जाक सर्वा-धिक उपस्थित जान पड़ता था। जाक की इन उपस्थितियों का अनुभव करके इंदी को लगा कि वह रायना से बहुत बाद में मिला है। इसके अतिरिक्त रायना और जाक

में सम्बन्धों का मधुरतम मूर्त रूप मूर्ति मीता है, जिसे नकार सकना रायना के लिए असम्भव है। मीता कभी जाक के साथ रहता है और कभी रायना के साथ। रायना अक्सर शनिवार की शाम को जाक से मिलती रहती है और उसने अब भी यह विश्वास खोया नहीं है कि उसका और जाक का सम्बन्ध फिर से उसी प्रकार शुरू हो सकता है, जिस प्रकार वह प्रथमतः शुरू हुआ था। इन सब कारणों से इंदी को रायना के साथ रहते हुए ऐसा अनुभव होता है, जैसे वह किसी घर के भीतर पहुँचने के बावजूद घर के बाहर खड़ा है।

एक ओर रायना जहाँ जाक को भुला नहीं पाती, वहाँ वह जाक की स्मृतियों से पीड़ित होकर उनसे मुक्त होना भी चाहती है। वह इंदी के साथ बिताये जा रहे वर्तमान के काल में कल को पूरी तरह भूल जाना चाहती है। वह अपने अतीत की दृष्टि से पूरी तरह मर जाना चाहती है, किन्तु मरना सरल तो नहीं है। वह दूसरे दिन इंदी से यह कहती है कि आज मैंने पूरे दिन वियेना के बारे में नहीं सोचा। मेरे संग ऐसा पहले कभी नहीं हुआ। रायना के इस कथन के तुरन्त बाद ही सेंट लॉरेंत्सो का प्रसंग है। वह कल के बने-बनाए चीजों के घेरे से बाहर आना चाहती है, किन्तु बाहर आते ही पुनः घेर ली जाती है। इंदी के कमरे पर इन चीजों के घिराव से बचने के लिए वह इंदी की आवाज सुनते रहना चाहती है। उसे भय है कि कहीं उसे अकेले पाकर पूर्वस्मृति की डायन झपट्टा मार कर फिर से उठा न ले जाये। कितनी ही बार इंदी ने उसे पूर्वस्मृति के चंगुल से छुड़ाकर वर्तमान में खींच लाने के लिए प्रयत्न किया है। इस प्रकार अतीत की स्मृतियाँ रायना के अन्तर में जलने-बुझने विद्युत्दीपों के समान कार्यरत रही हैं। स्मृतियों के ये विद्युत्दीप फ्यूज हुए दीप नहीं हैं। इसी कारण इंदी और रायना के सम्बन्ध के बीच में पहचान और अपहचान की लुकाछिपी उपन्यास में आद्यंत चलती ही रही है।

इंदी और रायना के सम्बन्ध का एक पहलू दैहिक भी है। रिल्के रेंदेवू में रायना ने अबोध ढंग से पलट होकर इंदी के हाथ पर अपना हाथ रख दिया और उसके हाथ की गरमाई के साथ इस सम्बन्ध की गरमाई का आरम्भ हुआ। स्केटिंग रिंक की ओर जाते समय ठंड से बचने के लिए रायना ने अपना हाथ इंदी के डफल-कोट की जेब में डाल दिया था। जब रूमाल निकालने और रखने के लिए इंदी जेब में हाथ डालता, तो रायना के हाथ का स्पर्श पाकर उसके सारे शरीर में झुरझुरी-सी फैल जाती थी। इसी प्रसंग में सड़क को स्केटिंग रिंक से जोड़ने वाले छोटे-से सँकरे लकड़ी के पुल पर से गुजरते हुए इंदी रायना का हाथ जेब से निकाल कर पकड़ लेता है और पुल पार कर लेने के बाद डर के रहने पर भी रायना इंदी के हाथ को थमकर पकड़े रही है। पहले ही दिन परिचय में इतनी सघनता आ गई थी कि रायना को विस्मय हो रहा था कि वह इंदी से सुबह ही तो मिली थी। यद्यपि पूरे

दिन विशेष कुछ नहीं हुआ था, किन्तु 'होने का सुख' अपनेपन के कारण 'शुरू' हो गया था। निकटता का अनुभव करने के लिए रायना इंदी से 'मिसेज रैमान' न कह कर सिर्फ 'रायना' कहने के लिए कहती है। सम्बन्ध की थोड़ी-सी सघनता के साथ इंदी के मन में विस्मयकारी डर से जुड़ी हुई अजीब-सी पगली आकांक्षा ने झांकना शुरू कर दिया था, किन्तु रायना की आँखों में सिमट आये अजीब-से डर को देखकर वह जहाँ की तहाँ स्तब्ध बनी रही। उस दिन होटल के पोर्च के पास परस्पर विदा लेने के बाद इंदी की आकांक्षा और रायना का डर एक दूसरे से बेखबर रात-भर पड़े रहे।[10]

पहले दिन परस्पर विदा होने के बाद रायना बहुत देर तक सो न सकी। वह होटल के बाहर भटकने के लिए निकल गई और उसने म्यूजियम के पास के टेलीफोन बूथ से इंदी को फोन किया, किन्तु इंदी कमरे पर नहीं था। दूसरे दिन रायना ने इंदी से पूछा कि मेरे फोन करने से तुम्हें बुरा तो नहीं लगा। इसी दिन इंदी की रायना को चूमने की इच्छा अप्रत्याशित रूप से दो बार पूरी हुई। प्रथम प्रसंग में रायना के मुँह फेर कर कुछ कहते हुए इंदी के होंठ उसके मुँह पर घिसटते चले गये और अवसर से लाभ उठाकर इंदी ने उसे चूम लिया। 'मीता आता होगा' कहकर रायना ने अपने को अलग कर लिया। इसी दिन पुनः 'हुँगरवाल' के निकट रायना के द्वारा जलती हुई तीली बुझाने के बाद स्थानीय प्रथा के अनुसार फिर से चुंबन लिया और कपड़ों को भेदकर नंगे बदन को टटोलने वाला आलिंगन भी पाया। इन अप्रत्याशित चुंबन और आलिंगन को पाने के बाद दूसरे दिन रायना से विदा होने से पूर्व कुछ 'चीज' इंदी की देह में फड़फड़ाने लगी।[11]

तीसरे दिन थियेटर जाते समय गली में से गुजरते हुए प्रेमी-युगलों की छायाएँ देखकर इंदी असमंजस में रायना से कुछ अलग हो जाता था, जिसके कारण रायना जरा-सा मुसकरा देती है। वह सहज ढंग से आउट-डोर प्रेमियों को देखकर आगे बढ़ जाती थी। इस सहजता के कारण इंदी को रायना अपने से बड़ी लगने लगती थी। इसके बाद थियेटर के अँधेरे में संगीत के प्रभाव से रायना और इंदी की धमनियों में चाह के स्पंदन फड़फड़ाने लगे। इस चाह में डर और सुख दोनों थे। किन्तु थियेटर से निकलकर मानेश रेस्तराँ में भरपूर पी लेने के बाद एक अजीब-सी लापरवाही में डर विलीन हो गया। एक निडर-सा चमकीला आह्लाद दोनों पर छा गया। रेस्तराँ से बाहर आने पर उन्होंने अपनी चाह में सिमट आये विश्वास का अनुभव किया, जिसे वे पिछले तीन दिनों से अँधेरे में टटोल रहे थे। दोनों ही इस विश्वास की छाया में होस्टल के कमरे में पहुँचे। वहाँ अब वह चाह उन दोनों के शरीरों में मोमबत्ती की काँप रही थी। उस मर्मांतक चाह ने दोनों को अपने में घसीट लिया। दोनों ने एक दूसरे के अलगाव को भेद कर एक दूसरे की देह में अपनी सतह को

टटोलते हुए डूब जाने दिया। इस प्रकार इंदी और रायना शारीरिक एवं मानसिक सम्बन्ध के विकास पर टिप्पणी करना चाहें, तो हम रायना के शब्दों को उधार लेकर कह सकते हैं कि—' इट इज सो विविड एण्ड वंडरफुल।"

रायना और इंदी के विवाहबाह्य काम सम्बन्ध के इस प्रसंग में नैतिकता की समस्या उठाई जा सकती है। स्वयं रायना ने इसके सम्बन्ध में यह कहा है कि—"यह शायद अनैतिक है ।"[११] यह सम्बन्ध समाज की पारम्परिक धारणाओं के अनुसार अनैतिक होते हुए भी व्यक्ति की सहज शारीरिक आवश्यकताओं के नाते स्वाभाविक भी है। सम्भवतः इसीलिए रायना ने 'शायद' शब्द का प्रयोग किया है। यह ठीक है कि शरीर धर्म के नाते मनुष्य के कामसम्बन्ध की अवहेलना नहीं की जा सकती, किन्तु 'मनुष्य' के नाते कुछ तथ्यों का पालन उतना ही अनिवार्य है। मनुष्य के काम-सम्बन्ध का पहला पथ्य यह है कि इसमें सहभोक्ताओं की आपसी रजामन्दी अवश्य हो। बलात्कार इस सम्बन्ध का सबसे बड़ा कुपथ्य है। आपसी रजामंदी के बाद दूसरा पथ्य सहभोक्ताओं पर पड़ने वाला स्वस्थ प्रभाव है। तात्कालिक कामज्वर की सन्निपात दशा में सम्बन्ध घटित हो जाने के बाद ज्वर के उतरने के बाद अगर सहभोक्ताओं में से किसी एक को भी पछतावा हो, तो वह सम्बन्ध स्वस्थ प्रभाव का अविरोधी न होने के कारण केवल 'मिजरी' बन कर रह जाता है। कामसम्बन्ध का तीसरा पथ्य दायित्व से सम्बन्धित है। दायित्व की दृष्टि से कामसम्बन्ध के सह-भोक्ता विश्वामित्र के समान अपने सामाजिक दायित्व से इनकार करना इस क्षेत्र की सबसे बड़ी अनैतिकता है। स्वस्थ कामसम्बन्ध की ये न्यूनतम कसौटियाँ हैं और इन कसौटियों के अनुसार इंदी और रायना के कामसम्बन्ध को विवाहबाह्य होने मात्र से अस्वस्थ नहीं कहा जा सकता। विवाहबाह्य होते हुए भी यह सम्बन्ध सौहार्दबाह्य नहीं है। इस सम्बन्ध में जहाँ दोनों की आपसी रजामन्दी है, वहाँ वे दोनों सम्बन्धो-त्तर काल में पछतावे की भावना से मुक्त हैं। इस सम्बन्ध की उपलब्धि की पर्याप्तता से रायना संतुष्ट ही है। सामाजिकता की दृष्टि से प्रस्तुत प्रसंग में मीता को सामा-जिक दायित्व का केन्द्र कहा जा सकता है। हम देखते हैं कि रायना ने अपने और इंदी के सम्बन्ध को मीता से छिपाने का प्रयत्न नहीं किया है। रायना के इस काम-सम्बन्ध के दायित्व की केन्द्रेतर अनेक परिधियाँ कही जा सकती हैं, और उनकी दृष्टि से इस सम्बन्ध की विवादास्पदता अवश्य है।

इंदी और रायना के सम्बन्ध की कथा के माध्यम से अकेलेपन की संवेदना को अभिव्यक्त करना ही लेखक का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति में उपन्यास के सभी उपकरण या तत्त्व समर्पित हैं। कथानक के नाम पर केवल पाँच दिनों की कहानी है, जिनमें पहला और अन्तिम दिन कथानक के भूमिका और उपसंहार भागों के समान है। कथानक को स्मृत्यात्मक पद्धति में उपस्थित किया गया है और कथा-

नक का प्रारम्भ कालविपर्यय की पद्धति का अवलम्ब करके उपस्थित किया गया है। इस कथानक में ऐसा कुछ नही है, जिसे हम घटना कह सकें। केवल 'होने के सुख' की अभिव्यक्ति है। केवल इंदी और रायना तीन-चार दिन साथ रहे हैं, जिसे असाधारण घटना तो क्या घटना भी कह सकना कठिन है। दोनों के साथ रहते-रहते जो कुछ हुआ, वह एकदम अप्रत्याशित नहीं है। इस साथ रहने में जो कुछ भी समय व्यतीत हुआ है, वह कुछ भी मानी नहीं रखता। महत्त्व तो उन दोनों के सम्बन्ध के बीच जिंदगी का अहसास कराने वाले सुलगते क्षणों का है और यह उन्हीं क्षणों की कहानी है। इसलिए इस उपन्यास के कथानक में याद करके तरतीबवार ढंग से कहने लायक विशेष कुछ नहीं है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी लम्बी-चौड़ी बातें उपस्थित करने के लिए बहुत कम अवकाश है। अकेलेपन की संवेदना की आलोचना के प्रसंग में इंदी और रायना के चरित्र के विविध पहलुओं का उल्लेख किया जा चुका है। चरित्र-चित्रण के नाम पर उसे यहाँ फिर से दोहराना निरर्थक है। केवल इंदी और रायना से भिन्न चरित्रों का सक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त है। इन गौण चरित्रों में मीता ही ऐसा पात्र है, जो इंदी और रायना, दोनों के संपर्क में आया है। वह बालक होते हुए भी समझ का आदी है। उसमें बचपन की जिद्द का अभाव है। वह वही सब कुछ करना चाहता है, जिससे उसकी माँ की प्रसन्नता बढ़े। शॉपिंग के समय माँ के कुछ समय के लिये न मिलने पर वह परेशान अवश्य हो जाता है, किन्तु आतंकित नहीं; क्योंकि वह माँ के विचित्र व्यवहार से परिचित है; लेकिन वह यह नहीं चाहता कि एक अजनबी इंटरप्रेटर भी इतनी जल्दी माँ के इस व्यवहार का परिचय पा ले। उसके इस व्यवहार के कारण स्वयं इंदी को अपनी घबराहट बचकानी सी जान पड़ी। मीता के सम्बन्ध की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात सेंट लॉरेंतों के प्रसंग में दीख पड़ती है। सेंट लॉरेंतों के भीतर से वापस आने के बाद वह गत स्मृतियों और माँ के दुःख के कारण अँधेरे में करुण विषाद से भरकर सिसकने लगता है। मीता की यह अकाल-प्रौढ़ता रायना के गहनतम दुःख की अभिव्यंजना भी है।

इंदी, रायना और मीता के अतिरिक्त गौण पात्रों में थानयुन, फ्रांज और मारिया महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें थानयुन इंदी के समान अकेलेपन से ग्रस्त है। उसके स्वभाव में आक्रामकता का अंश विशेष उल्लेखनीय है, जो कहीं बहुत गहरी अधीरता के साथ जुड़ी हुई है; इसीलिये उसे अकेला छोड़ देते समय इंदी को हमेशा एक भय जकड़ लेता है। थानयुन के समान फ्रांज नाम का दूसरा चरित्र है। वह सिनेमाटोग्राफी का अध्ययन करने के लिए प्राग आया हुआ है, किन्तु वह अपने अध्यापन केन्द्र से संतुष्ट नहीं है। वह बहुत जल्दी डेस्परेट हो जाता है। उसके सम्बन्ध में इंदी यह सोचता है कि अगर वह हिटलर के काल में बच्चा न होकर वयस्क होता तो वह

नाजी-शासन को कैसे निभा पाता। आज उसकी आयु अट्ठाईस वर्ष की है और मारिया को वह अपनी 'लड़की' कहकर इंदी से परिचित कराता है। वह मारिया को अपने साथ जर्मनी ले जाना चाहता है, किन्तु दो साल से कोशिश करने के बाद भी उसे वीसा नहीं मिल पाता। वह चाहे तो मारिया से विवाह करके वीसा पाने का मार्ग पा सकता है, किन्तु वह ऐसा नहीं करना चाहता। वह मारिया से विवाह यदि करेगा, तो वीसा की शर्त पर नहीं। इस समय तो वह 'सिर्फ साथ' रहता है।" विवाह न करके सिर्फ साथ रहने की उसकी बात कुछ संगत नहीं जान पड़ती। साथ रहने में साथी की सुविधा अंतर्निहित है और यह विवाह द्वारा ही सम्भव है।

मारिया इस उपन्यास का गौण पात्र होते हुए भी अविस्मरणीय है। वह जर्मन एम्बेसी में काम करती है तथा रोमन कैथोलिक लड़कियों के फ्लैट के एक कमरे में स्टेफान्का के साथ रहती है। उसके जीवन में स्लीपवाकर की निर्मयता है। सजी-सँवरी 'कापी' में लिखे किसी पूर्वनिश्चित रफ ड्राफ्ट के अनुसार जीने जैसी बात उसमें है ही नहीं। उसमें जो कुछ है, वह अन्तिम रूप से 'आखिरी' है। उसने अगर फ्रांज को चाहा है, तो सहज ढंग से चाहा है। उसका डेस्पेरेट होना भी उसकी सहजता का अंग होता है। इसलिये अपना दुःख किसी दूसरे को दिखाने की प्रवृत्ति उसमें नहीं है। वह यह जानते हुये भी कि फ्रांज को उसकी जरूरत नहीं है, अपने सहज प्रेम के कारण फ्रांज के साथ रहती है। फ्रांज मारिया को बिना सूचित किये बर्लिन जाने वाला है, यह बात मारिया को मालूम है, किंतु उसे इस बात की शिकायत नहीं है।

मारिया के जीने में जिस प्रकार सजे-सँवरे ड्राफ्ट का स्थान नहीं, उसी प्रकार कपड़े पहनने के मामले में भी सजा-सँवरापन नहीं है। उसके साथी अक्सर सोचते हैं कि मारिया को कपड़े पहनने का सलीका उसे भले ही न आता हो, किन्तु सहज ढंग से जिंदगी जीने का सलीका वह जानती है। उसका अन्तःकरण सम्पन्न है। किसी भी प्रकार की प्रत्यादान की भावना के बिना वह अपने मित्रों की सहायता करती चली जाती है। जब इंदी आदि के पास कुछ न रहता था, तब अक्सर वे मारिया के घर खाने चले जाते थे। कितनी ही बार रात की अनुचित घड़ियों में उन्होंने उसे कुछ क्राउन्स के लिए जगाया था। कहने का आशय यह है कि मारिया के जीवन में औपचारिकता ढूंढने पर भी दिखाई नहीं देती।

जिस प्रकार मारिया के जीवन में जीने का ड्राफ्ट का अभाव है, उसी प्रकार उपन्यास में उसका अस्तित्व पूर्वनियोजित ड्राफ्ट का अंग नहीं प्रतीत होता।

'वे दिन' उपन्यास का देशकाल अत्यन्त सीमित है। उपन्यास के अवसादपूर्ण अकेलेपन की संवेदना के अनुसार ही उसका स्वरूप है। प्रस्तुत उपन्यास विगत दिनों की कहानी है। पुराने दिनों की अवसादपूर्णता के समान पुराने होस्टल की पुरानी

मंजिल इंदी का निवासस्थान है। एक सर्दीला साँवला-सा मैलापन उपन्यास के सारे वातावरण में घुला हुआ है। गिरते हुए वर्फ के गालों के बीच वत्तियों का पीलापन रास्तों पर फैला हुआ दिखाई देता है। रास्तों पर वर्फ के कारण तरल गिलगिलापन गीली थरथराहट लिए पड़ा दिखाई देता है। ये क्रिसमस की छुट्टियों का समय है। चार दिन की चांदनी के समान 'झूठे वसन्त' के दो-एक दिन देखते ही देखते धुन्ध में खो जाते हैं।

प्रस्तुत उन्यास की भाषा-शैली सचमुच ही अद्‌भुत है। इन्द्रियों के सूक्ष्मतर संवेदनों को इतनी सहजता और सशक्तता से साथ अंकित किया गया है कि उन्हें पढ़कर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। इन्द्रिय संवेदनों की कुशल अभिव्यक्ति के स्थल उपन्यास में न जाने कितने हैं, उनमें से इने-गिने संवेदनों का ही यहाँ नमूने के रूप में उल्लेख कि जा सकता है। इन्द्रिय संवेदनों में रूपसंवेदनों की अभिव्यक्ति के स्थल सबसे अधिक हैं। इंदी के कमरे पर बुक-शेल्फ से सिर टिकाकर अनजाने सोई हुई रायना का वर्णन करते हुए कहा गया है—"उसके चेहरे पर अब भी 'जागे रहने' का चौंका-सा भाव था, जो अक्सर उन लोगों के चेहरे पर जमा रहता है, जो बिना सोने का इरादा किए अनायास सो जाते हैं।" लाउंज के नीचे वाले होटल के बार में से बियर पीकर बाहर आने पर किया गया वर्णन देखिए—"जब हम भीतर बैठे थे, दोपहर चली गई थी। अब अँधेरा था—नर्म और उज्ज्वल, जैसा दोपहर के बाद आता है, अगर वह दिन-भर सूखी और चमकीली रही हो।"[१४]

रूपसंवेदन के समान स्वरसंवेदन की अभिव्यक्तिक्षमता के स्थल भी 'वे दिन' में अनेक हैं। स्वरसंवेदनों की सूक्ष्मता की ऐसी पकड़ अन्यत्र दुर्लभ है। लेतना पहाड़ी की ऊँचाई पर पहुँचने के बाद हवा की आवाज से अलग नदी की 'डार्क एण्ड डीप' आवाज के सम्बन्ध में इंदी कहता है—"इतनी ऊँचाई से उसका स्वर एक धीमी-सी थपथपाहट-सा लगता था। कभी वह एक एकदम बुझ जाता था। तब हवा बीच में आ जाती थी.........। फिर वह उठता था, अपने आप एक कमजोर आग्रह की तरह जैसे वह अपने आप एक कमजोर आग्रह की तरह, जैसे वह अपने को हवा से मुक्त करने के लिए छटपटा रहा हो।"[१५] प्रस्तुत उपन्यास में संगीत के विविध संवेदनों के प्रभावभेद का तो अव्याख्येय ढंग से अंकन हुआ है। ऑडिटोरियम में आरकेस्ट्रा की वायलिन के स्वर का अंकन देखिये—"आरकेस्ट्रा के जंगल से सिर्फ एक वायलिन की सांस उठती थी, घास पर हिलती हुई—एक चौंकी-सी चीख, सरसराते पानी के नीचे एक चमकीले पत्थर की तरह भीगी, कठोर और चमकीली, जिसे तुम छू सकते थे, फिर वह मरने लगती थी।"[१७] 'ए पीस वाई रावेल' के रिकॉर्ड से निकलने वाले "पियानो के सुर बहुत ऊपर जाकर फुलझड़ियों की तरह खुल जाते थे।"[१८] मानेस रेस्तराँ में सुने स्वरों का स्वरूप देखिये—"आरकेस्ट्रा के वायलिन का सुर ऊपर उठा

था—सुनहरा और भूरा, हवा में काँपता हुआ—जैसे कोई हाथ से मुँह ढक कर बहुत धीरे-धीरे रो रहा हो।"[११] इन अभिव्यक्तियों में विशिष्ट इन्द्रियसंवेदन को तदितर इन्द्रियसंवेदन की शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त करने में तो जैसे लेखक को कमाल हासिल है। वहीं कहीं एक से अधिक इन्द्रियसंवेदनों को बड़ी सहजता से व्यक्त किया गया है। शब्द और गंध की समन्वित अभिव्यक्ति देखिये—"जहाँ (होस्टल की छत पर) हर इतवार को प्राग के गिरजों की घंटियाँ तिरती आती हैं ... तुम सोते हुए भी उन्हें सुन सकते हो। तुम उन्हें सूँघ सकते हो। उनमें चिमनियों का धुँआ है।"[१२]

इन्द्रियसंवेदनों के वैविध्य के समान ही विचारों और मानसिक स्थितियों का भी उसी क्षमता से उपन्यास में स्थान-स्थान पर वर्णन हुआ है। स्लीवोवित्से को पीने के बाद की चकराहट को देखिये—"*चकराहट का भी कैसा अजीब रंग होता है ... बादल-सी हल्की और सफ़ेद—सिर की नसों के बीच तिरती हुई—तुम जानते हो, वह पकड़ के बाहर है, लेकिन उसके पीछे भागते रहते हो, जब तक नींद उसे दबोच नहीं लेती।*"[१३] एक अन्य उदाहरण देकर हम इस चर्चा को समेट लेना चाहते हैं। रायना द्वारा अपनी प्रतीक्षा किये जाने की बात सोचकर इंदो उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार करता है—"*एक उम्र में यह विचार ही बहुत रुआँसा लगता है कि कोई खाली खाली सा होकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हो ... एक संग बहुत सुख-सा भी होता है—बाद में। लगता है, तुम सबसे अलग हो। ... तुम्हें अचानक पहली बार अपनी अनिवार्यता का पता चलता है। और उस बातर से डर का ... जिसमें पहली बार तुम्हारे माँ-बाप साझा नहीं करते ... तुम्हारे मित्र भी नहीं। वह डर कुछ वैसा ही विस्मयकारी है, जब पहली बार तुम किसी हवाई कम्पनी के पैम्फलेट में ये शब्द देखते हो—Once in the sky, you are on your own!*"[१४]

भाषाशैली की उपर्युक्त सामर्थ्य के साथ एक अन्य विशेषता की ओर पाठक का ध्यान बरबस चला ही आता है। विशिष्ट विचार या अनुभूति को गहराने के लिए वाक्यविशेष की विविध प्रसंगों में पुनरावृत्ति करने की प्रवृत्ति उपन्यास में दिखाई पड़ती है। "सच ... क्या तुम विश्वास नहीं करते?"—वाक्य यत्किंचित हेर-फेर के साथ उपन्यास में आठ स्थलों पर आया है। इसी प्रकार रायना द्वारा उच्चरित वाक्य—"आई विल डाई" भी अनेक स्थलों पर रायना की वेदना को तीव्रतर रूप में व्यक्त करने के लिए दोहराया गया है।

'वे दिन' उपन्यास की भाषाशैली में एक विशिष्ट दोष भी है। जिस प्रकार टूरिस्ट एजेन्सी का चीफ अंग्रेजी बोलने का मौका हाथ से नहीं जाने देता था, उसी प्रकार लेखक इस उपन्यास में अंग्रेजी शब्द एवं वाक्य घुसेड़ देने का मौका अपने हाथ से जाने नहीं देता। उपन्यास में सैंकड़ों स्थानों पर अंग्रेजी शब्दों का आवश्यक और

अनावश्यक रूप में प्रयोग किया गया है। 'कॉरीडोर', 'म्यूजियम' आदि शब्दों के स्थान पर 'गलियारा', 'अजायबघर' आदि शब्दों का प्रयोग किया जा सकता था। संज्ञा शब्दों तक गनीमत है, किन्तु अनेक स्थानों पर अंग्रेजी के विशेषणों का भी प्रयोग किया गया है—'ऑलकोहालिक आँखें' (शराबी आँखें) आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। सारे उपन्यास में अंग्रेजी के पच्चीस से अधिक पूर्ण वाक्यों का प्रयोग किया गया है और इनमें से दो-तीन स्थानों पर ये वाक्य रोमन लिपि में ही अंकित किये गए हैं। अंग्रेजी के शब्द, विशेषण और वाक्य ही नहीं, अपितु व्याकरण भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुआ है—'क्राउन्स', कॉन्ट्रासेप्टिव्ज' आदि बहुवचन रूप इसी प्रकार के हैं। 'अपना समय लेना' आदि प्रयोग अंग्रेजी मुहावरों के मक्खीमार अनुवाद होने से अनुचित हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का घटनास्थल चेकोस्लोवाकिया है, अतः कुछेक चेक शब्दों और वाक्यों का आना स्थानीय रंगत देने के लिए क्षम्य हो सकता है। 'चैडोक' (टूरिस्ट ब्यूरो), 'लीपा' (लिंडन ट्री) आदि इनेगिने शब्दों का प्रयोग उचित ही लगता है। उपन्यास में कुछेक चेक वाक्य भी आये हैं। मानेश रेस्तराँ में एक अधेड़ व्यक्ति इंदी से एक-दो प्रश्न चेक में करता है, जिनका अनुवाद बंधनियों में दे दिया गया है। इस प्रसंग के 'वेलमीहेस्का' (बहुत सुन्दर है)[२५] आदि वाक्य इसी प्रकार के हैं। किन्तु एक स्थान पर चेक बोलने से नफरत करने वाला थानथुन अत्यधिक प्रसन्नता की मनोदशा में 'ताक नजदार'[२६] कहता है, जिसका अर्थ न दिये जाने के कारण हम ताकते ही रह जाते हैं।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के बाद संक्षिप्ततम निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि बुनियादी अकेलेपन की संवेदना को अभिव्यक्त करने वाला यह उपन्यास इन्द्रियसंवेदनों और मनोदशाओं को 'विविड' और 'वंडरफुल' ढंग से अंकित करने के कारण अद्वितीय हो गया है।

टिप्पणियाँ

१. आज का हिन्दी उपन्यास—डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० १००
२. वे दिन, (तृतीय संस्करण), पृ० ९७
३. वे दिन, पृ० २११
४. वही, पृ० ८२
५. वही, पृ० ३०
६. वही, पृ० १६६
७. वही, पृ० ३७
८. वही, पृ० ९३

९ वही, १९१
१० वही, पृ० ९२
११ वही, पृ० १४४
१२ वही, २०८
१३ वही, ९७
१४ वही, पृ० २१४
१५ वही, पृ० १७०
१६ वही, पृ० १३२
१७ वही, पृ० १३७
१८ वही, पृ० १७८
१९ वही, पृ० १९३
२० वही पृ० १०२
२१ वही, पृ० ३७
२२ वही, पृ० १०६
२३ वही, पृ० १९२
२४ वही, पृ० ३३

धरती धन न अपना : युगयुगांतर के सर्वंकष शोषण की कहानी

डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे

"प्रस्तुत उपन्यास का उद्देश्य 'आर्थिक अभावों की चक्की में युगयुगान्तरों से पिस रहे हरिजन वर्ग के जीवन का चित्रण करना है।"

—श्री जगदीशचन्द्र

कथ्य की दृष्टि से 'धरती धन न अपना' उपन्यास हरिजनों की आर्थिक शोषण की कहानी है।

उपन्यास की कहानी कथ्य के अनुकूल विकसित होती है, किन्तु अन्त में वह प्रेमकथा के रूप में पर्यवसित होती है।

यह व्यक्ति प्रधान उपन्यास नहीं है। इसमें चमार समाज के व्यापक शोषण का चित्र खींचा गया है।

१४

धरती धन न अपना

भारत की लोकसंख्या मुख्यतः गांवों में बसती है। शहर की अपेक्षा गांव का आर्थिक ढांचा भिन्न प्रकार का होता है। शहर के आर्थिक ढांचे का आधार उद्योग और व्यापार होता है तथा गांव के आर्थिक ढांचे का आधार खेती। मुख्यतः खेती पर जीवननिर्वाह करने वाले ग्रामीण समाज को हम सहज ही दो भागों में बटां हुआ पाते हैं। इस समाज का पहला भाग भूस्वामियों का होता है तथा दूसरा भाग भूमि-हीन कृषि-मजदूरों का। भारत के भिन्न-भिन्न भागों में जमींदारी व्यवस्था और रैय्यतवारी व्यवस्था के कारण भूस्वामियों की स्थिति बहुधा भिन्न-भिन्न रही है, किन्तु भूमिहीन मजदूरों की स्थिति सारे देश में एक-सी ही दिखाई देती है। मुंशी प्रेमचन्द ने अल्पभूधारक किसान के जीवन को केन्द्र बनाकर अपने 'गोदान' में उनके आर्थिक शोषण का सच्चा चित्र खींचा है। 'गोदान' के होरी ने यह कहा है—"मजूर बन जाय, तो किसान हो जाता है। किसान बिगड़ जाय, तो मजूर हो जाता है।" होरी का यह कथन सीमित मात्रा में ही सत्य है। सामान्यतः गांव का भूधारक सवर्ण होता है और गांव का असवर्ण वर्ग भूमि-मजदूर। उत्तर भारत में गाँव का यह मजदूर प्रायः चमार होता है। हर गांव में इन असवर्ण चमारों की बस्ती सवर्णों की बस्ती से अलग बसी हुई होती है, जिसे पंजाब में 'चमादड़ी' कहा जाता है। उत्तर भारत की लोकसंख्या में चमारों के अनुपात को देखकर आश्चर्य होता है। यदि 'चमार' शब्द 'चर्मकार' से निकला हुआ माना जाए, तो इस अनुपात के सम्बन्ध में कोई सयुक्तिक कारण नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः 'चर्मकार' शब्द के अतिरिक्त 'चमार' शब्द का मूल स्रोत 'शम्बर' शब्द भी है।[1] आग्नेय वंश की कृष्णवर्णीय शम्बर जाति को पराजित करके गौरवर्णीय आर्यों ने उन्हें भूमिहीन बनाकर भूदास ही नहीं बनाया, अपितु उन्हें हमेशा के लिए असवर्ण वर्ग में भी डाल दिया है। जातिगत इस परम्परा के कारण चमारों का रंग काला ही होता है। इसी कारण चमारों से गाली गलौज करते हुए सवर्ण लोग उन्हें 'कोयले के पुत्तर' कह देते हैं। सवर्णों और असवर्णों में पाया जाने वाला रंगविषयक यह भेद पंजाब, हरयाणा आदि प्रदेशों में विशेषतः

देखा जा सकता है । कभी कभी अपवाद रूप से असवर्ण वर्गों में एक-आध गोरे रंग का व्यक्ति दिखाई पड जाता है । हरामी इसी प्रकार का लडका है । "गोरा कमीन और काला ब्राह्मण दोनो हरामी होते हैं" की कहावत के अनुसार उसके बाप ने ही उसका यह नामकरण कर दिया है । पालो और बन्ते के घोल-घप्पे का सारा प्रसग ही इसी रग-विपर्यय दृष्टि से आपूर्ण है । परम्परा और रंग विपर्यय इस चर्चा को यहीं रोककर मुख्य विषय के विश्लेषण की ओर हम मुडते हैं ।

मुशी प्रेमचन्द ने अल्प-भूधारक किसान की समस्या का चित्रण 'गोदान' के माध्यम से किया है । भूमिहीन मजदूरो की समस्या को वे पूरी क्षमता के साथ 'गोदान' मे उपस्थित नही कर सके हैं । इन भूमिहीन मजदूरो की समस्या का चित्रण करने के लिए हिन्दी साहित्य किसी अन्य 'कलम के मजदूर' की प्रतीक्षा कर रहा था । इस प्रतीक्षा को श्री जगदीशचन्द्र ने 'धरती धन न अपना' लिखकर बहुत कुछ सफल करने का प्रयत्न किया है । उन्होंने उपन्यास के प्रारम्भिक वक्तव्य 'मेरी ओर से' में यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रस्तुत उपन्यास का उद्देश्य "आर्थिक अभावो की चक्की मे युगयुगान्तरो से पिस रहे हरिजन" वर्ग के जीवन का चित्रण करना है । हमें यह देखना है कि भारतीय जीवन के इस कटे हुए सन्दर्भ के चित्रण में लेखक कहाँ तक सफल हो सका है ।

गाँव मे भूधारक और भूमि मजदूर परस्पराश्रित होते हैं । भूमि मजदूरो के बिना न भूधारको का गुजारा हो सकता है और न ही भूधारकों के बिना मजदूरों का । भूधारकों और मजदूरो की यह परस्पराश्रितता शोषक और शोषित के सम्बन्ध पर टिकी हुई होती है । शोषक और शोषित का यह सम्बन्ध परम्परा से चला आ रहा है । गाँव की व्यवस्था का ढाँचा ही कुछ इस प्रकार का होता है कि परम्परा से चले आते हुए धधे को बदलना आसान नही होता । इस व्यवस्था के कारण किसी चमार का भूस्वामी बनना असमव-सा हो जाता है । अपवाद रूप में ही किसी चमार के पास जमीन होती है । चमार दूसरो की जमीनो पर मजदूरी करते चले आए हैं । प्राय. हर जमीन मालिक का अपना चमार होता है, जो उसके घर पर गोबर-पानी आदि का सारा काम किया करता है । कभी-कभी एक आध चमार मजदूरी करने के लिए गाँव छोडकर शहर चला भी जाता है, तो वह अपने रिश्तों-नातो के आकर्षण मे बँधकर वापस गाँव चला आता है । काली इसी प्रकार का व्यक्ति है । वह छह वर्ष शहरो मे रहकर बडे अरमानो के साथ अपने गाँव लौटा है । गाँव लौटने पर उसे यह जानने मे देर नही लगी कि दुनिया, विशेषत गाँव की दुनिया, गरीब आदमी के लिए बडी तग जगह है । गाँव की दुनिया मे कोई चमार अगर किसी कारण से खुशहाल भी हो जाता है, तो उसकी खुशहाली चार दिन की चाँदनी बनकर रह जाती है । यही दशा काली की होने मे देर नही लगी । अपनी थोडी-बहुत खुशहाली

के काल में उसने यह अनुभव किया कि गाँव में चमार होना ही बहुत बड़ा पाप है। शहर में उसे हर चीज पैसे देकर मिल जाती थी, किन्तु गाँव में चमार के हाथ दूध बेचने में अपमान समझने वाले चौधरियों के यहाँ से उसे दूध मिलना मुश्किल हो गया। गाँव में तो चमार को दूध, लस्सी आदि चीजें भीख की सूरत में मिलती थीं और भीख जबरदस्ती नहीं ली जा सकती थी। इसी प्रकार विभिन्न प्रसंगों पर उसने अनुभव किया कि चौधरी हरनाम सिंह उसे चमार होने के कारण नीच समझता है; छज्जू शाह उसे कर्ज देने की दृष्टि से किसी गिनती में शुमार नहीं करता; मट्ठे वाला मुंशी उसे विश्वासयोग्य नहीं समझता, क्योंकि उसके पास जमीन नहीं है। इतना ही नहीं, गाँव का हर सवर्ण आदमी चमार को पशु और मूढ़ समझता है। संतासिंह तो यहाँ तक कहता है कि—"गाँव में कुत्तों और चमारों की पहचान रखना मुश्किल है।"[1] अपना पुराना कोठा खदेड़कर नया मकान बनाने के समय उसे यह ज्ञात हुआ कि चमादड़ी की सारी जमीन गाँव के जमींदारों की साँझी जमीन है। अपने मकान की जमीन के लिए निक्कू से उसे लड़ते हुए देखकर जब छज्जूशाह ने कहा—"इन कमीनों के दिमाग में जरूर कोई कीड़ा होगा, जो उस जमीन के लिए लड़ रहे हैं जो इनकी नहीं है"—तो काली ने महसूस किया कि वह तो मलबे का भी मालिक नहीं है, क्योंकि मलबे की मिट्टी भी गाँव के उस छप्पड़ की मिट्टी है, जो सबका साँझा छप्पड़ है। उसे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि गाँव में उसकी हस्ती शून्य के बराबर है। उसने महसूस किया कि—"इस मुहल्ले में हर चीज मौरूसी है······चमारों की औलाद तक मौरूसी है।"[2]

अकिंचनता की स्थिति के कारण गाँव में चमार की कोई इज्जत ही नहीं समझी जाती। गाँव में तो सिर्फ जमीन और जूते की इज्जत होती है। कितनी ही बार चौधरी लोग 'अपनी साख बनाने और चौधर मनवाने के लिए' चमादड़ी में आकर बेबात ही मारपीट कर जाते थे। चौधरी हरनाम सिंह ने अपनी फसल के बरबाद होने पर केवल मंगू के कहने मात्र से जीतू को बुरी तरह से पीटा। इस प्रसंग में चमादड़ी के लोगों को बेकसूर होकर भी गालियाँ खाते और पिटते हुए देखकर काली को बड़ा दुःख हुआ। कितने ही चमार इस प्रसंग में गालियाँ सुनकर इस प्रकार से हँस पड़ते थे, जैसे कि उन पर फूल फेंके गए हों। काली को भी स्मरण हो आया कि स्वयं उसने लड़कपन में इसी प्रकार कई बार मार खाई थी और उसे कभी शर्म महसूस नहीं हुई थी। किन्तु अब जीतू को बिना बात के पीटे जाने पर उसे गुस्सा आ रहा था। उसे यह देखकर अत्यन्त दुःख हुआ कि चौधरी द्वारा घायल किए गए जीतू को उसके घर तक पहुँचाने की हिम्मत भी किसी में नहीं है। चौधरियों ने चमारों को मारपीट करके इतना 'सीधा' और निरीह बना रखा था कि उनमें से किसी को भी कान में डालने पर चुभने का सवाल नहीं उठता था। किसी

में इतनी हिम्मत नहीं थी कि आगे बढ़कर किसी चौधरी से यह कह सके कि वह नाजायज रूप से मार-पीट कर रहा है, आगे बढ़कर हाथ पकड़ लेने की बात तो बहुत दूर की चीज थी। जब काली ने चौधरी मुंशी को निरपराध नंदसिंह को पीटने से रोकना चाहा, तो हरनामसिंह ने इस प्रसंग में काली से स्पष्ट रूप से कह दिया—"कान खोल कर सुन ले, चौधरी के मुकाबले में गल्ती हमेशा कमीन की होती है।"[५] ऐसी स्थिति में नदी में रह कर मगरमच्छों से विरोध करने की हिम्मत ही किसी में नहीं रह गई थी। सब लोग अपनी-अपनी चमड़ी बचाए रखने में ही कुशल क्षेम समझते थे। चाची प्रतापी ने इसीलिए काली को सलाह दी थी कि दूसरों के झगड़ों में हमें क्या लेना है।

चौधरियों और चमारों के किसी भी झगड़े में अदालत में न्याय मांगने में चौधरियों को हठी महसूस होती थी। चमार तो चौधरियों के विरुद्ध अदालत और थाने तक जाने की सोच भी नहीं सकते थे। उन्हें मालूम था कि थानेवाले चौधरियों से पूजा पाकर चमारों को ही दिन में तारे और रात में सूरज दिखाए बिना न रहेंगे। ऐसी स्थिति में अपने मन को समझाने का एक ही तरीका था कि गरीबी की आह प्लेग से भी बुरी होती है। आत्मसमाधान की इस प्रवृत्ति के कारण हद दर्जे की गरीबी में भी वे बिना किसी शिकायत और विरोध के अपनी जिन्दगियां बिताए चले जाते थे। चमादड़ी में गरीबी इतनी थी कि सारे मुहल्ले में किसी का पक्का मकान तो क्या, किसी का पक्का चूल्हा तक नहीं था। खाने-पीने की दशा यह थी कि गेहूं की रोटी उन्हें सौगात लगती थी। काली को गेहूं का आटा खाने और खांड पीने पर प्रीतो को हैरानी होती है और वह महसूस करने लगती है कि जैसे काली किसी देश का राजा हो। गाढ़ी लस्सी ही निहाली के न्यामत बन गई है, उसे भी देखे हुए कई साल हो गये हैं। वह तो घी का रंग और स्वाद तक भूल-सी गई है। चाची प्रतापी की चिता से उठने वाली घी की सुगंध को सूंघ कर प्रीतो कहती है—"मामी प्रतापी ने पिछले जन्म में बहुत ही अच्छे कर्म किए होंगे जो उसकी चिता पर भी देसी घी डाला गया है। एक हम हैं, जिन्होंने जीते जी भी देसी घी चख कर नहीं देखा।"[६] गरीबी की इस दशा के कारण चमार की जवानी चार दिन भी टिक नहीं पाती। ऐसा लगता है कि जैसे यौवन और बुढ़ापा दोनों उसके पास एक साथ ही पहुंच जाते हैं। सूखे बेर जैसी प्राणहीन-सी चमारों की शक्लें मानो उनके शोषित जीवन का साक्षात् प्रमाण बनकर हमारे सामने उपस्थित हो जाती हैं।

एक ओर आर्थिक दृष्टि से दीन-हीन चमारों की यह दुर्दशा है, तो दूसरी ओर चौधरी लोग अच्छा खाते-पीते हैं। इन खाते-पीते लोगों में भी सतासिंह जैसे लोग हैं, जिनकी जिन्दगी ब्याह के बिना सुलगती लकड़ी सी बन गई है। सिर पर

माँ-बाप की छाया न होने से शादी न हो सकी और अपनी भाभी के बच्चों को पोसने में ही उसकी जिन्दगी बरबाद हो गई। उसके पास दो चार खेत होते तो सहज ही उसकी शादी हो सकती थी। क्योंकि पास में पैसा हो तो अर्थी पर लेट कर भी शादी करने के लिए लड़की मिल जाती है। यह संतासिंह नंदसिंह की लड़की पाशो से फँसा हुआ है। ऐसे लोगों को सुलगती लकड़ी को बुझाने के लिए चमारिनें मिल ही जाती हैं। काली ने जब नन्दसिंह से उसके पाशो के सम्बन्ध के विषय में पूछा तो उसने बिना किसी झिझक के उत्तर दिया—"वही जो कुत्ते का कुतिया से होता है।" संतासिंह के समान गाँव के दूसरे जाट भी चमादड़ी की लड़कियों को जब तब भोगते रहते हैं। ये जाट लोग तो केवल अपनी सगी बहन की सौगंध खाते हैं। संतासिंह स्पष्टतः कहता है—"जो आदमी रोज पाओ भर अन्न खाता है वो हर जवान लड़की को अपनी बहन नहीं समझ सकता। बीबा, जवानी चीज ही ऐसी है।" इस प्रकार की स्थिति के कारण ही प्रीतो और प्रतापी के झगड़े के समय गाँव का कोई जाट ऐसा नहीं रह गया था, जिसका जिक्र इस लड़ाई के समय न हुआ हो। चौधरी हरदेव लच्छो के पीछे पड़ा है और मंगू चमार बड़ी बेशर्मी से उसे यह सलाह देता है कि "यह उसी घोड़ी की बछेरी है जिस पर कभी बड़ा चौधरी बहुत मेहरबान था।" लच्छो को देखकर "तेरे हिक ते आलना पाया नीं जंगली कबूतर ने"—गाने वाले हरदेव से मंगू कहता है—"यह कबूतरी जंगली नहीं, पालतू है। दाना देखते ही बैठ जाएगी।" उसे यह कहने में कोई शर्म महसूस नहीं हुई कि जाट लड़कों के सुगठित शरीरों का फायदा चमारन को ही होता है। चौधरी हरनामसिंह के आसरे का लाभ उठा कर मंगू ने चमादड़ी में कम ज्यादतियाँ नहीं की हैं। उससे दिलमुख ने कहा है—"अरे मंगू···तू तो चमादड़ी का राँझा है। पट्ठे ने उसे (लच्छो को) पूरी तरह जवान भी न होने दिया। पहले ही उस पर काठी डाल दी।" जाट लोग चमारिनों के सम्बन्ध में बेशर्मी से बातें करने में संकोच नहीं करते और मंगू जैसे चमार की बेशर्मी हद से गुजर जाती है, जब कि वह अपनी बहन के सम्बन्ध में बुरी बातें सुन कर भी ही-ही करके हँसते हुए सुन लेता है। चौधरी हरनाम सिंह मंगू को 'कुत्ता चमार' कहता है, किन्तु फिर भी मंगू चौधरी की दहलीज चाटता रहता है। कभी मंगू के बाप ने चौधरी से पाँच सौ रुपए लिए थे। इस कर्ज को उतार न पाने पर वह सारी उम्र चौधरी के यहाँ काम करता रहा और उसके मरने के बाद पाँच-सात साल से मंगू भी चौधरी का काम कर रहा है। सारी चमादड़ी के काम करने से इनकार करने पर भी कर्जदार होने के कारण मंगू काम करने से इनकार नहीं कर सकता।

गाँव में काम है, मेहनत है; किन्तु कमाई नहीं है। तिस पर चौधरियों के यहाँ बेगार करनी पड़ती है, सो अलग। जीतू ने सारे साल चौधरी हरनामसिंह के

यहाँ बेगार की है, किन्तु इतना करने पर भी चौधरी उसे बुरी तरह से पीटता है। सारे जमाने की हवा बदल गई है, किन्तु चमादड़ी की हवा ज्यों की-त्यों है। काली के आने के बाद अवश्य परिवर्तन दिखाई देता है। बाढ़ के बाद तोड़े गए बाँध को दुरुस्त करने के लिए चमारों से चौधरी ने जब बेगार लेनी चाही, तो काली के नेतृत्व में चमार बेगार करने से इनकार कर देते हैं। चमारों की हड़ताल का जवाब चौधरियों ने बायकाट करके देने का प्रयत्न किया। धरती और धन के अभाव में चमारों की हड़ताल छह दिनों के बाद टूट गई। पेट की थोड़ी-बहुत व्यवस्था किए बिना हड़ताल टिक ही कैसे सकती थी। हड़ताल के दिनों में गाँव के व्यापारी जमींदारों के साथ थे, क्योंकि शोषक व्यवस्था में वे भी जमींदारों के सहभागी थे। इसके अतिरिक्त चौधरियों की शक्ति के सामने व्यापारियों को झुकने के सिवाय चारा भी नहीं था। डॉक्टर बिशनदास गरीबी का इलाज केवल जबानी रूप में बताते थे, ठोस रूप में वे भी सहायता करने को तैयार न थे।

परलोक सुधारने का दावा करने वाले धर्म भी चमारों के इहलोक को सुधारने में कोई मदद न दे सके। हिन्दू धर्म ने चमारों के मन में यह बात पक्की तरह से बिठा दी थी कि—"रबजी ने जिसको चमार पैदा किया है, वह चमार ही रहेगा, चौधरी नहीं बनेगा। सब कर्मों का फल है।" वे केवल परमात्मा का आसरा ढूँढते रह जाते थे। बाढ़ में जाटों ने अपने कुएँ पर चमारों को पानी भरने नहीं दिया और मन्दिर के परमात्मा का कुआँ भी उनके लिए निषिद्ध था। पादरी के नल पर पानी भरने लगे, तो पादरानी ने उन्हें रोक दिया। इसी प्रकार हड़ताल के समय जब पादरी से काली ने सहायता पानी चाही तो पादरी ने यह स्पष्ट कह दिया कि वह विधर्मियों को किस बूते पर सहायता दे सकता है। यदि धर्म बदल भी लिया जाए, तो चमार की स्थिति में कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। धर्म बदलने से जात तो बदलती नहीं! पंडित संतराम जैसे लोगों की दुर्-दुर करने से तंग आ कर नंद सिंह सिख बन गया, किन्तु रहा वह चमार का चमार ही। मजहबी सिख का नया नाम अवश्य उसे मिल गया। अन्त में वह ईसाई बनने का निश्चय कर लेता है। ईसाई बनने के बाद नंदसिंह और उसके लड़के कैसे दीखते हैं, यह देखने के लिए चर्च के पास बच्चों की भीड़ इकट्ठी हो जाती है। इस प्रसंग में सरला नाई उनके बाल मूँडने के लिए भी तैयार नहीं होता, किन्तु पैसे के लालच में अन्त में बाल मूँड देता है। ईसाई बनने के बाद एक दिन मुँहफट घड़म्म चौधरी नंदसिंह से कहता है—"सुना चमारा, ईसाई बनने के बाद कुछ फर्क पड़ा है? क्या टट्टी-पेशाब पहले की तरह करता है या तरीका बदल गया है।" वस्तुतः धर्मों का वर्तमान रूप शोषितों के लिए अफीम की तरह है। धर्म के आधार पर ही संतराम जैसे लोग मुफ्त की खाते हैं। घड़म्म चौधरी का कहना सही है—"पंडिता, तुम्हें पकी-पकाई

रोटी मिल जाती हैं । मेंह हो या आंधी, धूप हो या छांव तेरे हंड़े (दान की रोटी) पक्के हैं । ....दो दिन मेहनत करके रोटी खानी पड़े तो तुम्हें पता चल जाए कि पेट से बड़ा कोई पापी नहीं ।" वह इसी प्रसंग में संतराम से यह भी कहता है कि—"सवेरे-शाम ठाकुरों को स्नान कराना, घंटी बजाना, धूप जलाना और शंख बजाना। बाकी मौज ही मौज है ।".....ठाकुरों का तो नाम ही है, असली भोग तो तू ही लगाता है ।

शोषित समाज के लोग परमात्मा से डरते रहने में ही अपनी कुशल समझते हैं । इसके बावजूद हुकमा के बारह बच्चे मर गये । परमात्मा के डर के कारण उसने कभी शिकायत भी नहीं की । शिकायत करने पर न जाने तेरहवाँ बच्चा भी शिकायत के दण्ड के रूप में कहीं परमात्मा न छीन ले ! धार्मिक बन्धनों के कारण ही काली अपने गोत्र की लड़की ज्ञानो से विवाह नहीं कर सकता ।

कथ्य की दृष्टि से 'धरती धन न अपना' उपन्यास हरिजनों के आर्थिक शोषण की कहानी है । इस कहानी को कालीदास की कहानी के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है । उपन्यास की कहानी कथ्य के अनुकूल विकसित होती है, किन्तु अन्त में वह प्रेम कथा के रूप में पर्यवसित हो जाती है । हड़ताल के टूटने के बाद उपन्यास के अन्तिम चार परिच्छेद काली और ज्ञानो की प्रेम कहानी बनकर उपन्यास के पूर्व प्रभाव को बिखेर-सा देते हैं । ज्ञानो की प्रेम व्यथा के कारण काली धरती का परित्याग करने को विवश हो जाता है । काली न जाने कितने अरमानों को लेकर ही वह न जाने धरती के किस कोने में विलीन हो गया । यदि वह कहीं जिन्दा भी रहा होगा, तो उसका गाँव वापस आने का ख्याल केवल तड़प में ही बदल कर रह गया होगा ।

श्री जगदीशचन्द्र ने उपर्युक्त संपूर्ण कथ्य को पंजाब के घोड़वाहा गाँव की चमादड़ी को आधार बनाकर व्यक्त किया है । कथानक का प्रारम्भ काली के ग्राम प्रवेश के साथ किया गया है और अन्त निष्क्रमण के साथ । संपूर्ण कथानक उनचास परिच्छेदों में विभक्त है । गल्ती से सैंतीसवाँ परिच्छेद छत्तीसवें परिच्छेद में समाविष्ट हो जाने के कारण उपन्यास से नदारद ही हो गया है । इसी कारण छत्तीसवाँ परिच्छेद अपेक्षाकृत अधिक लम्बा हो गया है । छत्तीसवें परिच्छेद के आठवें पृष्ठ पर "लोगों का विश्वास था"—से प्रारम्भ होने वाले अनुच्छेद को सैंतीसवें परिच्छेद का प्रारम्भ समझना चाहिए । उपन्यास के प्रारम्भ से अन्त तक जहाँ चमादड़ी के आर्थिक शोषण पर लेखक की दृष्टि केन्द्रित है, वहाँ काली और ज्ञानो की प्रेमकथा पर भी उनका उतना ही ध्यान है । अन्त में पहुँच कर तो उपन्यास प्रेमकथा की दुखान्तता पर समाप्त हुआ है ।

'धरती धन न अपना' उपन्यास व्यक्ति प्रधान उपन्यास नहीं है । इसमें

चमार समाज के व्यापक शोषण का चित्र खींचा गया है। इसी कारण चमार पात्रों का बाहुल्य स्वाभाविक ही है। उपन्यास में लगभग अस्सी पात्र हैं, जिनमें से चालीस पात्र चमार समाज के हैं। चमारों के अतिरिक्त बाजीगर, घेवर, कुम्हार आदि अन्य निम्न वर्गों के शोषित पात्र भी प्रसगत आए हैं, किन्तु उन पात्रों के चित्रण में लेखक ने विशेष रुचि नहीं दिखाई है। बाजीगर लोग बिल्ली, गीदड आदि का भी मांस खा लेते थे, इसलिए उन्हें गाँव से बाहर ही रखा जाता था। पडित सतराम जैसे लोग तो बाजीगरों की परछाई तक को सहन नहीं कर सकते थे। बाजीगरों में खुशिया, रोटे और हरामी का ही सिरकिया के प्रसग में चलता हुआ उल्लेख हुआ है। चमारों के बाद उपन्यास में सबसे अधिक पात्र जाट वर्ग के हैं। इन पात्रों की आवश्यकता इसलिए पडी है, क्योंकि शोषित की कहानी शोषकों के बिना पूरी ही नहीं होती।

चमार वर्ग के पात्रों में सबसे अधिक महत्व काली का है। काली के कारण ही कान में डालने पर भी न चुभने वाले चमार कुछ पैने हो गए हैं। काली घोड-वाहा गाँव का ही चमार है। वह माखे का लडका है किन्तु पिता के गुजर जाने के कारण सिद्धू चाचा और प्रतापी चाची ने उसे पालपोस कर बडा किया है। बच-पन में वह अपने ही गाँव की पाठशाला में चार जमातें पढा है। पढाई के कारण उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। उसमें ही क्या, घोडवाहा गाँव के किसी चमार में भी पढाई के कारण सचरित चैतन्य का उल्लेख लेखक ने कहीं नहीं किया है। काली अपने बचपन में अन्य चमार लडकों के समान चौधरियों के हाथों मार खाता रहा है, पर इसके लिए उसने कभी शर्म महसूस नहीं की थी। छह वर्ष शहर में रहकर गाँव लौटने के बाद चमार के नाते अपने साथ किए जाने वाले अपमाना-स्पद व्यवहार के कारण वह तिलमिला उठता है। इतना ही नहीं, अपने समाज के लोगों का अपमान भी उसे अपना अपमान महसूस होता है। इसी कारण वह चौधरी मुंशी को नदसिंह के साथ ज्यादती करते हुए देखकर गुस्से में आ जाता है। चमार होने के कारण चौधरियों द्वारा ली जाने वाली बेगार के विरुद्ध चमारों का नेतृत्व उसी ने किया है। हडताल के प्रसग में सवर्ण लोगों के नेतृत्व की पोल उसके सामने पूरी तरह से खुल जाती है। उसे अपने ही समाज के मगू को चौध-रियों के शोषण में सहायक बनता हुआ देखकर गुस्सा आता है, किन्तु निक्कू के साथ नींव खुदाई के प्रसग में उसका व्यवहार अत्यन्त ही विनयपूर्ण है। वह निक्कू और प्रीतो को मनाने का प्रयत्न करता है। स्पष्ट है कि निक्कू और प्रीतो के प्रति उसके इस व्यवहार के मूल में यह धारणा है कि निक्कू और प्रीतो एक ओर जहाँ बुजुर्ग हैं, वहाँ दूसरी ओर मगू के खिलौने बने हुए हैं। इसलिए काली बडी समझ-बूझ के साथ इस प्रसग में व्यवहार करता है। मार-पीट और लडाई-झगडे के प्रसग

में भी उसने कभी पहल नहीं की है। पर इतना स्पष्ट है कि वह डर से लड़ाई-झगड़े से दूर रहने वाला व्यक्ति नहीं है। डर-डर कर दिन गुजारने से मर जाना ही उसे अच्छा लगता है।

काली के चरित्र का दूसरा पहलू उसके दिल की कोमलता है। वह अपनी चाची के कारण शहर से गाँव लौटा है। चाची के प्रति उसके प्रेम का परिचय चाची की बीमारी के प्रसंग में दीख पड़ता है। ज्ञानो के प्रसंग में उसके प्रेमी स्वरूप का परिचय मिलता है। वह ज्ञानो के रूप पर ही नहीं, अपितु उसके गुणों पर भी मुग्ध है। ज्ञानो के प्रेम के कारण ही लोग उसे 'चमादड़ी का राँझा' कहने लगे हैं। हड़ताल के प्रसंग के बाद सामाजिक कार्य की असफलता के कारण निराशाग्रस्त होकर ही संभवतः उसने अपने को ज्ञानो में खोने का प्रयत्न किया है। लालू पहलवान को उसका यह सम्बन्ध अनैतिक प्रतीत हुआ है और इसीलिए उसने काली को अपने काम पर से निकाल दिया है। इसके बाद काली आजीविका के लिए क्या-कुछ करता रहता, इसका विचार लेखक ने नहीं किया है। केवल जब-तब, जहाँ-तहाँ विविध प्रकार की मिलनपद्धतियों को आविष्कार करते हुए उसे दिखाया है। ज्ञानो की मृत्यु के साथ वह ऐसे लुप्त हो गया था जैसे उसे जमीन निगल गई हो।

काली के बाद उपन्यास का दूसरा महत्त्वपूर्ण पात्र ज्ञानो है। जीतू की पिटाई के प्रसंग में ज्ञानो का प्रवेश एक बेबाक और निडर पात्र के रूप में होता है। नाजायज रूप से पिटने वाले लोगों पर उसे गुस्सा आता है। मुँह खोले बिना पिटने वाले बेगैरत लोगों के कारण उसे शर्म महसूस होती है। जायज बात कहने में वह डरती नहीं है। निक्कू और काली के झगड़े के प्रसंग में उसने अपने ही भाई के विरोध में यह स्पष्टतः कहा कि निक्कू का सिर काली ने नहीं, मंगू ने फोड़ा है। अपनी इस प्रकार की स्पष्टवादिता के कारण उसे कितनी ही बार घर में पिटना पड़ा है। इसके अतिरिक्त ज्ञानो साहसी प्रेमिका के रूप में भी हमारे सामने आती है। काली के शीशम के रंग के सुगठित शरीर एवं स्वाभिमानी स्वभाव पर वह रीझ गई है। उसको अपने घर में उपस्थित पाकर काली को 'चानन ही चानन' नजर आने लगता है। काली के साथ उसके सम्बन्ध में कामभावना हावी नहीं है। कितनी ही बार काली के शरीर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करने पर उसने नाराजी व्यक्त की है। इसलिए बड्डम चौधरी का यह कहना असंगत है—"मोरनिए तेरे अन्दर कितनी आग है, जो बुझने में नहीं आती।"[८] प्यार की प्यास अवश्य उसकी अनंत है। काली के साथ इसी प्यार भरे सम्बन्ध के कारण वह 'काली की मोरनी' बन गई है। गर्भवती हो जाने के बाद ज्ञानो काली से अनुनय करती है कि वह उसे घोड़वाहा से किसी और जगह भगा कर ले जाए। पर नाबालिग ज्ञानो को ले जाने का साहस काली में नहीं था। अन्त में गर्भ गिराने के प्रयत्न में वह जहर का शिकार बनकर सदा के लिए

इस दुनिया से विदा हो जाती है।

काली और ज्ञानो के अतिरिक्त चमारों में महत्त्वपूर्ण व्यक्ति मगू है। मगू के पिता ने चौधरी हरनाम सिंह से कर्ज के रूप में पाँच सौ रुपये लिए थे। उस कर्ज के ब्याज में मगू के पिता ने हरनामसिंह के यहाँ बेगार की और उसके बाद मगू कर रहा है। इसी कारण वह हड़ताल के दिनों में चौधरी का काम करने से इनकार नहीं कर सकता था। असलियत तो यह है कि वह कर्जदार न भी होता तो भी शायद काम करने से इनकार न करता। चौधरी का एजेण्ट बनकर सारी चमादड़ी पर अपना रौब गाँठना चाहता है। कभी झूठी शिकायत करके जीतू को पिटवाता है और कभी अपनी चौधर न मानने वाले काली के विरुद्ध निक्कू को झगड़ा करने के लिए उकसाता है। इतना ही नहीं, चौधरी हरदेव को खुश करने के लिए लच्छो की इज्जत लूटने के लिए प्रेरित करता है। बाबे फत्तू आदि बड़े बुजुर्गों का मान-सम्मान करना उसने सीखा नहीं है। और तो और अपनी ही बहन को उसकी लवाई की प्रवृत्ति के लिए जब तब पीट दिया करता है। संक्षेप में, मगू चमादड़ी का सबसे अधिक जहरीला आदमी है।

बाबे फत्तू चमादड़ी का वयोवृद्ध एवं अनुभववृद्ध आदमी है। मुँहदेखी बात करना उसे नहीं आता। उसके इस गुण के कारण चौधरी लोग भी उसकी इज्जत करते हैं। बन्ता और पालो के झगड़े के प्रसंग में उसकी स्पष्टवादिता उल्लेखनीय है। चमारों में निक्कू भी एक विशिष्ट पात्र है। काम करने में उसकी रुचि नहीं है। उस पर बरसते हुए प्रीतो कहती है कि वह बच्चों की पल्टन तैयार करने में ही केवल मर्द है। अन्यथा तिनका तोड़ने में भी उसकी बाँहें दर्द करने लगती हैं। मगू द्वारा शराब पिलाने के आश्वासन पर वह काली से झगड़ पड़ता है। चमार पात्रों में प्रीतो पर भी ध्यान गए बिना नहीं रहता। यह जहानभर की बेशर्म औरत है। दो दर्जन के लगभग बच्चों को जन्म देने के बाद भी तेल आदि के सहारे यौवन की सीमाओं में बनी रहना चाहती है। चाची प्रतापी उसके चाल चलन के कारण कहती है—"तूने तो हरजाई दुनिया को भी पीछे छोड़ दिया है।"[१०] प्रतापसिंह भी काली को सलाह देता है कि—"प्रीतो की भतीजी से ब्याह न करना। अगर वह अपनी बुआ जैसी निकली तो तुम्हें अपने बच्चों की पहचान करना भी मुश्किल हो जाएगी।"[११] इस हरजाईपन के अतिरिक्त हमेशा खाने-पीने की बातों में ही आनन्द आता है। उसकी दोनों भूखें तेज हैं।

सवर्ण पात्रों में कुछ विशिष्ट पात्र हैं, जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। इनमें से एक लालू पहलवान है। वह लँगोट का पक्का है। वह मामा का लँगोटिया यार रह चुका है। इसलिए वह काली की बड़ी आत्मीयता के साथ सहायता करता है। वह टूटी हड्डी जोड़ने में बड़ा निपुण है। यह काम वह आजीविका के रूप में नहीं,

अपितु धर्म के रूप में करता है। नूरा पहलवान का हाँथ तोड़ने के अपराध में उसके उस्ताद ने उसका लँगोट लेकर पीपल की ऊँची टहनी के साथ बाँधकर लालू को अखाड़े में उतरने से मना कर दिया था। तब से वह आदमी को अंगहीन होने से बचाने को अपना धर्म समझता है। वह काली को अपने यहाँ काम के लिए रख लेता है, किन्तु ज्ञानो के साथ काली के सम्बन्ध को जानने के बाद उसे वह अपने घर से निकाल देता है। सवर्ण जाटों में घड्डम चौधरी (नत्थासिंह) भी हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है। उसे कानून कचहरी का बड़ा शौक है। दूसरे के कामों में हस्तक्षेप करना उसे अपना धर्म प्रतीत होता है। वह अपनी सारी जमीन बेचकर खा चुका है। वह निःसंतान विधुर है, अतः उसे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। गाँव की हर बात की जानकारी उसे होती है। वह बड़ा मुँहफट है। काली और निक्कू के झगड़े के प्रसंग में वह पटवारी की लीलो की गरदावरी करने के कारण निन्दा करता है और झगड़े का निपटारा करने में सहायता करके काली से दो रुपए ले लेता है। पटवारी की इस रिश्वत में उसकी भी साझेदारी है। उपन्यास के अन्य पात्र प्रायः वर्ग चरित्र हैं। डॉक्टर बिशनदास हिन्दुस्तानी नेता हैं। स्यापे की तरह लम्बी बातें करने में ही उसकी अधिक रुचि है। साम्यवादी होते हुए सर्वहारा वर्ग की यातनाओं के साथ उसे केवल बौद्धिक हमदर्दी है।

लेखक का ध्यान उपन्यास के देशकाल पर प्रायः नहीं है। घोड़वाहा गाँव शिवालक पर्वत के निकट का एक गाँव है, जिसके पास एक नाला सटकर बहता है। उपन्यास में सावन के महीने में आई बाढ़ का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। इसी प्रसंग के बाद उपन्यास का हड़ताल का प्रसंग है, जिसे आर्थिक समस्या की दृष्टि से उपन्यास की चरमसीमा का प्रसंग कहा जा सकता है। प्रेमकथा की दृष्टि से उपन्यास की चरम सीमा ज्ञानो की मृत्यु और काली का लापता होना है। इसके अतिरिक्त देशकाल वर्णन पर लेखक की दृष्टि नहीं जाती है। चाची प्रतापी की बीमारी के प्रसंग में सातवीं के चाँद का उल्लेख है तथा नंदसिंह के ईसाई होने के प्रसंग में रविवार होने का। यह उपन्यास ग्रीष्म और वर्षाकाल का उपन्यास है। उपन्यास से सम्बन्धित दिनों की गिनती करने पर ज्ञात होता है कि यह केवल चवालीस दिनों की कथा है।

भाषा शैली की दृष्टि से हमारा ध्यान सबसे पहले पंजाबी शब्दों और वाक्यों की ओर जाता है। यद्यपि पंजाबी हिन्दी की बोली नहीं है, किन्तु लेखक ने उसका भरपूर उपयोग किया है। इसका पहला कारण तो यह है कि लेखक कथानक को आंचलिकता के विशिष्ट रंग से चमकाना चाहता है तथा दूसरा कारण संवादों की भाषा को अधिक स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न है। लेखक ने सैकड़ों पंजाबी शब्दों का प्रयोग उपन्यास में किया है। चो, डुड, तंद, डंग, किड़ा, गुड्डा, बबूना, नंगल,

चीचड आदि अनेक शब्द उपन्यास मे बिखरे पडे हैं। इनमे से कुछ शब्दो की वर्तनी अस्थिर है। 'नय' और 'स्तून' शब्दो को 'नै' और 'सतून' रूप मे भी प्रयुक्त किया है। कितने ही शब्दो का अर्थ उनकी बन्धनियो मे दिया गया है। उपन्यास मे लगभग सौ स्थानो पर बन्धनियो का प्रयोग हुआ है। शब्द के अर्थ का बधनीगत स्पष्टीकरण उपन्यास मे उस शब्द के प्रथम प्रयोग के अवसर पर होना चाहिए, किन्तु कितनी ही बार ऐसा नही हुआ है। तद कामा आदि ऐसे कुछ शब्द हैं, जिनका स्पष्टीकरण उनके प्रथम प्रयोग के स्थान पर नही किया गया है। कही-कही स्पष्टीकरण अस्पष्ट है। 'थम्मी 'लकडी का मोटा लठ' ही नही होती, अपितु 'छत को सहारा देने वाला लकडी का स्तून' होता है। कही-कही बन्धनियो का गलत स्थान पर प्रयोग हुआ है। गेहूँ के(बालियाँ)सिट्टे' के स्थान पर 'गेहूँ के सिट्टे(बालियाँ) होना चाहिए। निरर्थक रूप मे भी बधनियो का प्रयोग खटकता है। 'दो साफ (ईंट) रोडे' के स्थान पर 'दो साफ ईंट के रोडे' होना चाहिए। इसी प्रकार लोग आकर प्रतापी चाची से पूछते है—'चाचो (नमक) है, चाचो (मिर्च) है।' इस स्थान पर बधनी का प्रयोग निरर्थक है। 'शाहवेला का अर्थ बधनी मे 'ब्रेकफास्ट' दिया है, जो अर्थ की दृष्टि से ठीक होते हुए भी इसलिए खटकता है कि स्पष्टीकरण अंग्रेजी शब्द के द्वारा न किया जा करके किसी हिन्दी शब्द के द्वारा किया जाना चाहिए था।'[११]

पजाब मे दीर्घकाल तक मुसलमानी शासन के प्रभाव के कारण उर्दू का बोलबाला रहा है। 'धरती धन न अपना' मे उर्दू शब्दो का प्रयोग बहुत बडी मात्रा मे हुआ है। शदम, जुबरा, यादफरामोश, जेहन आदि अनेक ऐसे ही उर्दू शब्द हैं। कहीकही वर्तनीगत अस्थिरता का दोष इन उर्दू शब्दो मे भी पाया जाता है। 'ख्वाहमुख्वाह' और 'खामुखाह' ऐसे ही प्रयोग हैं। कही-कही एक ही शब्द के उर्दू और हिन्दी के पर्याय कुछ-एक शब्दो के अन्तर पर ही प्रयुक्त हुए हैं। 'खौफ' और 'भय' का प्रयोग केवल एक पक्ति के अन्तर पर हुआ है। उर्दू शब्दो का पजाबी रूप भी अनेक स्थानो पर दिखाई देता है। 'फ्रिक्त' (गिरफ्त), 'फरेब' (फरेब) आदि ऐसे अनेक शब्द हैं। 'पेशेवर खिलाडी' के स्थान पर (पेशावर खिलाडी) का प्रयोग खटकता है।

उपन्यास मे केवल शब्दों का ही नही, अपितु वाक्याशो, मुहावरो, वाक्यो और कहावतो मे भी पजाबी वाक्याश आदि हैं। 'रब साइयाँ दी' 'तेरे सदके' आदि ऐसे ही वाक्याश हैं। कुछ विशेष पजाबी मुहावरे भी जहाँ-तहाँ आए हैं। 'दाढा-दाढी करना', 'बकरे बुलाना' आदि ऐसे ही मुहावरे हैं। 'थूक से पकौडे पकाना', 'कटी उँगली मे नमक छिडकना' आदि मुहावरे हिन्दी को समृद्ध करने के लिए उपयोगी हैं। 'घडी मे मेर और पल मे माशा होना' की अपेक्षा 'पल मे तोला और पल मे माशा होना' अधिक अर्थवाहक मुहावरा है। 'जोरावर का सात बीस का सौ' पजाबी कहावत का हिन्दी रूप है। 'गोरा कमीन और काला ब्राह्मण दोनो हरामी होते हैं।'

यह कहावत भी पंजाबी कहावत का हिन्दी रूपान्तर है ।

पंजाबी और उर्दू भाषा के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा के भी बहुत से शब्द डाक्टर विशनदास आदि की भाषा में आए हैं । परोलतारी, प्रोलातारिया, सावोताज आदि ऐसे अनेक शब्द है । 'रप्ट' (रिपोर्ट), 'स्प्रिट' (स्पिरिट) आदि कुछ शब्द पंजाबी उच्चारण के अनुकूल रखे गए हैं । अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग में भी वर्तनीगत अस्थिरता है । कहीं 'परोलतारी' है, तो कहीं 'प्रोलतारी' । कहीं 'बूरज्वा' का प्रयोग हुआ है तो कहीं 'बूर्जवा' रूप का । इस मामले में लेखक को अधिक सतर्कता बरतनी चाहिए थी । पंडित संतराम की भाषा में संस्कृत शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में हुआ है और वह स्वाभाविक भी है । 'अश्नान' 'शराब' आदि ऐसे ही पंजाबी उच्चारण से प्रभावित संस्कृत शब्द है ।

उपन्यास में कुछ सुन्दर सूक्तियाँ भी दीखती हैं । इनमें से कुछेक सूक्तियाँ इस प्रकार हैं—"गरीबी आदमी का जमीर खत्म कर देती है"; "जिसके पास चादर है, वही चौधरी है"[१३] आदि ।

प्रस्तुत उपन्यास में अलंकारों का प्रयोग अत्यंत सहज रूप में हुआ है । ग्रामीण व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त अलंकार एवं स्वयं लेखक द्वारा प्रयुक्त अलंकार ग्रामीण वातावरण के अत्यधिक अनुकूल हैं । 'सूखे बेर जैसी प्राणहीन शक्लें'; 'कानों के पर्दे तरबूज के खप्पर की तरह मोटे' आदि प्रयोग ऐसे ही हैं । अपने हाथों अपनी रसोई तैयार करने वाले संतासिंह का यह कहना उपयुक्त ही है कि—"ब्याह के बिना जिंदगी सुलगती लकड़ी की तरह है ।" अन्धेरी रात में ज्ञानो के दरवाजे पर दस्तक देने पर काली ने "इस नर्मी से साँकल उतारी जैसे किसी मुटियार के सिर से चुन्नी उतार रहा हो ।"[१४] यह उपमा प्रसंग के अत्यधिक अनुकूल है । प्रतापी चाची का काली से यह कहना कि वह खेड़ से बिछुड़ी बछिया को देखकर रो दिया करती थी, स्मरण अलंकार का सुन्दर उदाहरण है ।[१५] अलंकारों का सीमित एवं सहज प्रयोग उपन्यास में सर्वत्र देखा जा सकता है ।

इस उपन्यास में भाषा की दृष्टि से कुछ व्याकरणगत त्रुटियाँ बहुत खटकती हैं । एक ही प्रसंग में एक ही व्यक्ति के लिए 'तू' और 'तुम' सर्वनामों का प्रयोग किया गया है । चाची प्रतापी कहती है—"तुम्हें तो शायद उसकी सूरत भी याद न हो । सारे खानदान की तू ही तो एक निशानी है ।"[१६] "तू...बैठो'; 'सुनाओ तू' आदि ऐसे ही अनेक प्रयोग हैं । शब्दों के विकारी रूपों का प्रयोग भी ऐसे ही विकारग्रस्त है, जैसे—'चाचे ने' । 'मजमा से हट कर' में विकारी रूप का प्रयोग आवश्यक है । 'इतमीनान का साँस' में लिंगगत दोष है । 'साँस' शब्द हिन्दी में स्त्रीलिंग है । 'धीवर' या 'देवर' का स्त्रीलिंग रूप 'धीवरी' या 'देवरी' ही ठीक है, 'देवरानी' नहीं ।[१७] ऐसी ही अनेक व्याकरणगत त्रुटियाँ उपन्यास में इतस्ततः बिखरी पड़ी हैं । इन त्रुटियों

को दूर करना आवश्यक है। इस प्रकार की त्रुटियों के बावजूद उपन्यास की भाषा सहज एवं सप्राण है।

टिप्पणियाँ

१ निषाद बाँसुरी—ले० श्री कुबेरनाथ राय
२ धरती धन न अपना (प्रथम संस्करण) पृ० १०७
३ धरती धन न अपना, पृ० १०८
४ वही, पृ० ६७
५, वही, पृ० २३४
६. वही पृ० २१६
७ वही, पृ० १६९
८ वही, पृ० १९६
९ वही, पृ० २७१
१० वही, पृ० ८७
११ वही, पृ० १२४
१२. वही, पृ० २६२
१३ वही, पृ० ६९
१४ वही, पृ० २२३
१५ वही, पृ० १३
१६ वही, पृ० १३
१७ वही, पृ० ११३

तमस :
साम्प्रदायिकता के अंधेरे में भटकता आम आदमी

सूर्यनारायण रणसुभे

ये लोग अपने इतिहास को जानते नहीं, ये केवल उसे जीते भर हैं।

—तमस

देश के नाम पर ये लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लड़ाते हो। क्यों ठीक, है ना!

—तमस

लड़ने वालों के पाँव बीसवीं सदी में थे, सिर मध्य-युग में।"

—तमस

काफिर को मारना और बात है, अपने घर के अन्दर जान-पहचान के पनाह-गजीन को मारना दूसरी बात। उसका खून करना पहाड़ की चोटी पार करने से ज्यादा कठिन हो रहा था। मजहबी जनून और नफरत के इस माहौल में एक पतली-सी लकीर कहीं पर अभी भी खिंची थी, जिसे पार करना बहुत ही मुश्किल था।

—तमस

उसे लगा जैसे मानवीय मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं होता, वास्तव में महत्त्व केवल शासकीय मूल्यों का होता है।

—तमस

१५

तमस

इस देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए जो विभिन्न आन्दोलन हुए, उनके परिणामस्वरूप ही अन्ततः अंग्रेजों को राजनीतिक स्वतन्त्रता की घोषणा करनी पड़ी। इन विभिन्न आन्दोलनों के कारण अंग्रेज आरम्भ में भारतीयों को विभिन्न स्तरों पर राजनीतिक स्वतन्त्रता दे रहे थे। इसी कारण चुनाव की नई पद्धति शुरू हुई। नगर-परिषदों से लेकर धीरे-धीरे प्रान्तीय स्तरों तक के कारोबार में भाग लेने की छूट दी जाने लगी। कारोबार में भाग लेने का अर्थ ही है—सत्ता के निकट चले जाना। सत्ता में हिस्सा मिलने का अर्थ ही है—विशेषाधिकारों को प्राप्त कर लेना। अपने ऐतिहासिक और संगठित संघर्ष के कारण ये विशेषाधिकार कांग्रेसियों को अधिक प्राप्त होने लगे। और यहीं से दो सम्प्रदायों के बीच दूरी बढ़ने लगी। आधुनिक शिक्षा की स्पर्धा में हिन्दू मुसलमानों से अधिक जागरूक थे। राजनीतिक सजगता भी उनमें अधिक रही है। इसी कारण कांग्रेस में इनकी संख्या अधिक थी। नगर परिषद के चुनावों से लेकर अन्य क्षेत्रों में कांग्रेस को अधिकार मिलने लगे। परिणामस्वरूप अधिकारों का केन्द्रीकरण हिन्दुओं में अधिक होने लगा—इसे देखकर शिक्षित मुसल-मान तिलमिला उठा और धीरे-धीरे वह अपनी कौम को विविध तर्क देकर संगठित करने लगा; भड़काने लगा। यहाँ पर यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि हिन्दुओं के भीतर भी सनातनी और कट्टर साम्प्रदायिक शक्तियों की कमी नहीं थी (जो पुनरुत्थान के नाम से उभरी थीं)। ये शक्तियाँ भी इस अलगाव को बढ़ाने में अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग दे रहीं थीं।

बढ़ते हुए राजनीतिक आन्दोलन, विश्व राजनीति की परिवर्तित दिशायें, दूसरा महायुद्ध तथा बरतानिया की बदली हुई सरकार—इन विविध कारणों से ६ मार्च १९४७ को सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा अंग्रेजों को करनी पड़ी। इसके पूर्व ही यहाँ साम्प्रदायिक अलगाव अपने चरम-उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। १९३३ में रहमतअली खाँ पाकिस्तान की योजना रख चुके थे। आरम्भ में मुस्लिम लीग ने इस योजना को अस्वीकार करते हुए—इसे बचकानी हरकत कहा था। इस कठोर टीका

के बावजूद रहमतअली भारत-विभाजन अर्थात् स्वतन्त्र पाकिस्तान का प्रचार-प्रसार कर रहे थे। कांग्रेस तथा अंग्रेजों के साथ समझौता न होने के कारण मुस्लिम लोकमत धीरे-धीरे पाकिस्तान के पक्ष मे जाने लगा। श्री जिना—जो अब तक स्वतन्त्र पाकिस्तान के विरोधी थे—बदली हुई परिस्थितियो को देखते हुए—इस माँग का राजनीतिक उपयोग कर लेने लगे। मार्च १९४० के मुस्लिम-लीग के लाहौर अधिवेशन मे पहली बार स्वतन्त्र पाकिस्तान की मांग रखी गई। इस माँग के कारण सारे देश मे खलबली मच गई। इस तरह १९४० से १९४६ तक पाकिस्तान की चर्चा विभिन्न तरीको से हो रही थी। कांग्रेस तथा अन्य हिन्दुत्ववादी सघटनाएँ इस विभाजन का विरोध कर रही थी और मुस्लिम-लीग "लेके रहेंगे पाकिस्तान" का नारा लगा रही थी। लीग के कार्यकर्ता इस नारे को जनसामान्य तक पहुँचाने का कार्य व्यवस्थित रूप से कर रहे थे। १० अप्रैल १९४६ को श्री जिना ने मुस्लिम लीग की एक बैठक दिल्ली मे बुलाई और उसमे उन्होंने पाकिस्तान की सीमाओ और उसमें सम्मिलित प्रदेशो की योजना स्पष्ट की। उनके अनुसार पाकिस्तान मे छः प्रान्त होगे : बगाल एव असम [उत्तर पूर्व मे] पजाव, उत्तर पश्चिम सीमा प्रदेश एव प्रान्त, सिन्ध, बलूचिस्तान [उत्तर पश्चिम मे]

इसका अर्थ यह हुआ कि अप्रैल १९४६ से ही उपर्युक्त प्रान्तो के हिन्दू एव मुसलमानो मे तनाव के बीज पड चुके थे। यह तनाव धीरे-धीरे बढने लगा। सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा के बाद (२० फरवरी १९४७) ६ मार्च १९४७ को कांग्रेस-कार्यकारिणी की बैठक हुई और उसमे ब्रिटिश सरकार की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा का हराभरा स्वागत किया गया तथा स्वतन्त्र पाकिस्तान के बजाए मुस्लिम-लीग के साथ समझौता करने का आग्रह किया गया। रुकी हुई बातचीत से रास्ता निकालने की कोशिश फिर शुरू हो गई। कांग्रेस ने यह सुझाया कि बहुसख्यको के आधार पर प्रान्त रचना के लिए वह तैयार है। इस प्रकार पजाब और बगाल के विभाजन को कांग्रेस तैयार हो गई। हिन्दू पजाब एव मुस्लिम पजाब। हिन्दू बगाल एव मुस्लिम बगाल। कांग्रेस के कुछ सदस्यो को यह योजना मान्य नही थी। इसलिए कांग्रेस-अध्यक्ष ने स्पष्टीकरण देते हुए कहा कि पजाब के विभाजन की बात हम केवल इसलिए कर रहे हैं कि हिंसात्मक घटनाओ की समाप्ति हो जाय। कांग्रेस के इस प्रस्ताव को लीग ने नामजूर कर दिया और यह कहा कि पाकिस्तान की माँग से वह एक इच भी पीछे नही आना चाहती। कांग्रेस के पजाब विभाजन की प्रतिक्रिया पजाब में हुई। हिंसात्मक घटनाओ की समाप्ति के लिए यह योजना रखी गई थी परन्तु दुर्भाग्य से हिंसात्मक घटनाएँ बढने लगी। मुसलमान यह मानकर चलने लगे कि अब उनके प्रदेश मे हिन्दुओ की आवश्यकता नही है और हिन्दू यह कहने लगे कि अब हमारे प्रदेश मे मुस्लिम नही रह सकते। लोगो पर अत्याचार शुरू हुए।

इस दृष्टि से मार्च १९४७ से लेकर जनवरी १९४८ तक का दस महीने का समय अराजकता, दंगे, आगजनी, बलात्कार और क्रूरता का समय रहा है। इसमे भी मार्च १९४७ से अगस्त १९४७ यह छः महीने सर्वाधिक क्रूर और भयावह रहे है। इन छः महीनो मे मनुष्यता के लिए लज्जास्पद घटनाएँ घटित हुई। २४ मार्च १९४७ को लॉर्ड माऊँटबैटन यहाँ आए। उनके लगातार के प्रयत्न के कारण विभाजन की योजना कांग्रेस को स्वीकार करनी पड़ी। दो जून १९४७ को कांग्रेस कार्यकारिणी ने विभाजन की माँग को अर्थात् स्वतन्त्र पाकिस्तान के निर्माण को मान्यता दे दी। आम जनता की रही-सही आशाएँ समाप्त हुई। सबको ऐसा लग रहा था कि महात्मा जी इस प्रस्ताव को मान्यता नही देंगे। परन्तु अब सारी आशाये खत्म हुई। क्योंकि उनके विरोध के बावजूद पाकिस्तान को स्वीकृति दी गई। परिणामस्वरूप मुस्लिम बहुसंख्य प्रदेश मे जो हिन्दू थे, वे मुस्लिमो की क्रूरता के शिकार बने और यही स्थिति हिन्दू बहुसंख्यक प्रदेशो के मुस्लिमो की हुई। केवल एक माह के भीतर यह तय किया गया कि पंजाब और बंगाल का कौनसा प्रदेश हिन्दुस्तान मे जाएगा और कौनसा पाकिस्तान में। सर्वसामान्य जनता आखिर तक धोखे में रही। स्वतन्त्रता के डेढ़ माह पूर्व भी उन्हे यह पता नही था कि वे जहाँ हैं वह पाकिस्तानी प्रदेश में जानेवाला इलाका है अथवा हिन्दुस्तान में।

मार्च १९४७ से अगस्त १९४७ के बीच सर्वसामान्य व्यक्तियो की जो असहाय्य स्थिति हुई; विभाजन के नाम पर जो क्रूर अत्याचार हुए; साम्प्रदायिक शक्तियाँ जिस प्रकार कार्य कर रही थी—इन सबको उपन्यासों द्वारा समेटने का प्रयत्न कुछ लेखको ने किया है। विभाजन की इस त्रासदी को लेकर बदीउज्जमाँ ने लिखा है कि "हजारो वर्ष बाद इस देश में महाभारत जैसी एक और त्रासदी घटी।"[1] इस त्रासदी को विभिन्न कोणो से देखने का प्रयत्न हुआ है। 'तमस' इस प्रकार के उपन्यासों की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। 'तमस' के पूर्व यशपाल का "झूठा-सच", यज्ञदत्त शर्मा का "इन्सान", गुरुदत्त का "देश की हत्या", रामानन्द सागर का "और इन्सान मर गया" कमलेश्वर का "लौटे हुए मुसाफिर"—प्रकाशित हो चुके हैं। तमस के लेखक भीष्म साहनी पंजाब के है और विभाजन के समय वे उसी प्रदेश मे थे। इस कारण इस उपन्यास का महत्त्व अधिक है। एक जनवादी लेखक ने इस समस्या को किस दृष्टि से देखा है—इसकी खोज भी करना जरूरी है।

कथावस्तु : अप्रैल १९४७ के समय के पंजाब के एक जिले को परिवेश के रूप मे यहाँ स्वीकार किया गया है। यह जिला और उससे सम्बन्धित कुछ देहातो के साम्प्रदायिक तनाव, संघर्ष और फिसाद को कथावस्तु के रूप मे यहाँ स्वीकार किया गया है। यह वह समय है जब कैबिनेटमिशन की योजना के अनुसार केन्द्र मे अन्तरिम सरकार बन चुकी थी। पं० नेहरू इस सरकार के प्रमुख थे। लॉर्ड माऊँटबैटन

दिल्ली आ चुके थे। विभाजन के लिए वे अनुकूल वातावरण बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। छ मार्च १९४७ को कांग्रेस कार्यकारिणी विभाजन को रोकने के लिए बहुसंख्यकों के आधार पर पंजाब और बंगाल का विभाजन करके दो प्रान्तों के निर्माण की योजना रख चुकी थी। पंजाब विभाजन की योजना मुस्लिम-लीग अस्वीकार कर चुकी थी। अप्रैल के पूर्व ही दिल्ली में ये राजनीतिक घटनाएँ घटित हो चुकी थी। दिल्ली से दूर पंजाब के एक मुस्लिम बहुसंख्यक जिले में इन सबकी प्रतिक्रियाएँ होना स्वाभाविक था। हिन्दुओं के प्रति मुस्लिमों को भड़काया जा रहा था। साम्प्रदायिक शक्तियाँ इसे और अधिक उभार रही थी। कांग्रेस और कम्युनिस्ट समझौता और अमन के लिए प्रयत्नशील थे। और अंग्रेज अधिकारी इन दोनों सम्प्रदायों के हिंसात्मक आन्दोलनों को खामोशी से देख रहे थे। बड़े तबके के शिक्षित हिन्दू और मुसलमानों की अपेक्षा छोटे तबके के लोग सर्वाधिक परेशान थे। उपन्यास में वर्णित इस जिले में कुल छ विभिन्न शक्तियाँ कार्य कर रही थी। कम अधिक मात्रा में हिन्दू-मुस्लिम फिसादों के समय सारे देश में यही छ शक्तियाँ कार्यरत थी। इनमें से कुछ शक्तियाँ एक-दूसरे के विरोध में खड़ी थी तो कुछ एक दूसरे के सहयोग में। एक दूसरे का विरोध करने वाली ये शक्तियाँ एक बिन्दु पर एक दूसरे से मिल जाती हैं। मजेदार बात यह है कि ये छ शक्तियाँ आम आदमी की सुरक्षा और फायदे का नारा लगाती हैं। परन्तु सच्चाई यह है कि इनके कारण आम आदमी की हानि ही अधिक हुई। सुरक्षा और फायदे का इनका नारा एक बहुत बड़ा झूठ था। यह छ शक्तियाँ इस प्रकार हैं—

१ अंग्रेज सत्ता के सर्वोच्च शिखर पर अंग्रेज थे। आरम्भ से इनकी नीति और समय-समय पर इनके द्वारा लिए गये निर्णय यह स्पष्ट करते हैं कि दो सम्प्रदायों को लड़ाने में ही वे खुद को सुरक्षित अनुभव करते थे। "प्रजा अगर आपस में लड़े तो शासक को किस बात का खतरा है।"[1] "यह देखना निहायत जरूरी था कि जनता का असंतोष ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध न भड़के।"[2] "हुकूमत करने वाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौनसी समानता पाई जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक दूसरे से अलग हैं।"[3] इन विविध वक्तव्यों से स्पष्ट है कि यह शक्ति दो धर्मों के तनाव को किसी भी स्तर पर कम नहीं करना चाहती थी। हाँ, काफी कुछ हो जाने के बाद बहुत कुछ करने का नाटक अलबत्ता वे जरूर करते हैं।

मुस्लिम-लीग मुस्लिमों के हित का नारा लगाकर मुस्लिम-लीग १९०६ से कार्य कर रही है। पढ़े-लिखे और कट्टर धार्मिक मुस्लिम अपने हित के लिए मुस्लिम-लीग के झंडे के नीचे आ गये। जिना जैसा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति लीग को मिल जाने से उसमें नई जान आ गई। १९४० तक आते-आते मुस्लिम बहुसंख्यक

प्रान्तों में सभी स्तरों पर लीग की स्थापना हुई। "कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है। इसके साथ मुसलमानों का कोई वास्ता नहीं है।"[५] कांग्रेस की नफरत से ही लीग उभरी थी। हिन्दू-मुस्लिम एका करने वाली शक्तियों को भी ये नफरत करते थे। इसी कारण कांग्रेस में कार्यरत मुसलमानों की इन्होंने खिल्ली उड़ाई। मौलाना आजाद हिन्दुओं का सबसे बड़ा कुत्ता है।..... हमें हिन्दुओं से नफरत नहीं, इनके कुत्तों से नफरत है।"[६] कांग्रेस मुस्लिमों की नुमाईन्दी नहीं कर सकती।"[७] लीग के सामान्य कार्यकर्ता भी जिना के शब्दों में बोल रहे थे। धीरे-धीरे लीग कट्टर साम्प्रदायिक शक्ति के रूप में उभरी। लीग की इसी कट्टरता के कारण पंजाब के हिन्दुओं को जबरदस्त नुकसान पहुँचा तो दूसरी ओर पंजाब तथा प० बंगाल के मुस्लिमों को भी काफी नुकसान उठाना पड़ा।

३. आर्य-समाज : १८७५ में स्थापित आर्य-समाज सामाजिक सुधार एवं धार्मिक पुनरुत्थान के लिए उठ खड़ा हुआ था। शिक्षा एवं सामाजिक क्षेत्रों में आर्य-समाज का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। धार्मिक क्षेत्र में तो यह कार्य कुछ सीमा तक क्रान्तिकारी ही है। परन्तु धीरे-धीरे समाज के नेता राजनीति के क्षेत्र में उतर आये। अगर वे केवल अंग्रेजों के विरुद्ध ही जनमत तैयार करते तो कोई हानि की बात नहीं थी। परन्तु धार्मिक पुनरुत्थान के नाम पर बात-बात में हिन्दू-संगठन का आग्रह, हिन्दुओं की महानता पर बल, व अन्य धर्मों की खिल्ली उड़ाने की वृत्ति के कारण समाज मुस्लिमों की विरोधी शक्ति के रूप में उभरने लगा। उधर मुस्लिमों में इसी प्रकार का कार्य "वहाबी तहरीक" द्वारा शुरू हुआ। परिणामतः तनाव बढ़ने लगा। अगर ये दोनों पुनरुत्थानवादी धाराएँ धर्म तक ही सीमित रहती तो शायद पृथक राष्ट्रीय आन्दोलनों के विकास का कारण न बनती।"[८] इस प्रकार अलगाव की इस प्रक्रिया में आर्यसमाज ने गति ला दी।

कम्युनिस्ट : विभाजन के पाप के भागीदार कम्युनिस्ट भी हैं। परन्तु इसके बावजूद यह सच्चाई है कि इन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए काफी प्रयत्न भी किए। विशेषतः सन् १९४७ के समय लाहौर, अमृतसर तथा पंजाब के अन्य बड़े शहरों में वे इस एकता के लिए प्रयत्नशील थे। "हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम लोगों को मुसलमानों के खिलाफ भड़काया जा रहा है। हम झूठी अफवाहें सुन-कर एक-दूसरे के खिलाफ तैश में आ रहे हैं।"[९] इनकी दृष्टि राजनीतिक अधिक थी; मानवीय कम।

५. कांग्रेस : म० गांधीजी के नेतृत्व में विकसित कांग्रेस अपने तरीके से विभाजन का विरोध कर रही थी। राष्ट्रीय स्तर पर इस पार्टी की नीति बहुत ही स्पष्ट थी। परन्तु जब दंगे बढ़ने लगे, हिन्दुओं को नुकसान पहुँचने लगा, तब सामान्य कांग्रेसी कार्यकर्ताओं का विश्वास अहिंसा से उठता गया। मुस्लिम-लीग के जबरदस्त

प्रचार और प्रवाह मे ये अकेले पडते गये। लोगो के मन मे यह बात बैठ गई थी। कि कांग्रेस हिन्दुओ की सस्था है।"[११] जो मुसलमान कांग्रेस मे थे, उनको सर्वाधिक तकलीफ हुई। इस उपन्यास के बख्शी जी इनके प्रमाण हैं। विभाजन के निर्णय के बाद तो पूर्वी पंजाब के कांग्रेसी सर्वाधिक हतबल हो गये। उन्हें यह महसूस हो गया कि साम्प्रदायिक शक्तियाँ और हिंसा के सम्मुख गांधीजी के सिद्धान्त पराजित से हो गये हैं। फिर भी आखरी समय तक फसादो को रोकने की कोशिश कांग्रेसी कर रहे थे।

६ सिख—पंजाब के विभाजन का सर्वाधिक विरोध सिख-जमात ने किया। परन्तु यह विरोध विधायक नही था। क्योकि इनके विरोध से साम्प्रदायिक शक्तियाँ अधिक उभरी। वे बार-बार सिख कौम के इस सकट को तीन सौ वर्ष पहले लडे गये धर्मयुद्ध के साथ जोड रहे थे। लडाकू जाति के रूप मे प्रसिद्ध सिखो ने अल्पमत के बावजूद भी मुस्लिमो से टकराने की हिम्मत की। इस सम्पूर्ण समस्या को विवेक और तटस्थता से देखने के बजाए वे इसे केवल युद्ध के स्तर पर ही देखते रहे। परिणामत. नफरत की आग अधिक बढती गई। *"लडने वालो के पाँव बीसवी सदी मे थे, सिर मध्ययुग मे।"*[१२]

१९४६–४७ के पंजाब के किसी भी कस्बे म उपर्युक्त छ शक्तियाँ कार्यरत थी। इनमे से चार—कांग्रेस, आर्यसमाज, सिख-समाज और कम्युनिस्ट-विभाजन के विरोध मे थे। लीग विभाजन के लिए प्रयत्नशील थी और अंग्रेज—जिनके हाथो मे सुरक्षा के सारे सूत्र थे वे पूर्णत तटस्थ थे। अंग्रेजो की इसी हृदयहीन तटस्थता के कारण ही विभाजन का इतिहासारक्त, आगजनी और बलात्कार के साथ जुड गया।

उपर्युक्त छ शक्तियाँ इस उपन्यास की कथा पर पूर्णत छा गयी हैं। शिक्षित-अशिक्षित व्यक्तियो की विचारधारा इनमे से किसी-न किसी एक से प्रभावित है। उनकी चेतना पर यह शक्तियाँ छा गई हैं और उसी के फलस्वरूप वे क्रियारत हैं। मुस्लिम-लीग, आर्य समाज और सिख-समाज अपनी सम्पूर्ण कट्टरता के बावजूद एक बिन्दु पर निकट आते हैं और वह बिन्दु है—धर्म का राजनीति के लिए उपयोग। इनके कारण ही दगे बढते गये। सिख और हिन्दू मुसलमानो के प्रति नफरत बढा रहे थे और लीग भी यही कार्य कर रही थी। इन तीन प्रखर शक्तियो के सम्मुख कांग्रेस अकेली पड गयी। लीग धर्म के नाम पर जान-बूझकर झगड़ों के लिए वातावरण तैयार करवा रही थी।

कथावस्तु दो खण्डों मे विभाजित है। पहले खण्ड मे कुल तेरह प्रकरण हैं। नत्थू नामक एक मामूली चमार से कथावस्तु का आरम्भ हो जाता है। पशुओ की खाल उतारना नत्थू का व्यवसाय है। मुरादअली नामक एक कट्टर मुस्लिम व्यक्ति ने उसे एक काम सौंपा है। इस काम के लिए नत्थू को पाँच रुपये दिये गये हैं। कस्बे

वृद्ध सज्जन बार-बार यह समझाने की कोशिश कर रहे थे कि "डिप्टी कमिश्नर से मिल लेना जरूरी है। उन्हें सारी स्थिति समझायी जाए।" परन्तु उधर कोई गौर नही कर रहा था। आश्चर्य इस बात का है कि शहर का एक भी ऐसा वर्ग नही है जो इस सारी घटना के मूल मे जाकर सच्चाई का उद्घाटन कर सके।"[१४] मस्जिद की सीढ़ियो पर सुअर की लाश देखकर "मुस्लिम तैश मे आ गये हैं। और गो-हत्या से हिन्दू। लीगी और हिन्दू दोनो इन पशु हत्याओ की पूँजी बनाकर एक-दूसरे के विरोध मे नारे लगा रहे हैं और संगठित होकर मुकाबले की तैयारी कर रहे हैं। किसी ने यह जानने की कोशिश नही की है कि सुअर को मारा किसने ? मस्जिद पर लाकर फेंका किसने ? इसके मूल मे किसी की शरारत है अथवा किसी का कोई भयानक षड्यंत्र !

कट्टर हिन्दुत्ववादी संघटनाएँ भी अपने तरीके से कार्य कर रही हैं। मास्टर जी रणवीर तथा अन्य आर्यवीर बालको को समझा रहे हैं "म्लेछ तो गन्दे लोग होते हैं, म्लेछ नहाते नहीं, पाखाना करके हाथ नही धोते, एक-दूसरे का झूठा खा लेते हैं, समय पर शौच नही जाते ।" रणवीर तथा अन्य बालको को वे मुस्लिमो के खून करने के नये-नये तरीके समझा रहे हैं।

शहर की इस बदली हुई स्थिति को देखकर कांग्रेस तथा अन्य पार्टियो के लोगों ने डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड से मिलना जरूरी समझा। इस घटना के तीन चार घंटो बाद ही छः व्यक्ति (चार सिख, दो कांग्रेसी, एक लीगी) रिचर्ड के यहाँ पहुँचे। साथ मे मिशन कॉलेज के अमरीकी प्रिन्सिपल हरबर्ट भी थे। "सरकार की तरफ से फौरन ऐसी कार्रवाई की जानी चाहिए जिससे स्थिति काबू मे आ जाए। ... वरना ... वरना इस शहर पर चीलें मँडरायेंगी।"[१५] बख्शी जी बार-बार इस वाक्य को दुहराते हैं। परन्तु रिचर्ड इस सम्बन्ध मे कुछ भी करना नही चाहता। क्योंकि "हम इनके धार्मिक झगड़ो मे दखल नही देते ।"[१६] इन झगड़ो से अंग्रेज सरकार की जड़ें अधिक शक्तिशाली होने वाली हैं। जब बख्शीजी यह फिर दुहराते हैं कि "शहर की रक्षा तो आप ही की जिम्मेदारी है।" तो रिचर्ड यह कहकर के "ताकत तो इस वक्त पंडित नेहरू के हाथ मे है"—टाल देते हैं।[१७] "अगर शहर मे पुलिस गश्त करने लगे, जगह-जगह फौज की चौकियाँ बिठा दी जाएँ तो दंगा फिसाद नही होगा, स्थिति काबू मे आ जाएगी।" अथवा "आप फौज नही बैठा सकते तो शहर मे कर्फ्यू लगा दें। इसी से स्थिति संभल जाएगी। पुलिस की ही चौकियाँ बैठा दें।" "इस वक्त हालत नाजुक है। अगर मार-काट शुरू हो गई तो उसे संभालना कठिन होगा। अगर एक हवाई-जहाज ही शहर के ऊपर उड़ जाए तो लोगों को कान हो जाएँगे कि सरकार बाखबर है। फिसाद को रोकने के लिए इतना भी काफी होगा।"[१८] इन विविध पर्यायो मे से एक भी रिचर्ड स्वीकार करने को तैयार नही

है। किसी न किसी बहाने वह प्रत्येक बात को टाल देता है। अंग्रेजी नीति का भंडा-फोड़ लेखक ने यहाँ किया है। इसी कारण बख्शीजी यह कहकर उठते हैं कि "आपके अधीन सब कुछ है, साहब, आप कुछ करना चाहें तो।"[३३] उल्टे व्यंग्य से रिचर्ड यह उत्तर देता है कि "वास्तव में आपका मेरे पास शिकायत लेकर आना ही गलत था। आपको तो पं० नेहरू या डिफेंस मिनिस्टर सरदार बल्देवसिंह के पास जाना चाहिये था। सरकार की बागडोर उनके हाथ में है।"[३४] अर्थात् वह इन लोगों की मजबूरी और असहायता की हँसी उड़ा रहा है। अमरीकी पादरी प्रिन्सिपल हरबर्ट इस समस्या को मानवीय दृष्टि से देख रहा है। इसलिए वह भी रिचर्ड को नम्रता-पूर्वक यह आग्रह करता है कि, "शहर की हिफाजत का सवाल राजनीतिक नहीं है, यह राजनीतिक पार्टियों के ऊपर का सवाल है, शहर के सभी लोगों का, नागरिकों का सवाल है। इसमें अपनी-अपनी पार्टियों को भूल जाना होगा। सरकार का भी रोल इसमें बहुत बड़ा है। हम सबको मिलकर शहर की स्थिति को सँभाल लेना चाहिए।"[३५] एक अंग्रेज का दूसरे अंग्रेज से यह आवाहन था। परन्तु इसका कोई परिणाम रिचर्ड पर नहीं होता। वह तो लोगों को ही उल्टे यह समझाता है कि वे अमन कमेटी द्वारा यह काम कर सकते हैं। इसी समय एक और खबर यह आ गई कि, "पुल के पार एक हिन्दू को कत्ल कर दिया गया है। सभी बाजार बन्द हो गये हैं।"[३६] सुअर की हत्या की प्रतिक्रिया शुरू हुई है। सारे लोग सकते में आ गये हैं और अंग्रेज बहादुर खामोशी से यह सब देख रहे हैं। रिचर्ड के यहाँ से निकलने तक बख्शी जी ने यह रट लगायी है कि "अभी भी वक्त है, आप कर्फ्यू लगा दें।"[३७] अगर अंग्रेज सरकार के विरुद्ध मामूली-सा भी आन्दोलन होता तो क्या रिचर्ड इस प्रकार की भूमिका लेते? स्पष्ट है कि रिचर्ड के साथ की यह बैठक असफल रही। इसी असफलता को लेकर सारे सदस्य बाहर निकले हैं। सुरक्षित घर पहुँचेंगे अथवा नहीं इसका डर प्रत्येक को है। कांग्रेसी हिन्दुओं का विश्वास डगमगा रहा है। "नाले के पार का सारा इलाका मुसलमानी है और मेरा घर नाले के सिर पर है। फिसाद हो गया तो उस वक्त तुम मुझे बचाने आओगे? या बापूजी आकर बचाएँगे? उस वक्त तो मुझे मुहल्ले वाले हिन्दुओं का ही आसरा है। छुरा मारने वाला मुझसे यह तो नहीं पूछेगा कि तुम कांग्रेस में थे या हिन्दू-सभा में ... ...।"[३८] केवल कुछ घंटों में ही सारे विश्वास टूट रहे हैं। हिन्दू-संगठन का आग्रह तो अब कांग्रेसी भी कर रहे हैं। आदर्शों की अपेक्षा अब व्यवहार को महत्व दिया जा रहा है। परन्तु कोई भी असलियत की खोज करना नहीं चाह रहा है। भय ने विवेक को खत्म-सा कर दिया है। दुपहर तक शहर के कुछ हिस्सों में यह तनाव धीरे-धीरे कम होने लगा है। "वातावरण में स्थिरता थी। सुबह की घटना से पैदा होने वाला तनाव कुछ दब गया था। कुछ बिखर गया था। — ... नगर का कार्यकलाप फिर से जैसे

किसी संगीत की लय पर चलने लगा हो। जब इब्राहीम इत्रफरोश कधो और पीठ पर से तरह-तरह की बोतलें लटकाये एक गली से दूसरी गली इत्रफूलैल की आवाज लगाता अपनी स्थिर चाल से गुजरता जाता तो लगता नगर की इस धुन पर उसके पाँव उठ रहे हैं, इसी धुन पर औरतें अपने घडे लेकर गली के नल पर जाती, इसी धुन की लय पर सडको पर टागे चलते, इसी धुन पर बच्चे स्कूल जाते, लगता शहर का सारा व्यापार किसी मीठी सहज धुन पर चल रहा है। लगता, इसकी एक कडी टूटेगी तो साज के सारे तार टूट जाएँगे।"⁹ कितना खूबसूरत है यह शहर ! परन्तु सवेरे की घटना ने इसकी खूबसूरती को तोड दिया है। शहर के पुराने मन्दिर की दीवार के ऊपर एक घडियाल लगा था। आज वह घडियाल दुरुस्त किया जा रहा है। खुदाबख्श दर्जी ने इसको देखते हुए कहा है कि 'या अल्लाह, शहर मे फिसाद का डर है इस घडियाल की आवाज सुनकर रूह काप जाती है। पहले फिसाद मे जब बजा था तो मण्डी मे आग लगी थी और शोले आधे आसमान को ढके हुए थे।"¹⁰ आज फिर इसकी तैयारी हो रही है।

एक खबर और फैली है कि गोलडा शरीफ के पीर आये हैं। 'पीर साहब काफिरो को हाथ नही लगाते, काफिरो से नफरत करते हैं।"¹¹ इस तरह साम्प्रदायिकता की यह आग भडक रही है। यह सब जिस सुअर के कारण हुआ, उसे मारने वाला नत्थु चमार परेशान है। वह बार बार इस बात पर पछता रहा है कि उसने गलत काम कर लिया गया है। उसी रात मण्डी मे आग लगा दी गई। घडियाल बडे जोरो से बजाया जाने लगा। "इस घडियाल को सुनते हुए लगता है जैसे समुद्र मे तूफान उठा हो और कोई जहाज खतरे की घण्टी बजा रहा हो।"¹ घडियाल की यह भयावह आवाज डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड भी नींद मे सुन रहे हैं। पत्नी लीजा घबरा गई है। वह बार-बार रिचर्ड से कह रही है कि वह इस फिसाद को रोकें। परन्तु रिचर्ड का एक ही तर्क है कि हम उनके धार्मिक झगडो मे दखल नही देते।" लीजा ने यह पूछा कि "ये लोग आपस मे लडे, क्या यह अच्छी बात है।' " रिचर्ड ने उत्तर दिया है कि 'क्या यह अच्छी बात होगी कि ये लोग मिलकर मेरे खिलाफ लडे, मेरा खून करें। ?" रिचर्ड के इस वाक्य मे अंग्रेजो की नीति बहुत स्पष्ट हो गई है। अंग्रेज यह जान चुके थे कि जब तक ये लोग आपस म नही लडेंगे तब तक हमे कोई खतरा नही है। परन्तु जैसे ही यह आपस मे लडना छोडकर एक हो जाएँगे, खतरा हम है। इसलिए वे तटस्थता की भूमिका अपना रहे थे। रिचर्ड के तर्क को सुनकर लीजा केवल यही सोच सकी कि "जैसे मानवीय मूल्यो का कोई महत्व नही होता, वास्तव मे महत्व केवल शासकीय मूल्यो का होता है।'" रात के इस घुप्प अन्धेरे मे लाला लक्ष्मीनारायण परेशान हैं। क्योंकि उनका बेटा रणवीर अभी तक घर लौटा नहीं है। लाला जी पैसे वाले जाने माने व्यक्ति हैं, ऊँचे मकान मे रहते हैं,

किसका हाथ उन पर उठ सकता था ? आस-पास मुसलमान लोग रहते थे लेकिन सभी छोटे तवके के थे । शहर के अनेक मुसलमान व्यापारियों के साथ लाला जी व्यापार करते थे । "उन्हें मुसलमानों के खिलाफ गुस्सा तो अक्सर आता था, पर उन्हें इस बात का विश्वास था कि अंग्रेज उन्हें दबाकर रखेंगे ।"[१५] यह विश्वास न केवल लाला जी को था, अपितु उन लाखों हिन्दुओं और मुसलमानों को था जो पूर्वी और पश्चिमी पंजाब में इस समय साँस ले रहे थे । और आश्चर्य इस बात का है कि जिस पर विश्वास था वह इस समय चैन की नींद ले रहा था ।

दूसरे दिन सवेरे ही उस रात को घटना के ब्योरे मिले । कुल सत्रह दुकानें जलकर राख हो चुकी थी । इस प्रकार सुअर वाली घटना के चौवीस घण्टों के भीतर ही सारा माहौल बदल-सा गया है । आगजनी की इस घटना से पूरे शहर भर की मानसिकता में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ है । "मुहल्लों के बीच लीकें खिच गईं थीं, हिन्दुओं के मुहल्ले में मुसलमानों को जाने की अब हिम्मत नहीं थी और मुसलमानों के मुहल्लों में हिन्दू-सिख अब नही जा सकते थे । आँखों में संशय और भय उतर आये थे ।"[१६] सुअर की उस घटना से लाखों का नुकसान हुआ था । केवल नुकसान ही नहीं सबकी दृष्टि बदल गई थी, एक दूसरे के लिये सब अजनबी बन गये थे ।"[१७] हर दरवाजे वन्द थे, शहर का कारोबार, स्कूल, कालिज, दफ्तर सभी ठप हो गये । और ऐसे संशय भरे, नफरत में जलते हुए माहौल में कांग्रेसी जरनैल चबूतरे पर खड़े होकर जोर-जोर से तकरीर दे रहा था—"साहिबान्, चूंकि आज सभी बुजदिल चूहों की तरह घरों में घुस बैठे हैं, मुझे अफसोस करना पड़ता है कि आज प्रभातफेरी नहीं होगी·········आप सब शहर में अमन बनाए रखें । यह शरारत अंग्रेज की है जो भाई-भाई को आपस में लड़ाता है ।"[१७] परन्तु इस जरनैल की कौन सुनने वाला है ? इस तनाव भरे वातावरण में शाहनवाज अपने दोस्त के लिए कई खतरे उठा रहा है । तो दूसरी ओर मुस्लीम लीगी मौला दाद हैं जो इस वातावरण को और भयावह बनाने की फिक्र में हैं । कम्युनिस्ट कार्यकर्ता कॉमरेड देवदत्त कस्बे की इस बदली हुई परिस्थिति से परेशान है । अमन के लिए वह सर्वपक्षीय बैठक बुलाने के लिए प्रयत्नशील है । अपने दो साथियों जगदीश और कुर्बान अली के साथ इसी चर्चा में वह व्यस्त है । एक साथी के अनुसार, "सभी पार्टियों के नुमाइन्दे की मीटिंग हो नहीं सकती । क्योंकि कांग्रेस के दफ्तर पर ताला है । लीगवालों से बात करो तो वे पाकिस्तान के नारे लगाने लगते हैं । वे हर बात में कहते हैं, पहले कांग्रेस वाले कबूल करें कि कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है, फिर हम उनके साथ बैठने के लिए तैयार हैं ।"[१८] देवदत्त यह समझ नहीं पा रहा है कि इस जड़ता को कैसे तोड़े । अगर नेतृत्व करने वाले ही खामोश बैठ जाएँ तो दंगे रुकेंगे कैसे ? और उसी समय यह खबर आई है कि, "मजदूरों की वस्ती में भी फिसाद हो गया है और दो सिख बढ़ई मारे

गये है ·'''' देवदत्त की समझ मे यह नही आ रहा है कि अब आगे क्या होगा ? क्योकि कम्युनिस्ट विचार प्रणाली के अनुसार तो मजदूर आपस मे लडते नही, अथवा उन्हें लडना नहीं चाहिए। अगर मजदूर ही आपस मे लडते हैं तो यह विष बहुत गहरा असर कर चुका है।'''' इसी दोपहर एक और मौत हुई। जरनैल मारा गया। लाठी के एक ही भरपूर वार से उसकी खोपडी लीगियो ने फोड दी। इस कस्बे मे अमन के लिए प्रयत्नशील एक शक्ति का अन्त हुआ। भावुक देवदत्त पराजित हो गया है। बाकी कांग्रेसी हिन्दू संघटनाओ से मेल-मिलाप कर रहे हैं और अंग्रेज रिचर्ड फिसाद को लेकर निष्क्रिय है। विवेक की शक्तियां समाप्त हुई हैं। बच गये हैं केवल वे ही स्वर जो मध्ययुग मे जाकर सोच रहे हैं। इसके प्रमाण हैं आर्यवीर दल और लीगियो के काम। एक ओर आर्यवीर दल नौजवानो को छुरे भोंकने और लाठियाँ चलाने की शिक्षा दे रहा है तो दूसरी ओर लीग हिन्दुओ को लूटने की योजनायें बना रहे हैं। इस कुशिक्षा का परिणाम यह हुआ कि १२-१५ वर्ष का रणवीर मासूम इत्रफरोश का खून कर देता है।

इस कस्बे मे पिछले ३०-३५ घण्टो मे चार छः खून हो चुके हैं। सत्रह से अधिक दुकाने जल चुकी हैं। और यह सब हुआ है नत्थू द्वारा सुअर की हत्या करने के कारण। इस सारे पाप का भागी मैं ही हूँ ऐसा वह समझ रहा है। परन्तु उसने जान-बूझकर तो ऐसा नही किया है। "मैंने जो कुछ किया वह अनजाने मे किया, ये लोग जो आग लगा रहे हैं और राह जाते लोगो को मार रहे हैं, ये आँखें खोलकर सब काम कर रहे है, ये क्यो बुरा काम कर रहे हैं ?"'' उसकी पत्नी उसे बार-बार समझा रही है कि "पर इसमे तेरा क्या दोष ? तुझसे लोगो ने धोखे से काम करवाया है''' फिर भी नत्थू ऐसा अनुभव कर रहा है कि कोई अदृश्य छाया उसका पीछा कर रही है।

प्रथम खण्ड की कथावस्तु यहाँ समाप्त हो जाती है। कुल तेरह प्रकरणो मे प्रात चार बजे से लेकर दूसरे दिन के दोपहर तक का चित्रण किया गया है। अर्थात् केवल ३०-३५ घण्टो का चित्रण। सुअर की लाश मस्जिद की सीढियों पर दिखलाई देने के बाद ३०-३५ घण्टों मे जो विभिन्न प्रतिक्रियायें हुयी—उसका विवरण इस प्रथम खण्ड मे दिया गया है। इस खण्ड की कथावस्तु का सम्बन्ध एक जिले से है, विविध प्रकार के दफ्तर हैं, नगर परिषद है। पढ़े लिखे लोगो की संख्या भी यहाँ काफी है। जब इतने सुबुद्ध नागरिको के होते हुए भी सारे शहर मे आगजनी, खून और इसी प्रकार की भयावह एवं क्रूर घटनाएं घटी हैं तो फिर इस जिले से दूर बसे हुए उन देहातो की कल्पना हम कर सकते हैं, जहाँ फिसादो को रोकने वाली शक्तियाँ नही के बराबर हैं। इस जिले मे पिछले दो दिनो मे जो कुछ हुआ है, उसमे नफरत की आग तेजी से फैलती गयी है। आस-पास के देहातो मे इसकी प्रतिक्रिया

होना स्वाभाविक है । देहात मुस्लिमबहुल हैं । इनमें हिन्दुओं की अपेक्षा सिख अधिक हैं । परिणामस्वरूप उपन्यास के दूसरे खण्ड में सिख और मुसलमान ही आये हैं ।

'ढोक इलाहीबख्श' एक ऐसा ही छोटा सा देहात है । हरनाम सिंह और बन्तो नामक वृद्ध सिख दम्पत्ति यहाँ एक छोटा सा होटल लगाकर अपनी उपजीविका चला रहे हैं । शहर में जिस दिन सुअर वाली घटना घटी है, उसके दूसरे ही दिन के दोपहर से कथा आगे बढ़ती है । केवल परिवेश बदल जाता है । हरनाम सिंह और बन्तो से इसी देहात के करीमखान ने कहा है कि वे तुरन्त इस गाँव को छोड़ कर चले जाएँ; वरन् बलवाई उनकी हत्या कर देंगे । करीमखान यह नहीं चाहता कि ये दोनों नाहक मारे जाएँ । इसीलिए वह उन्हें आगाह कर रहा है । "बन्तो और हरनाम सिंह अपने तीन कपड़ों में और थोड़ी बहुत पूँजी और बन्दूक सँभाले दुकान को ताला लगाकर बाहर निकल आए । घर के बाहर कदम रखते ही सारा प्रदेश पराया हो गया ।"[४३] उनके निकलने के थोड़ी ही देर बाद बलवाई वहाँ आए और उन्होंने उनकी होटल लूट ली । रात भर ये दोनों चलते रहे; अपनी जान बचाने के लिए । सवेरे वे ढोक मुरीदपुर पहुँच गए । यहाँ पर भी यही स्थिति है—मुस्लिम बहुसंख्यक देहात । फिर भी मजबूरी से वे एक का दरवाजा खटखटाते हैं और उन्हें वहाँ एक मुस्लिम स्त्री अपने यहाँ आसरा देती है; जबकि वह यह जानती है कि उसके बेटे और पति को यह बिल्कुल पसन्द नहीं आएगा । क्योंकि वे दोनों बलवाई बनकर गाँव के गाँव लूट रहे हैं और काफिरों की सरे-आम हत्या कर रहे हैं । परन्तु यह मुस्लिम स्त्री इन दोनों बूढ़े-बूढ़ियों की मजबूरी देखकर उन्हें शरण दे देती है । इसी कारण हरनाम सिंह कहता है कि; "सलामत रहे करीमखान उसने हमारी जान बचा दी । और सलामत रहो तुम बहन, जिसने आसरा दिया है ।"[४४] मौत के कगार पर खड़े इन दोनों को इस स्त्री ने सहारा दिया है । यह स्त्री मानो साक्षात् स्नेह और मानवीयता की मूर्ति है । इन दोनों को घर के ऊपरी हिस्से में छिपाया गया । थोड़ी ही देर बाद उस स्त्री का पति एहसानअली और बेटा रमजान वहाँ आ गए । और यह बात भी खुल गयी कि घर में काफिरों को छिपाकर रखा गया है । रमजान आग बबूला हो गया । उन दोनों को खत्म करने की उसकी इच्छा है । परन्तु जब वह मारने जाता है तब, "काफिरों को मारना और बात है, अपने घर के अन्दर के जान-पहचान के पनाहगजीन को मारना दूसरी बात । उसका खून करना पहाड़ की चोटी पार करने से भी ज्यादा कठिन हो रहा था । मजहबी जनून और नफरत के इस माहौल में एक पतली-सी लकीर कहीं पर अभी भी खिंची थी जिसे पार करना बहुत ही मुश्किल था ।"[४५] यही वह पतली-सी लकीर है जिस कारण रमजान उनकी हत्या न कर सका और यही वह पतली लकीर है जिस कारण उन दोनों को वहाँ दिनभर आसरा मिला । रात के समय रमजान की माँ राजो उन्हें गाँव के आखिरी

छोर पर छोड़ने आयी। वह कहती है, "मैं नही जानती मैं तुम्हारी जान बचा रही हूँ या तुम्हें मौत के मुँह मे झोंक रही हूँ।"¹ अपने पुत्र इकबाल सिंह और बेटी जसबीर की याद हरनाम को बहुत सता रही है। ये दोनो पास के देहातो मे ही रहते थे। लेखक अब हमे इकबाल और जसबीर की ओर ले जाता है।

अपने बाप की इकबाल सिंह अपनी जान बचाते हुए भाग रहा था। परन्तु रास्ते मे ही बलवाईयों ने उसे देख लिया। और वे पत्थर लेकर उसका पीछा करने लगे। बडा ही क्रूर और करुण दृश्य है यह! अकेला इकबाल सिंह और १०-१२ मुसलमान। क्या करेगा वह? आखिर उसको पकडा गया और इस शर्त पर उसकी जान बख्श दी गई कि वह इस्लाम कबूल करेगा और कलमा पढेगा। मौत और जिन्दगी मे से किसी एक को चुनना था। धर्म परिवर्तन से ही जिन्दगी सम्भव थी। इकबाल सिंह सिवा हाँ के और कुछ नही कह सका। उसके हाँ कहने से माहौल बदल गया। उसके खून के प्यासे उसके गले मिलने लगे।" इकबाल सिंह को यह आशा नही थी कि इतनी जल्दी माहौल बदल जायगा कि उसके खून के प्यासे लोग उसे छाती से लगाने लगेंगे।"² दिन ढलते ढलते इकबालसिंह मे वह शेख इकबाल अहमद हो गया। उसकी सुन्नत भी हुई। 'शाम ढलते ढलते इकबालसिंह के शरीर पर की सब अलामतें दूर कर दी गई थी और मुसलमानो की सभी अलामतें उतर आई थी। पुरानी अलामतें हटाकर नई अलामतें लाने मे देर थी कि इनसान बदल गया था, काफिर नही था, मुसलमान था।"³

हरनामसिंह की बेटी जसबीर इस समय सैयदपुर के गुरुद्वारे मे सुरक्षित है। इस गाँव मे सिखों की सख्या अधिक है। परन्तु यहाँ बाहर से बलवाई बहुत बडी संख्या मे आ रहे हैं। इस कारण गाँव के सभी सिखो ने गुरुद्वारे मे शरण ली है और वहाँ से युद्ध की तैयारियाँ की जाने लगी है। 'गुरुद्वारा खचाखच भरा था और संगत मस्ती मे झूम रही थी। संगत मे सबके हाथ जुडे हुए, आँखें बन्द और सिर वजद मे हिलते हुए। वह कुर्बानी की आवाज शताब्दियों के फासले लाघकर फिर से गूँज रही थी। तीन सौ साल पहले भी ऐसा ही गीत दुश्मन से लोहा लेने के पहले गाया जाता था। आत्म-बलिदान की भावना से ओत प्रोत वे सब कुछ भूले हुए थे।"¹ रिटायर जत्थेदार किसनसिंह बन्दूक सँभाले खडे हैं। हरिसिंह निहगसिंह, विशनसिंह आदि सभी तैयारी मे हैं। नफरत की इस आग ने गाँव की एकता को खत्म कर दिया है।' गुरुद्वारे मे एक बूढा प्रवचन कर रहा है कि "आज *फिर खाल्सा पथ को गुरु के सिंहों के खून की जरूरत है। हमारे इम्तहान का* वक्त आ गया है, हमारी आजमाइश का वक्त आ गया है। महाराज का इस वक्त एक ही हुक्म है—कुरबानी! कुरबानी! कुरबानी! राज करेगा खालसा, बाकी रहे न कोय।"² इस प्रकार के आवाहनों से वहाँ का वातावरण तप्त हो रहा था।

इनमें से कोई यह सोच नहीं पा रहा था कि युद्ध का निर्णय कितना वेवकूफी से भरा हुआ है। इससे दोनों पक्षों की जवरदस्त हानि होने वाली है। और जव वे सभी ओर से घिरे हुए हैं तव तो युद्ध ठान लेना कोई अच्छी रणनीति भी नहीं है। शस्त्र के वजाए वुद्धि से काम लेना जरूरी था। परन्तु यह समझाए कौन? फिर भी कम्युनिस्ट सोहन सिंह वीच में ही उठकर इस वात को स्पष्ट करना चाहता है कि, 'हम लोगों को मुसलमानों के खिलाफ भड़काया जा रहा है। और मुसलमानों को हमारे खिलाफ। हम झूठी अफवाहें सुनकर एक-दूसरे के खिलाफ तैश में आ रहे हैं। हमें अपनी तरफ से पूरी कोशिश करनी चाहिए कि गांव के मुसलमानों के साथ मेल-जोल वनाए रखें और हत्तुलकसा कोशिश करें कि गाँव में कोई फिसाद न हों।"[५१] परन्तु उसके इन विचारों को सुनकर उसे गद्दार कह कर चुप कर दिया जाता है। मीरदाद, हरवंससिंह और सोहनसिंह कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता हैं। ये अपने तरीके से इन वारदातों को रोकने की कोशिश करते हैं। परन्तु इनकी कोई नहीं सुन रहा है। साँझ होते-होते गुरुद्वारे में खामोशी वढ़ती गई। लगा कि आज रात निश्चित हमला होने वाला है। सिंहों की स्त्रियाँ गुरुद्वारे के दूसरे हिस्से में वैठी थी। और उसी समय यह खवर आ गई कि "तुर्क आ गए।" ढोल वजने लगे। "अल्ला हो अकवर" और "जो वोले सो·········निहाल : सत् सिरी अकाल" के नारे लगने लगे। "तुर्कों के जेहन में भी यही था कि वे अपने पुराने दुश्मन सिखों पर हमला वोल रहे हैं और सिखों के जेहन में भी वे दो सौ साल पहले के तुर्क थे जिनके साथ खालसा लोहा लिया करता था। यह लड़ाई ऐतिहासिक लड़ाइयों की शृंखला में एक कड़ी थी। लड़ने वाले के पाँव वीसवीं सदी में थे, सिर मध्ययुग में।"[५२] घमासान युद्ध हुआ। दो दिन और दो रात तक चलता रहा। अमन के लिए प्रयत्नशील सोहनसिंह मारा गया। अड़तालीस घण्टों के युद्ध के वाद दोनों पक्ष समझौते की वात करने लगे। सभी सिखों को नदी पार सुरक्षित पहुँचाने के लिए तुर्क दो लाख माँग रहे थे। दो लाख की यह राशि तुरन्त इकट्ठी हो सकती थी। परन्तु ऐसे समय भी सौदे-वाजी। आखिर एक लाख पर सौदा तय करने के लिए ग्रंथीजी को भेजा गया। और उसी समय 'अल्ला हो अकवर' के नारे गुंजने लगे। अर्थात् दुश्मनों को कुमक मिल गई। स्पष्ट है अव समझौता नहीं होगा। ढोल पीटते और आगे वढ़ते जा रहे थे। तलवारें हवा में उठीं। स्त्रियाँ आत्म-वलिदान के लिए तैयार हुयीं। गांव के सिखों के मकानों में आग लगाई गई। स्त्रियों का झुण्ड पक्के कुएँ की ओर वढ़ता जा रहा था।" सवसे पहले जसवीर कौर (हरनामसिंह और वन्तो की वेटी) कुएँ में कूद गई। और देखते-देखते गाँव के दसियों औरतें अपने वच्चों को लेकर कुएँ में कूद गई।"[५३] रात के किसी पहर लूट-पाट वन्द हो गई थी। सुवह होने पर आग की लपटें मन्द पड़ गई थी। छोटे-छोटे घर जलकर राख हो गये थे। कुएँ में लाशें

फूलने लगी थी । गलियाँ सुनसान पड़ी थी । लाशें बिखरी हुई थी । एक खूबसूरत गाँव में बेहद खामोशी थी । युद्ध निर्णायक नहीं हुआ था । गुरुद्वारे में युद्ध परिषद की बैठक चल रही थी । और सहसा वायुमंडल मे एक अजीब-सा शब्द सुनाई देने लगा गहरा, धीमा, घरघराता-सा शब्द । सभी ठिठक गये । मोटे कसाई का बेटा भी ठिठक गया जो गुरुद्वारे को आग लगाने जा रहा था ।"" धीरे-धीरे सभी हाथ थम गये अब और कुछ नहीं होगा, अंग्रेज तक फिसाद की खबर पहुँच गई है, अब कोई आग नहीं लगायेगा, बन्दूक नहीं चलायेगा ।"""

११७ गाँव और एक शहर की बरबादी के बाद अंग्रेजो के हवाई जहाज आकाश में मंडरा रहे है । पाँच दिन तक अंग्रेज खामोश रहा । क्या वह जान-बूझकर इन्हें आपस में लड़ा रहा था ? जिस दिन मरा हुआ सुअर मस्जिद की सीढ़ियो पर डाला गया था और वातावरण मे तनाव बढ़ रहा था उसी दिन कांग्रेसी बख्शीजी ने डिप्टी कमिश्नर साहब से कहा था कि "इस वक्त हालत नाजुक है । अगर मारकाट शुरू हो गई तो उसे सँभालना कठिन होगा । अगर एक हवाई-जहाज ही शहर के ऊपर उड़ा दिया जाये तो लोगो को कान हो जाएंगे कि सरकार बाखबर है । फिसाद को रोकने के लिए इतना भी काफी होगा ।""' अगर उसी समय यह सुझाव मान लिया जाता तो ? खैर पाँच दिन के बाद जब दोनो ओर के लोग थक गये थे तब हवाई-जहाज उड़ा और फिसाद रोकने का श्रेय अंग्रेजो को मिला । इन तीन-चार दिनो मे नफरत की जो आग सब के दिलो में घर कर गई है वह कब निकलने वाली है ? हवाई-जहाज के कारण, "कस्बे का माहौल बदल चुका था । लोग बाहर आने लगे थे, लड़ाई बन्द हो गई, लाशें ठिकाने लगीं दोनो सम्प्रदायो के लोग अपने-अपने धर्म-स्थान को धो-धोकर साफ कर रहे थे ।""

इधर शहर का भी माहौल बदल गया है, जहाँ से नफरत की आग फैली थी । फिसादो के चौथे दिन डिप्टी कमिश्नर साहब ने कर्फ्यू लगा दिया था । (हालांकि पहले ही दिन कर्फ्यू लगवाने का आग्रह किया गया था ।) इन चार-पाँच दिनो में हजारो लोग बेघरबार हुये थे । उनके लिये रिफ्यूजी कैम्प लग रहे थे । डिप्टी कमिश्नर साहब की फिर तारीफ शुरू हुई थी । वे लगातार आज्ञायें दे रहे थे । रिफ्यूजी कैम्प के सम्बन्ध मे, कुएँ के लाशो को निकालने के सम्बन्ध मे । और कम्युनिस्ट देवदत्त अभी भी अमन के लिए प्रयत्नशील था । लीजा रिचर्ड की इस व्यवस्था से अस्वस्थ है । उसे यह बात समझ में नहीं आ रही है कि रिचर्ड इस फिसाद को पहले क्यो नहीं रोक सका ? जान-बूझकर वह तटस्थ क्यो रहा ? तीन दिन पहले अगर वह थोड़ी-सी सुरक्षा की व्यवस्था करता तो हजारो लोग बेघरबार न होते, गाँव न जलते, शहर की मण्डी मे आग न लगती । रिचर्ड के अनुसार 'सिविल सर्विस' मे तटस्थ बनना पड़ता है । हम यदि हर घटना के प्रति भावुक होने लगे तो

प्रशासन एक दिन भी नहीं चलेगा।"[५८] रिफ़्यूजी कैम्प बन गये हैं। रिलिफ-कमेटी बन गई है। नुकसान के आँकड़े इकट्ठे किए जा रहे हैं। अनेक सिख और हिन्दू आँकड़ा-बाबू के इर्द-गिर्द बैठे हैं। कोई अपनी लड़की ढूंढना चाह रहा है, कोई लड़का, कोई अपने मकान की कीमत लिखवा रहा है, कोई कुछ! देवदत्त इस बात की फिक्र में अधिक है कि "गरीब कितने मरे और खाते-पीते कितने मरे।"[५९] कॉंग्रेसियों का विश्वास अहिंसा पर से उठ गया है। एक पंडित और उनकी पत्नी अपनी जवान और खूबसूरत लड़की को अब स्वीकार करना नहीं चाहते क्योंकि "अब हमारे पास आकर क्या करेगी जी, बुरी वस्त तो उसके मुंह में उन्होंने पहले ही डाल दी होगी।" इनकी बेटी प्रकाशो अब अल्लाहरखा के घर पर रखैल के रूप में है। माँ-बाप अब उसे स्वीकार को करने तैयार नहीं है। असहाय्यता, सनातनी वृत्ति, कट्टरता, क्रूरता, जीवन-प्रियता, संपत्ति-मोह आदि की विभिन्न मानवी प्रवृत्तियों के दर्शन यहाँ होते हैं।

अमन कमेटी बनने वाली है। मालदार हिन्दू, सिख और मुसलमान एक दूसरे से बड़े प्यार से मिल रहे हैं। उनके इस मेल-मिलाप को देखकर दो चपरासी आपस में यह कह रहे हैं कि "हम जाहिल लोग लड़ते हैं, समझदार खानदानी लोग नहीं लड़ते। यहाँ सभी आये हैं हिन्दू भी, सिख भी, मुसलमान भी; मगर कैसे प्यार-मुहब्बत से बातें कर रहे हैं।"[६०] परन्तु क्या यह सही है? परदे के पीछे क्या यही पढ़े-लिखे और खानदानी लोग नहीं हैं जो आम-आदमी को लड़ा रहे हैं? हिन्दू, सिख और मुसलमानों में से कितने प्रतिनिधि लिये जाए इस पर वाद-विवाद हो रहा है। इतना सब कुछ हो जाने के बाद भी कुर्सी के प्रति मोह कम नहीं है। अकेला देवदत्त अन्त तक समझौते की कोशिश कर रहा है। अमन कमेटी जब सारे शहर में घुमने वाली है। "हिन्दू-मुस्लिम एक हो" के नारे लगाने वाली है। आश्चर्य इस बात का है कि अमन कमेटी की बस में सबसे आगे बैठा हुआ और एकता का नारा जोर-जोर से लगाने वाला मुराद अली था—वही मुराद अली जिसने नत्थू चमार से सुअर मरवाकर मस्जिद की सीढ़ियों पर फिकवा दिया था। केवल उसी घटना के के कारण चार दिन तक यह फिसाद हुआ।

(१)

विवेचना—हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अलगाव की भूमि पहले ही तैयार हो चुकी थी। मुस्लिम लीग, हिन्दू-महासभा तथा आर्य समाज इस अलगाव को बढ़ा रहे थे। इस अलगाव के कारण ही ये दोनों समुदाय एक-दूसरे से दूर जा रहे थे। केवल दूर हीं नहीं, इनके भीतर एक-दूसरे के प्रति नफरत भी फैलायी जा रही थी। मुस्लिम लीग ने यह काम सर्वाधिक किया। नफरत की यह आग फैलने से जिस प्रकार की प्रतिक्रिया हुई और दोनों ओर के लोगों को कैसी तकलीफ हुई—

इसका जीवन्त चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। विभाजन-पूर्व की यह कथा है। १४ जून १९४७ को विभाजन को मान्यता मिली। इसके पूर्व ही पाकिस्तान की निर्माण की बात की जा रही थी। परन्तु पाकिस्तान बनेगा—ऐसा विश्वास दोनों वर्गों में से किसी को नहीं था। इसलिए इस उपन्यास का सम्बन्ध विभाजन की समस्या से नहीं है। विभाजन पूर्व साम्प्रदायिक समस्या से इसका सम्बन्ध है। हिन्दू और मुसलमानों मे आन्तरिक एकता स्थापित करने के लिए कई शक्तियाँ पिछले कई वर्षों से प्रतिबद्ध हैं। ठीक इसी प्रकार इनमें अलगाव बढ़ाने वाली शक्तियाँ भी हैं। इस दूसरी शक्ति के उभरने से हिंसा किस प्रकार से उभरती है तथा किस प्रकार मानवीय मूल्यों की होली होती है—इसे यह कथावस्तु स्पष्ट करती है। इस प्रकार इसकी कथावस्तु इस देश के एक नाजुक परन्तु उतने ही महत्त्वपूर्ण मसले को लेकर चलती है। इस मसले को यथातथ्य रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है। सामान्य आदमी इस नफरत की आग मे किस प्रकार झुलसता गया इसका सहज चित्रण इसमें हुआ है।

(२)

इसके पहले खंड का सम्बन्ध नागरी जीवन से है। इस खंड में "नागर जीवन में साम्प्रदायिक वैमनस्य की भावना कैसे उभरी, अंग्रेजी नौकरशाही ने वैमनस्य की आग को कैसे भड़का दिया, परिणामतः हिन्दू और मुसलमानों के संगठन कैसे बनते गये और एक-दूसरे के गली-मुहल्लों में जाना कैसे खतरनाक हो गया—इत्यादि बातों का वर्णन किया गया है।"[११] पहला प्रकरण तेरह प्रकरणों मे विभाजित है। (पृष्ठ १ से १७६) इसमें प्रातः चार बजे से दूसरे दिन दोपहर तक का अर्थात् ३०–३५ घण्टों का मात्र चित्रण किया गया है। मुराद अली नामक मुसलमान धोखे से नत्थू चमार से सुअर मरवा लेता है और उसे किसी ईसाई व्यक्ति के सहारे मस्जिद की सीढ़ियों पर फेंक देता है। मस्जिद की सीढ़ियों पर सुअर दिखलाई देने के पहले यह नगर रोज की तरह की जिन्दगी जी रहा था। परन्तु जैसे ही सुअर की लाश दिखलाई देती है, वैसे ही पूरे नगर का संगीत रुक-सा जाता है। इस प्रकार प्रथम खंड में घटना एक ही है—सुअर की लाश का मस्जिद की सीढ़ियों पर पा जाना। इस घटना की विभिन्न प्रतिक्रियाओं को प्रथम खंड में रखा गया है। ताज्जुब की बात यह है कि इस घटना के मूल में कोई जाना नहीं चाहते। न हिन्दू न मुसलमान न अंग्रेज। इस घटना के कारण सब एक दूसरे को सन्देह की नजर से देखने लगते हैं और खुद को असुरक्षित अनुभव करते हैं। ऐसा लगता है कि मानो बहुत पहले से ही सबके भीतर शंका, भय और असुरक्षितता की भावना थी। इस घटना ने उसे अभिव्यक्ति मात्र दी। लीगियों ने इस घटना का तुरन्त फायदा उठाना शुरू कर दिया है। प्रतिक्रियास्वरूप ही आर्य-समाजी, सिख और सनातनी हिन्दू एकत्र हो रहे हैं। उनके इस संगठन से खतरे और

बढ़ रहे हैं । अंग्रेज कमिश्नर इस घटना की कोई जाँच नहीं करवा रहा है मानो वह चाहता था कि ऐसा कुछ हो । इन ३०-३५ घण्टों में पूरी मंडी जल चुकी है । और लाखों का नुकसान हुआ है । दो हिन्दू मारे गये हैं । खोमचेवाला इत्रफरोश (मुसल्-मान) का खून कर दिया गया है । इन घटनाओं से अंग्रेजों की नीति स्पष्ट होती है । अलावा इनके मुस्लिम लीग, आर्य समाज, कम्युनिस्ट, कांग्रेसी तथा आम आदमियों की मनोवृत्ति तथा नीतियों का पर्दाफाश हुआ है । तथाकथित बुद्धिवादी और पढ़े-लिखे लोग साम्प्रदायिक तनाव बढ़ाने में कितने प्रयत्नशील होते हैं यह भी स्पष्ट किया गया है । तो दूसरी ओर इस तनाव भरे वातावरण में भी एकता और भाई-चारे का नाता दृढ़ करने वाली शक्तियाँ भी हैं । शाहनवाज, जरनैल और देवदत्त इसी शक्ति के प्रतीक हैं । यह दुर्भाग्य है कि एका बढ़ाने वाली शक्तियाँ धीरे-धीरे कमजोर पड़ने लगी । यहाँ तक कि जरनैल का खून कर दिया गया ।

(३)

राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली भावनात्मक स्थितियों तक ही लेखक ने अपने परिदृश्य को सीमित रखा है । राज-नीतिक घटनाओं, दाँवपेंचों और बौद्धिक उहापोह से लेखक ने अपने को पूर्णतः बचाया है"—डॉ० वाँदिवडेकर जी का यह मत पूर्णतः स्वीकार किया जा सकता है । लेखकीय प्रतिभा की मर्यादा के रूप में नहीं अपितु शक्ति के रूप में । इसी कारण तो यह उपन्यास अधिक जीवन्त, सच्चा और यथार्थ लगता है । कथावस्तु इसी कारण सरल और सपाट है । समाज के विभिन्न स्तरों पर जीने वाले लोगों की प्रतिक्रियाओं को लेकर लेखक चला है । वह राजनीतिक घटनाओं की विवेचना नहीं करता । आम आदमी घटनाओं की गहराई में उतरना नहीं चाहता । उन घटनाओं की बौद्धिक उहापोह की अपेक्षा वह तुरन्त अपनी प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करते चलता है । इसी आम आदमी की अधिकता के कारण उपन्यास में बौद्धिक उहापोह नहीं है ।

(४)

१९४७ के अप्रैल माह के दूसरे अथवा तीसरे सप्ताह की यह कहानी है । पंजाब के सभी जिलों और देहातों में इस समय भय और आशंका व्याप्त थी । अधि-कतर लोगों को ऐसा सन्देह था कि कुछ अप्रत्याशित होने वाला है । परन्तु क्या होने वाला इसकी स्पष्ट कल्पना किसी को नहीं थी । सैकड़ों वर्षों से वे इस भूमि पर रह रहे थे । उनके कई वंशजों की कहानियाँ इसी भूमि से जुड़ी हुई थी । ६ मार्च १९४७ को काँग्रेस कार्यकारिणी ने पंजाब विभाजन का प्रस्ताव पारित किया । पंजाब के अलग-अलग जिलों और देहातों में रहने वाले हिन्दू अथवा मुसलमान यह समझ नहीं पा रहे थे कि उनकी जमीन किधर जायेगी । पाकिस्तान के बहाने लीग में इकट्ठे चंद आवारा लोग हिन्दुओं और सिखों को परेशान कर रहे थे । मुअर वाली घटना

से इन गुण्डो को यह अवसर मिल गया। इस प्रदेश मे जीने वाले लोगों की अप्रैल माह की मानसिकता को पकडने का प्रयत्न भीष्म सहानी ने इस उपन्यास मे किया है।

(५)

। इसकी कथावस्तु समस्यामूलक है। "दो सम्प्रदायो के बीच के तनाव" की समस्या को यहाँ लिया गया है। इस समस्या को लेखक नये ढग से देख रहा है। धर्म, राजनीति और सम्प्रदाय से एकदम अलग हटकर शुद्ध मानवीय धरातल से। देवदत्त के प्रति लेखक के अनावश्यक मोह से यह भी स्पष्ट है कि वे अपनी तटस्थता को पूर्ण न निभा नही सके हैं। कम्युनिस्ट पार्टी और उसके कार्यकर्ताओ के प्रति लेखक पूर्णत तटस्थ नही रह सका है। कम्युनिस्ट पार्टी का रोल अगर सचमुच इस प्रकार का रहा होगा तो फिर कोई आरोप नही। परन्तु यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि कम्युनिस्ट पार्टी विभाजन के विरोध मे नही थी।

साम्प्रदायिक समस्याओ पर हिन्दी मे अनेक उपन्यास लिखे गये हैं। परन्तु तमस इन सब मे विशिष्ट है। क्योंकि इसमे समस्या को आम आदमी की दृष्टि से देखा गया है। कोशिश ऐसी की गई है कि "मजहबी जनून और नफरत के इस माहौल मे इन्सानियत की कहीं कोई एक पतली-सी लकीर है अथवा वह भी लुप्त हो गई है।" कमलेश्वर ने अपने उपन्यास मे इसी की तलाश की है। भीष्म साहनी भी इस समस्या के मूल मे जाकर यही खोज कर रहे हैं कि ऐसे तनाव एवं नफरत के वातावरण मे सब वहशी हो चुके थे अथवा कही कोई करुणा और मानवीयता की रेखा थी। शाहनवाज, राजो, जरनैल, बख्शी आदि मे उन्हे यह रेखा दिखलाई देती है।

(६)

उपन्यास के दूसरे खण्ड का सम्बन्ध देहाती इलाको से है। ढोक इलाही बख्श, खानपुर, मीरपुर, ढोक-मुरीदपुर, मीरदाद, सैयदपुर, नूरपुर आदि देहातो का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष उल्लेख हुआ है। पहले खड के पात्र नागरी जीवन से सम्बन्धित पढे-लिखे एव कुछ सीमा तक बुद्धिजीवी हैं तो दूसरे खड के पात्र केवल देहाती। शहर की घटनाओ की प्रतिक्रियायें देहातो मे हो रही हैं। और काफी क्रूरता के साथ हो रही है। यहाँ सिख और मुसलमान दो ही जमात के लोग हैं। दूसरे खड की शुरू-आत ढोक इलाही बख्श के हरनाम सिंह और बन्तो से हो जाती है। प्रकरण चौदह और सोलह मे इन दोनो की असहाय्यता का तथा सत्रह मे इनके बेटे इकबाल सिंह के क्रूर धर्म-परिवर्तन का बडा ही करुण और भयावह चित्रण किया गया है। प्रकरण पन्द्रह और अठारह मे सैयदपुर के गुरुद्वारे का तथा मुस्लिम-सिख के सघर्ष और युद्ध का चित्रण है। इस प्रकार इन पाँच प्रकरणों मे देहाती जीवन का अत्यन्त

तटस्थ, सपाट और करुण चित्रण मिलता है। यहाँ जबरदस्ती और क्रूरता के साथ धर्म-परिवर्तन करने वाले हलवाई भी हैं और जान बचाने वाले मानवीय पात्र भी।

यह दूसरा खंड पहले खंड में एकदम अलग ओर टूटा हुआ-सा लगता है। पहले खंड में व्याप्त भय, संशय, करुणा और प्यार यहाँ भी व्याप्त है। दोनों खंडों में चित्रित जीवन का सम्बन्ध एक विशिष्ट वातावरण से है। नागरी और देहाती जीवन के चित्रण के बहाने जीवन की समग्रता को पकड़ने का प्रयत्न माहनी कर रहे हैं। आम आदमी की प्रतिक्रियाओं को इस दूसरे खंड में अधिक अभिव्यक्ति मिली है। इस प्रकार ये दोनों खंड एक दूसरे के पूरक हैं।

(७)

उन्नीस, बीस और इक्कीसवें प्रकरण में लेखक ने दोनों खंडों की की कथा को जोड़ने का प्रयत्न किया है। पहले खंड में चित्रित डिप्टी कमिश्नर के कार्यालय से उन्नीसवें प्रकरण की शुरुवात हो जाती है। इस सारे हादसे को रोकने की कोशिश अंग्रेज कमिश्नर कर रहे है। रिफ्यूजी कैम्प खोले गये हैं। रिलीफ कमेटी के बाबू लोग नुकसान से आँकड़े इकट्ठे कर रहे हैं। दूसरे खंड के पात्र यहाँ अपनी तकलीफों के साथ इकट्ठे हुए हैं। इक्कीसवें प्रकरण में फिर अमीर और बुद्धिजीवी लोगों की चालबाजियों का चित्रण हुआ है। इस प्रकार अन्तिम तीन प्रकरणों के कारण कथा-वस्तु फिर जुड़ जाती है।

सुअर की लाश दिखलाई देना कथावस्तु का आरम्भ है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप कथावस्तु का विकास होता है। आगजनी, खून आदि विकास में ही लिये जा सकते है। फिर कथा रुक-सी जाती है। फिर दूसरा खंड—यहाँ भी कथावस्तु का आरम्भ है, विकास है। उन्नीस, बीस और इक्कीसवें प्रकरण में दोनों कथावस्तुएँ एक दूसरे-से मिलकर समाप्ति की ओर बढ़ते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ दो स्वतन्त्र कथा-वस्तुएँ है। वास्तव में परम्परावद्ध समीक्षा के चौखट में बिठलाकर समीक्षा करना कठिन ही है। क्योंकि कथावस्तु का सम्बन्ध किसी व्यक्ति अथवा परिवार से नहीं एक सम्पूर्ण प्रदेश और विशिष्ट राजनीतिक घटनाओं से है। इन घटनाओं की प्रति-क्रियाएँ एक शहर और कुछ देहातों पर किस प्रकार हुई—यही लेखक बतलाना चाहता है।

(८)

इसकी कथावस्तु अत्यन्त यथार्थ है। अप्रैल १९४७ से सितम्बर १९४७ तक पंजाब और बंगाल में इससे भी अधिक भयावह एवं क्रूर घटनायें हुई हैं। एक सर-कारी रपट के अनुसार इन छः महीनों में छः लाख व्यक्तियों के खून हुए और चौदह लाख से भी अधिक लोगों को अपने प्रदेश से हटकर दूसरे प्रदेशों में शरण लेना

पडा । औरतो के शरीर के साथ जो क्रूर खेल खेले गये उसे मनुष्य जाति के इतिहास मे दूसरी मिसाल नही है । उलटे कहना होगा कि साहनी इस प्रकार के चित्रण मे अत्यधिक सयमी हैं । आगजनी, खून धर्म-परिवर्तन के जो चित्र यहाँ आये हैं वे अत्यधिक यथार्थ और मार्मिक हैं । यथार्थ पर की उनकी पकड मे कही पर भी ढील नहीं है । उलटे, आलोचको का यह आरोप है कि इस उपन्यास में कल्पना की कमी है । प्रसगो को उभारने मे कल्पना का जो स्पर्श स्थान-स्थान पर अपेक्षित होता है, उससे भीष्म सहानी का व्यक्तित्व वचित है । परिणामत यथातथ्यता बेहद आती है ।' " वास्तव मे यथार्थ की यह अधिकता साहनी की कमजोरी नही शक्ति है । वे इस यथार्थ को कलात्मक स्तर पर ले जाने मे सफल रहे हैं । इसी कलात्मकता के कारण ही यह उपन्यास नीरस नहीं लगता ।

[९]

विभाजन के पूर्व तथा विभाजन के बाद पजाब और बगाल म जो कुछ घटित हुआ उस पर अनेक उपन्यास लिखे गये हैं । मनुष्य की क्रूरता, उसकी पशुवत् प्रवृत्ति तथा उसकी मानवीयता के जो दर्शन इस समय हुए हैं—उन्हें शब्दबद्ध करना वास्तव मे किसी भी कलाकार के लिए चुनौती ही है । हमारे यहाँ विभाजन की इस घटना को लेखको ने मुख्यत तीन दृष्टिकोणो से देखा है । (अ) एक राजनीतिक समस्या के रूप मे —इस प्रकार के लेखको ने इस समस्या के लिए जिम्मेदार राजनीतिक व्यक्तियो अथवा तत्कालीन परिस्थितियो का ही चित्रण अधिक किया है । उदा गुरुदत्त । (आ) इस घटना को सस्ते और रोमांटिक ढग पर प्रस्तुत करने वाले लेखक । (इ) तटस्थ और मानवीय दृष्टिकोणो से इस समस्या को देखने वाले लेखक । साहनी तीसरे प्रकार के लेखक हैं । आम आदमी की दृष्टि से इस समस्या को देखा गया है । इसी कारण यहाँ पात्रो की विविधता है । कुल २८४ पृष्ठो के उपन्यास म सत्तर से भी अधिक पात्र हैं । बौद्धिक ऊहापोह के चक्कर मे न पडते हुए सामान्य मनुष्य की प्रतिक्रियाओ को रेखांकित करने का प्रयत्न यहाँ हुआ है । ऐसा करते समय प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अग्रेजो की तोड-फोड नीति का, बुद्धिजीवियों की अलगाव की नीति का, आर्य-समाजी एव मुस्लिम लीगियो की कट्टरता तथा धार्मिक श्रद्धाओ के आधार पर सामान्य आदमी को गुमराह करने की वृत्ति का भण्डाफोड किया गया है । ऐसा करते समय कम्युनिस्ट पार्टी एव उसके कार्यकर्त्ताओ को लेखक की अधिक सहानुभूति मिल गई है । अर्थात् यह उनके लेखकीय व्यक्तित्व की सीमा है ।

[१०]

इसकी कथावस्तु की कुछ सीमायें डा० वान्दिवडेकर जी ने स्पष्ट की हैं । उनके अनुसार (१) कथावस्तु म बौद्धिकता को तिलाजलि दी गई है जिससे उपन्यास

उच्चस्तर पर पहुँच नहीं सका है। (२) नत्थू चमार और उसकी पत्नी के मधुर-प्रेम सम्बन्ध अपने आप में उत्तेजक होने पर भी उपन्यास के मूल स्वर से असम्बद्ध लगते हैं। (३) प्रकाशो और रक्खा का प्रेम-प्रसंग गलत स्थान पर रखा गया है जो उपन्यास के स्वर को विकृत कर देता है। (४) प्रसंगों को उभारने में कल्पना के स्पर्श की अपेक्षा थी; उसका यहाँ अभाव है। (५) उपन्यास में गति बहुत ही धीमी और सपाटता अधिक है। (६) ऐसे प्रसंगों को, जिनका विस्तार में चित्रमय रूप अपेक्षित नहीं होता, बल्कि संक्षिप्त वर्णन ही पर्याप्त होता है, परिश्रमपूर्वक उपस्थित करना अपव्यय लगता है और यह अपव्यय तमस में खूब हुआ है।[11]

इनमें से कुछ आरोपों की चर्चा अब तक के विवेचन में की गई है और उसका यथास्थान समाधान भी किया गया है। नत्थू चमार और उसकी पत्नी का प्रेम-सम्बन्ध उत्तेजक नहीं लगता क्योंकि एक तो यह पति-पत्नी का प्रेम है और दूसरी बात यह है कि नत्थू जिस मानसिकता से गुजर रहा था यह प्रसंग उसके द्योतक हैं। (विस्तार के लिए देखें नत्थू का चरित्र-चित्रण) प्रकाशो और रक्खा का प्रेम निश्चित रूप से गलत स्थान पर रखा गया है। अन्य दोनों आरोपों में कुछ सीमा तक तथ्य है।

इस प्रकार कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि तमस की कथावस्तु यथार्थ और जीवन्त है। तमस का अर्थ है अन्धकार ! अन्धकार भरे इतिहास के पृष्ठों को एक लेखक की दृष्टि से देखने का प्रयत्न यहाँ हुआ है और आश्चर्य इस बात का है कि इस घुप्प अंधेरे में भी जरनैल, देवदत्त और राजो रूपी प्रकाश रेखाएँ दिख रही हैं। यह प्रकाश रेखाएँ ही तमस को खत्म करने वाली हैं। इन छिटपुट प्रकाश के टुकड़ों के कारण ही यह उपन्यास अधिक गहरे में स्पर्श करके चला जाता है। यही इसकी कथावस्तु की शक्ति है।

चरित्र-चित्रण—कथावस्तु के विवेचन में एक स्थान पर यह कहा गया है कि इसमें पात्रों की खूब भरमार है। किसी विशिष्ट पात्र का विस्तार से चित्रण करने के बजाए लेखक ने आम आदमियों की प्रतिक्रियाओं को ही अधिक महत्त्व दिया है। परिणामतः यहाँ प्रातिनिधिक पात्र ही अधिक हैं।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन पात्रों का वर्गीकरण विभिन्न पद्धतियों से किया जा सकता है—(१) क्षेत्रीय आधार पर : नागरी : अनागरी। (२) धर्म के आधार पर : हिन्दू, मुस्लिम, सिख एवं ईसाई। (३) विचारधारा के आधार पर : कांग्रेसी, कम्युनिस्ट, मुस्लिम लीग, आर्य-समाज, साम्राज्यवादी इत्यादि। इनमें से किसी भी एक पद्धति को स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ विचारधारा अर्थात् जीवन दृष्टिकोण के आधार को स्वीकार किया गया है।

(१) साम्राज्यवादी अर्थात् अंग्रेजी सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र :

इसमे शासक दल के ही पात्र आते हैं। डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रातिनिधिक पात्र है। पूरे उपन्यास पर उसकी अदृश्य काली छाया मँडरा रही है।

रिचर्ड—रिचर्ड एक सरकारी अफसर है। इतिहास विशेषत भारतीय इतिहास का सजग विद्यार्थी भी है। इस देश के इतिहास, शिल्प तथा बौद्ध धर्म से वह प्रभावित है। इस देश के इतिहास के प्रति उसकी इस लगन को देखकर जब उसकी पत्नी लीजा यह कहती है कि, 'तुम तो रिचर्ड यों बातें कर रहे हो जैसे यह देश तुम्हारा अपना देश है'—तब उसका यह उत्तर कि 'देश अपना नही है, पर इतिहास का विषय तो अपना है'[१]—उसके इतिहास प्रेम को स्पष्ट करता है। ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तुओं का सग्रह वह करता रहता है। रिचर्ड को इस बात का दु ख है कि "भारतीय अपने इतिहास को जानते नही हैं उसे केवल जीते भर हैं।"[१] वह अक्सर यह अनुभव करता है कि "बगले के बाहर होता हूँ तो हिन्दुस्तान के किसी शहर मे होता हूँ। बँगले मे लौटता हूँ तो पूरे हिन्दुस्तान मे लौटता हूँ।"[१] क्योंकि बगले के हर कमरे मे भारतीय इतिहास से सम्बन्धित दर्जनों वस्तुएँ करीने से सजा कर रखी गयी थी। "इन कमरो मे घूमते रिचर्ड को देखकर कोई नही कह सकता था कि वह जिले का सबसे बडा अफसर है। यहाँ पर तो वह भारतीय इतिहास का मर्मज्ञ था, भारतीय कला का पारखी। हाँ, जब वह प्रशासन की कुर्सी पर बैठता तो वह ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिनिधि था और उन नीतियो को क्रियान्वित करता जो लन्दन से निर्णीत होकर आती थी।"[१]

रिचर्ड का यह आरम्भिक चरित्र देखकर उसके प्रति कुछ क्षणों तक आत्मीयता उभर आती है। परन्तु इतिहास का अध्येता रिचर्ड साम्राज्यवादियों का सच्चा एव ईमानदार प्रतिनिधि है। उसके आदर्श अलग हैं और आचरण अलग। इसी कारण वह सोचता है कि 'यह विचार कि हमारा आचरण हमारी मान्यताओं के अनुरूप होना चाहिए, एक ऐसा थोडा आदर्शवाद है जिससे सिविल-सर्विस मे नाम लिखाते ही अफसर अपना पिण्ड छुडा लेता है।"[१] आचरण और आदर्श की यह विसगति रिचर्ड मे आरम्भ से अन्त तक है। [और लीजा इस विसगति को समझ नही पाती।] हिन्दुस्तानी लोगो के स्वभाव का उसका अध्ययन बहुत ही पक्का है। वह यहाँ की जनता की दुखती नस को जानता है। "सुनो ! सभी हिन्दुस्तानी चिड-चिडे मिजाज के होते हैं, छोटे-से उकसाव पर भडकने वाले, धर्म के नाम पर खून करने वाले, सभी व्यक्तिवादी होते हैं।"[१] इस स्वभाव का फायदा अग्रेज उठा रहे थे। रिचर्ड भी यही कर रहा है। उसके अनुसार "भारतीय धर्म के नाम पर आपस मे लडते हैं, देश के नाम पर हमारे साथ लडते हैं।"[१] परन्तु असलियत लीजा जानती है। इसी कारण वह कहती है कि देश के नाम पर ये लोग तुम्हारे साथ लडते हैं और

धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लड़ाते हो।"[७०]

कांग्रेस तथा शहर के अमनपसन्द लोग रिचर्ड से बार-बार यह आग्रह करते है कि फिसाद शुरु होने से पहले वह उसे रोके। कम-से-कम एक हवाई-जहाज तो उड़ायें। परन्तु रिचर्ड इस बात को किसी-न-किसी बहाने टालता रहा। मुअर वाली घटना की उसने कोई जांच नही करवाई। क्योकि वह और उसकी सरकार यह चाह रहे थे कि भारतीय लोग धर्म के नाम पर आपस में खूब लड़ें। जब तक ये आपस में लड़ेंगे तब तक वे सुरक्षित हैं। फिसाद होने के पाँचवें दिन बाद सुरक्षा की व्यवस्था करने का प्रयत्न वह करता है। और आश्चर्य है कि लोगों की सहानुभूति उसे मिल जाती है। जानबूझकर नजर-अन्दाज करना और काफी कुछ होने के बाद बहुत कुछ करने का नाटक करना—अंग्रेजों की इस नीति का प्रतिनिधित्व करता है रिचर्ड। उसके अनुसार "प्रजा अगर आपस में लड़े तो शासक को किसी बात का खतरा नही होता।"[७१] हिन्दू और मुस्लिमों में अलगाव बनाये रखने की कोशिश अंग्रेज हमेशा करते रहे है। रिचर्ड भी यही कर रहा है। "डार्लिंग, हुकूमत करने वाले यह नही देखते कि प्रजा मे कौन-सी समानता पाई जाती है, उनकी दिलचस्पी तो देखने में होती है कि वे किन-किन बातों मे एक दूसरे से अलग है।"[७२] हिन्दुओं और मुस्लिमों मे तनाव बढ रहा है—इसकी खबरें डिप्टी कमिश्नर साहब को मिल रही हैं। परन्तु वह इन दोनो के झगड़ों को निपटाना नही चाहता। उल्टे वह उन्हें समझाता है कि "तुम्हारे धर्म के मामले तुम्हारे निजी मामले हैं, इन्हें तुम्हें खुद सुलझाना चाहिए।"[७३] सच्चे इतिहास को वह जानता है परन्तु यहां के लोगो से यह सच्चा इतिहास वह छिपाता है। मण्डी मे आग लगा दी जाती है तब भी वह खामोश है। मानवीय मूल्यों के सामने शासकीय मूल्य जीत जाते हैं।

अंग्रेज सरकार की तरह रिचर्ड की यह कोशिश है कि जनता का असन्तोष ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध न भड़के। अप्रैल १९४७ में तो सारे देश की जनता ब्रिटिश सरकार विरोधी बन गई थी। पंजाब मे स्थिति और नाजुक थी। जनता अगर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध चली जाए तो सैकड़ों अंग्रेज नागरिकों की जान खतरे में आ सकती थी। इसलिए रिचर्ड यह कोशिश करता है कि जनता आपस में लड़े। उसके कैरियर मे यह निर्णायक घड़ी थी। वह एक अजीब-सा सन्तुलन बनाए रखने में सफल हो चुका था। उन्हे लड़ा भी रहा था और उनके मन मे ब्रिटिशों के प्रति धाक भी जमा रहा था। इसी सन्तुलन के कारण लोग उसकी ईमानदारी से प्रभावित हुए थे। किसी भी घटना के प्रति वह भावुक नही होता। इस देश के इतिहास से प्रभावित हो जाने के बावजूद भी इस देश के प्रति उसके मन में कोई लगाव नही। "यह मेरा देश नही है। नही ये मेरे देश के लोग हैं।"[७४]

सम्पूर्ण उपन्यास मे रिचर्ड का प्रशासकीय रूप ही अधिक उभरा है। वह

अग्रेज सरकार के एक ईमानदार नौकर के रूप मे ही हमारे सम्मुख आया है। इस देश का इतिहास, यहाँ की नस्लें, हिन्दू मुस्लिमो की एकता भिन्नता आदि के बारे मे वह सब कुछ जानता है। यह उसका गम्भीर, चिकित्सक अध्येता रूप है। दूसरी ओर वह एक कठोर प्रशासक है। साम्राज्यशाही का सरक्षक है। अध्येता और प्रशासक को वह निकट आने नही देता। उसके व्यक्तित्व के ये दो परस्पर-विरोधी रूप हैं। इन दोनो रूपो मे वह सन्तुलन बनाये रख सका है। यह उसकी शक्ति है अथवा कमजोरी नही मालूम ' परन्तु इतना सच है कि वह अग्रेजों के गुण दोषो का सही रूप मे प्रतिनिधित्व करता है।

लीजा—डिप्टी कमिश्नर की पत्नी लीजा "अबकी बार छ महीने के बाद विलायत से लौटी है।"[१] अक्सर चार छ महीने मे ही वह नई जगह से ऊब जाती है और विलायत लौटती है। रिचर्ड उसकी इस आदत से परेशान है। वह चाहता है कि लीजा उसके साथ यही भारत मे रहे। परन्तु लीजा दिनभर बडे बँगले मे बैठकर क्या करे ? एक अजीब-सा खालीपन और निरर्थकता के बोझ को वह निरन्तर अनुभव करती है। इन दोनो के स्वभाव मे समानता कम और विरोध अधिक है। लीजा बडी भावुक और मानवीय दृष्टि से सम्पन्न है। रिचर्ड गम्भीर, तटस्थ धूर्त और निर्ममता के साथ आज्ञाओ का पालन करने वाला व्यक्ति है। उसे इतिहास मे अधिक रुचि है, लीजा इतिहास मे दूर भागती है। और सबसे मुश्किल बात यह है कि लीजा रिचर्ड के आचार और विचारो की विसगति से नफरत करती है। एक ओर वह बुद्ध के करुणा के सन्देश को महान और ठोस बतलाता है। बुद्ध की करुण आँखो से वह अत्यधिक प्रभावित है तो दूसरी ओर खून, आगजनी की घटनाओ को रोकने के बजाए बढाता है। उसके इस विसगत व्यवहार से लीजा चिढ जाती है। रिचर्ड के साथ रहने से वह अग्रेज सरकार की चालबाजी को, तोड-फोड की नीति को जान चुकी है। वह यह समझ नही पाती कि हिन्दुओं और मुसलमानो मे अलगाव कहाँ पर है ?

पृष्ठ ९१ पर उसकी मन स्थिति का बडा स्वाभाविक चित्रण किया गया है। वह अकेलेपन से त्रस्त है। 'जब वह भारत आई थी तो बहुत-सी योजनाएँ बनाकर कि वह भारत की दस्तकारी के नमूने इकट्ठे करेगी, खूब घूमेगी, तसवीरें उतारेगी, शेर की पीठ पर बैठकर तस्वीर खिचवाएगी, साडी पहनकर घूमा करेगी और जाने क्या क्या ? परन्तु यहाँ उसे मिली थी चिलचिलाती धूप, बडे बँगले का कारावास, कभी न खत्म होने वाला दिन और गौतम बुद्ध के बुत और छिपकलियाँ और साँप "[१] इस अकेलेपन से ऊबकर वह शराब पीती और बेहोशी मे रहने की कोशिश करती।

उसे बडा ताज्जुब होता है कि शहर के डिप्टी कमिश्नर की हैसियत से रिचर्ड

फसादों को रोकने की कोशिश क्यों नहीं करता। उस रात जब मंडी जल रही थी, खतरे की घंटी बज रही थी, तब भी रिचर्ड आराम से नींद ले रहा था। "लीजा सिर से पाँव तक काँप उठी ।......उसे लगा जैसे मानवीय मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं होता, वास्तव में महत्त्व केवल शासकीय मूल्यों का होता है।"[७७] दंगे शुरू हो जाने के बाद की रिचर्ड की खामोशी लीजा कतई पसन्द नहीं है। वह इस बात को समझ नहीं पाती कि फसादों को रोकने की शक्ति होने के बावजूद भी रिचर्ट खामोश क्यों है ? इस प्रकार की तटस्थता से वह घृणा करती है। पाँच दिनों के बाद जब रिचर्ड सुरक्षा के प्रपंच करने लगता है तब लीजा को हँसी आती है। इसलिए वह पूछती है कि "इतने गाँव [१०३] तो जल गये रिचर्ड, अभी भी तुम्हें काम है ?" रिचर्ड ठिठक गया। क्या लीजा व्यंग्य कर रही है ? क्या उसके दिल में मेरे प्रति घृणा पैदा होने लगी है जो इस तरह की बातें करने लगी है।"[७८]

अकेलेपन के बोझ से त्रस्त, मानवीय मूल्यों की हत्या से अस्वस्थ एवं रिचर्ट के विसंगत व्यवहार से परेशान—इन विभिन्न मानसिक स्थितियों को लेकर लीजा यहाँ उपस्थित हुई है। एक अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर की पत्नी के बावजूद पाठकों की सहानुभूति इसे चली जाती है।

(२) **कांग्रेसी विचारधारा के पात्र**—देश के अन्य हिस्सों की तरह पंजाब में भी कांग्रेस पार्टी जिलों तथा तालुकाओं के स्तर तक फैल चुकी थी। गांधी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित होकर उनके नेतृत्व में ये लोग संगठित हुए थे। हिन्दू, मुसलमान और सिख तीनों सम्प्रदायों के लोग इस पार्टी में थे। चौधरी हयातबख्श, मास्टर रामदास, मि० मेहता, कश्मीरीलाल, जरनैल, अब्दुलगनी तथा सरदार बिसनसिंह इस जिले के प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्ता हैं। सभी सम्प्रदायों में अमन बनाये रखने का प्रयत्न ये लोग करते हैं। रोज सवेरे प्रभात फेरी निकालना, चरखा कातना, शहर की गन्दगी को कम करना आदि विधायक कार्य ये करते रहते हैं। मु० लीग कांग्रेस का जबरदस्त विरोध कर रही है। फिर भी ये अपने काम पर डटे हैं ।

(१) **बख्शी जी**—अंग्रेज हिन्दू-मुस्लिम तनाव को बढ़ा रहे हैं और लीगी इस तनाव का फायदा उठा रहे हैं—इसे कांग्रेसी बख्शी जी बखूबी जानते हैं। परन्तु वे अकेले पड़ते जा रहे है। दुर्भाग्य से इस इलाखे में कांग्रेस में हिन्दुओं की संख्या अधिक है। और बख्शीजी मुसल्मान हैं। अधिकतर मुसलमान लीग में ही हैं। इस कारण इन्हें मुस्लिमों से ही अधिक तकलीफ होती है। लीगी बख्शी जी को बार-बार यह समझाते हैं कि "कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है और लीग मुसलमानों की।"[७९] परन्तु बावजूद इसके बख्शी जी यही उत्तर देते हैं कि "कांग्रेस में हिन्दू भी हैं, मुसलमान भी हैं और सिख भी है।"[८०] लीगियों के इस आरोप को कि कांग्रेस के

पीछे घूमने वाले मुसलमान असली मुसल्मान नहीं हैं, मौलाना आजाद हिन्दुओं का सबसे बड़ा कुत्ता है"[१]—बख्शी जी चुपचाप सह लेते हैं और अमन के रास्ते से पीछे नहीं हटते। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि यह सब अंग्रेजों के कारनामे हैं। "फिसाद करवाने वाला भी अंग्रेज फिसाद रोकने वाला भी अंग्रेज, भूखों मारने वाला भी अंग्रेज, रोटी देने वाला भी अंग्रेज, घर से बेघर करने वाला भी अंग्रेज घरों में बसाने वाला भी अंग्रेज ..... । जब से फिसाद शुरू हुए हैं बख्शी जी के दिमाग में धूल से उड़ने लगी थी, बस केवल इतना भर ही बार-बार कहते रहे कि अंग्रेज फिर बाजी मार ले गया।"[२] वे हिंसा और अन्याय के विरोधी थे। फिसादों के बाद जब सब कांग्रेसी इकट्ठे हो जाते हैं, और बीती घटनाओं पर चर्चा करने लगते हैं, तब अधिकतर कांग्रेसियों का यही स्वर होता है कि अहिंसा से काम नहीं चलेगा। काफी मस्ते मजाक भी हो रहे हैं। जैसे "अगर कोई तुम पर हमला करे तो तू उसे कहना, ठहर मैं कांग्रेस के दफ्तर से पूछ आऊँ कि मुझे अपना बचाव करना या नहीं।"[३] तब बख्शीजी अहिंसा पर अपने दृढ़ विश्वास को व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार बुरी से बुरी स्थिति में भी व्यक्ति को दृढ़ता से अहिंसा का रास्ता अपनाना चाहिए। "तू खुद तशद्दुद नहीं कर। नम्बर एक। तू तशद्दुद करने वाले को समझा भी, अगर समझाने का मौका हो तो। नम्बर दो। और अगर वह नहीं मानता तो डटकर मुकाबला कर। यह है नम्बर तीन।"[४] अन्य कांग्रेसियों की अपेक्षा बख्शी जी अधिक शांत, गम्भीर और अपनी निष्ठा के प्रति वफादार है।

(२) जरनैल—इस कस्बे का एक और ईमानदार कांग्रेसी सैनिक। उम्र पचास के ऊपर। बरसों की जेल के बाद शरीर में कुछ नहीं रह गया था। "जहाँ शहर के अन्य कांग्रेसियों को कम-से-कम बी क्लास मिलता था, जरनैल को हमेशा सी-क्लास में डाला जाता रहा, जिससे वह बीमार भी पड़ता रहा और बालू से भरी रोटी भी खाता रहा। पर जरनैल ने न तोबा की, न अपनी जरनैली वर्दी को छोड़ा। जवानी के दिनों में लाहौर-कांग्रेस के समय वह अपने शहर से लाहौर में वालण्टियर बनकर गया था। नेहरूजी के साथ वह भी रावी के किनारे नाचा था जब पूर्ण स्वराज्य का नारा लगाया गया था। उसी दिन से वह वालण्टियर की वर्दी पहनता आया था। जब दिन अच्छे होते तो उस वर्दी में कभी सीटी लग जाती, कभी तिरंगे की डोरी बंध जाती। ... न जरनैल को कोई काम मिला, न उसने किया। कांग्रेस के दफ्तर से पन्द्रह रुपये महीना प्रचारक का मेहनताना लिया करता था। ... मन में सनक थी, उसी के बल पर जिन्दगी के दुःख और क्लेश पार कर जाता था। उसका न घर था न घाट, न बीवी न बच्चा, न काम न धाम।"[५] अन्य किसी भी पात्र की अपेक्षा जरनैल के भूतकाल के सम्बन्ध में लेखक ने अधिक लिखा है। जरनैल को भाषण देने की आदत है। दस-बीस लोगों का समूह दिखलाई दिया कि वह झट

से किसी ऊँची जगह पर खड़ा होकर अंग्रेजों के खिलाफ और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के एक जोशीली तकरीर देने लगता। इस दृष्टि से वह कुछ सीमा तक विक्षिप्त है। हिन्दुस्तान की आजादी के स्वप्न को लेकर वह जी रहा है। "साहिबान, मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि वह दिन दूर नही है जब हिन्दुस्तान आजाद होगा। कांग्रेस अपने मकसद में जरूर कामयाब होगी। जो शपथ मैंने रावी के किनारे ...."[८६] इस वाक्य को वह बार-बार दुहराता रहता है। वह एक ऐसा आदमी था, "जो आन्दोलन हो या न हो, जेल जाता रहता था, जलसे हों या न हों, शहर में स्वयं तकरीरें करता फिरता था, हर आये दिन शहर में कहीं-न-कहीं उसकी पिटाई हो जाया करती थी। बगल में छोटा-सा बेंत दबाये वह सदा कभी एक मुहल्ले में, कभी दूसरे में मुहल्ले में घूमता नजर आता था।"[८७]

जरनैल सनकी है, अशिक्षित है, लेकिन निर्भय है। सुअर की लाश मस्जिद की सीढ़ियों पर दिखलाई देने के बाद केवल जरनैल ही यह सोचता है कि यह किसी की शरारत है। और इसीलिए वह चिल्ला-चिल्ला कर कहता है कि, "यह अंग्रेज की शरारत है, मैं जानता हूँ।"[८८] शहर में जिस दिन फिसाद शुरू हुआ उसी दिन दोपहर को जरनैल मारा गया। सनकी तो था ही। सारे शहर में तनाव छाया हुआ है। कोई भी अपने घर से अकेले निकल नहीं रहे थे। लीगियों के जत्थे लूट-पाट का काम बड़े आराम से कर रहे थे। ऐसे में जरनैल अकेला निकला, दंगा रोकने के लिए वह यह सोचते हुए निकला था कि शहर में दंगा हो रहा था, यह क्या कोई अच्छी बात है और वे सभी कांग्रेसी गद्दार हैं जो घर पर बैठे हैं।"[८९] वह निकला और जगह-जगह सड़क के किनारे कभी एक चबूतरे पर तो कभी दूसरे चबूतरे पर खड़ा होकर लेक्चर देने लगा। वह लगातार भटक रहा था। अमन के लिए चिल्ला रहा था। उसे यह भी मालूम नहीं था कि वह किस मुहल्ले में है, कहाँ है वह केवल कहता जा रहा था, साहिबान, मैं आपसे कहता हूँ कि हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई हैं, शहर में फिसाद हो रहा है, आगजनी हो रही है और उसे कोई रोकता नहीं।...... ...मैं कहता हूँ कि हमारा दुश्मन अंग्रेज है। गांधीजी कहते हैं कि वही हमें लड़ाता है और हम भाई-भाई हैं। हमें अंग्रेज की बातों में नहीं आना चाहिए। और गांधी जी का फर्मान है कि पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा। मैं भी यही कहता हूँ कि पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा। हम एक हैं, हम भाई-भाई हैं, हम मिलकर रहेंगे ... ."[९०] और इसी समय उसके सर पर लाठी का एक भरपूर वार पड़ा। खोपड़ी फूट गई। जरनैल वहीं ढेर हो गया।

अमन और एकता के लिए अन्तिम सांस तक जरनैल संघर्ष करता रहा। वह गांधी जी का सच्चा सिपाही था। ईमानदार कांग्रेसी। और इन सबके परे एक भावुक मनुष्य! हिंसा और बदले की भावना से भी खून हुए और अमन कायम करने

में प्रयत्नशील लोगों के भी खून हुए। परन्तु इन दोनों मृत्युओं में कितना बड़ा अन्तर है। जरनैल उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर रहा है जो किसी श्रेष्ठ मूल्य के लिए जीते थे और उसी की पूर्ति के लिए मृत्यु के अधीन हो जाते थे। उसका खून वास्तव में शान्ति, अहिंसा, मैत्री और भाई चारे का ही खून है।

(२) साम्प्रदायिक शक्तियाँ और उनसे परिचालित पात्र—एक ओर एकता को बढ़ाने वाली क्षीण शक्तियाँ कार्यरत हैं तो दूसरी ओर अलगाव बढ़ाने वाली शक्तियाँ। इनमें से प्रत्येक का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) आर्य-समाजी दृष्टि और उससे सम्बन्धित पात्र—हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के लिए आर्य-समाज का निर्माण हुआ। हिन्दू धर्म को अधिक शास्त्र शुद्ध और और बौद्धिकता प्रदान करने का ऐतिहासिक कार्य आर्य समाज ने किया है। परन्तु बाद में धीरे-धीरे आर्य-समाज राजनीति के क्षेत्र में उतरने लगा। अपने कार्य को धर्म और समाज-सुधार तक सीमित रखने के बजाए दूसरे धर्म पर कठोर प्रहार करना उसने शुरू किया। परिणामस्वरूप अलगाव की वृत्ति शुरू हुई। प्रस्तुत उपन्यास में इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व पुण्यात्मा वानप्रस्थीजी, मत्रीजी, देवव्रत, बोधराज, लाला लक्ष्मीनारायणलाल, उनका बेटा रणवीर आदि करते हैं।

वानप्रस्थीजी का तो नारा है कि "फैलाये घोर पाप यहाँ मुसल्मीन ने। अमन फलक ने छीन ली, दौलत जमीन ने।" शहर के हिन्दुओं से वे बार-बार यह आग्रह करते हैं कि वे अपनी रक्षा का प्रबन्ध करें। "सभी सदस्य अपने-अपने घर में कनस्तर कड़वे तेल का रखें, एक-एक बोरी कच्चा या पक्का कोयला रखें। उबलता तेल शत्रु पर डाला जा सकता है, जलते अंगारे छत पर से फेंके जा सकते हैं।"[११] हिन्दू-मुसलमान इस प्रदेश में सैंकड़ों वर्षों से जी रहे थे परन्तु अब उन्हें एक-दूसरे के शत्रु के रूप में उभारने का कार्य वानप्रस्थीजी कर रहे हैं। युवक समाज को लाठी सिखलाने का कार्य शुरू किया जा रहा है। इन सब बातों की प्रतिक्रिया मुस्लिम-समाज पर क्या होगी—यह सोचने को कोई तैयार नहीं है। मुस्लिम बहुसंख्यक प्रदेश में हम जी रहे हैं, इस प्रकार की तैयारियों से आम आदमी पर क्या परिणाम होंगे, देहातों में जहाँ हिन्दू कम संख्या में हैं उनका क्या होगा—इस पर विस्तार से ये लोग सोचना ही नहीं चाहते। कांग्रेसियों की निन्दा ये लोग हमेशा करते रहे हैं—"नालियाँ साफ करने से स्वराज्य नहीं मिलता।"[११] अथवा "यह सारा काम कांग्रेसियों ने बिगाड़ा है। उन्होंने ही मुसलमानों को सिर पर चढ़ा रखा है।"[११]

अधिकतर आर्यसमाजियों में विवेकहीन आवेश है। "गो वध हुआ तो यहाँ खून की नदियाँ बह जाएँगी।"[११] मुसलमानों के प्रति नफरत फैलाने में प्रत्येक अवसर का ये उपयोग कर लेते हैं। "म्लेच्छ तो गंदे होते हैं, म्लेच्छ नहाते नहीं, पाखाना करके हाथ नहीं धोते, एक दूसरे का झूठा खा लेते हैं, समय पर शौच नहीं जाते ..."[११]

गलतफहमियाँ फैलाने का यह सबसे गन्दा और निचला स्तर है। इससे अलगाव की भूमि विस्तृत होने लगी। हिन्दू-धर्म के झूठे अभिमान को आर्य-समाजी बढ़ाते रहे। वेदों में सब कुछ है, दुनिया के बाकी सब धर्म गलत और असारनीय हैं, हिन्दू जाति की तेजस्विता को फिर से प्राप्त करा देना है—आदि बातें युवकों में भरा देते हैं। इसमें दोनों कौमों में नफरत बढ़ती गई। अलगाव को बढ़ाने की उनकी इस वृत्ति के कारण दूसरी ओर ऐसी ही उग्र प्रतिक्रिया हुई है।

(आ) मुस्लिम लीग और उससे सम्बन्धित पात्र—आर्य समाज की ही तरह अथवा उससे भी अधिक भयावह कार्य मुस्लिम-लीग मुस्लिम समाज में कर रही थी। अलगाव की नीति को बढ़ाना, नफरत के जहर को फैलाना यही लीग का कार्य रहा है। लीग का मामूली-सा कार्यकर्ता भी जिन्ना के शब्दों में बोल रहा था-"कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है। इसके साथ मुसलमानों का कोई वास्ता नहीं हैं। कांग्रेस मुस्लिमों की रहनुमाई नहीं कर सकती।"[६६] मौलाना अबुल कलम आजाद इनकी नजरों में गांधीजी के कुत्ते हैं। वे इस बात को मानने को तैयार नहीं हैं कि असली शत्रु तो अंग्रेज है। "हमारा अंग्रेजों ने क्या बिगाड़ा ओए? हिन्दू मुसलमान की अदावत पुराने जमाने से चली आ रही है। काफिर-काफिर है और जब तक दीन ईमान नहीं लायेगा वह दुश्मन है। काफिर को मारना सवाब है।"[६७] इसी धार्मिक कट्टरता के कारण हिन्दू हजारों की संख्या में मारे गये, स्त्रियों पर बलात्कार हुए और क्रूर धर्म-परिवर्तन किये गये। इकबाल सिंह का धर्म-परिवर्तन इस बात का प्रमाण है। मुबारक अली और मौला दाद इनके नेता हैं। और सामान्य मुसलमान एहसान अली, रमजाना, अकर्रा आदि इनके स्वयं सेवक।

गोल्डा शरीफ के पीर भी इसी साम्प्रदायिक कट्टरता का प्रतिनिधित्व करते हैं। "पीर सावह काफिरों को हाथ नहीं लगाते; काफिरों से नफरत करते हैं।"[६८] पीर साहब भी अलगाव बढ़ाने में सक्रिय सहयोग देते हैं।

मुराद अली भी इसी प्रकार का व्यक्ति है। अन्य मुसलमानों की तुलना में मुराद अली अधिक बुद्धिमान, षड्यन्त्रकारी और दुहरे व्यक्तित्व को लेकर आया है। एक ओर वह भाई-भाई का नारा लगाता है, अमन कमेटी में तकरीर देता है दूसरी ओर नत्थू-चमार के माध्यम से सुअर की हत्या करके मस्जिद की सीढ़ियों पर फिकवा देता है। मुराद अली के कारण ही नफरत की आग फैलती गई है। इस कस्बे में आगजनी, खून और बलात्कार की जो घटनायें हुई उसके लिए मुराद अली ही जिम्मेदार है। बुद्धिजीवी हमेशा अलगाव की राजनीति खेलते रहे हैं और आम आदमी के शांत जीवन को उध्वस्त करते रहे हैं—इस बात का प्रमाण है मुराद अली का व्यवहार।

(इ) सिख समाज—उपन्यास के दूसरे खंड में सिख पात्र सर्वाधिक आये हैं।

या यूँ कहे कि दूसरे खड का सम्बन्ध सिख और मुस्लिम समाज मे ही है। हरनाम सिंह, बन्तो, उनका बेटा इकबाल सिंह, बेटी जसबीर, किशन सिंह, सरदार हरिसिंह, तेजसिंह, प्रीतमसिंह, निहगसिंह, गोपालसिंह, मगलसिंह सुनार, प्रीतमसिंह बजाज, भगतसिंह पसारी, ग्रन्थी साहिब आदि अलग-अलग देहातो के सिंह यहाँ आये है।

सिक्ख जाति मूलत लडाकू रही है। इनके धर्म का इतिहास मुस्लिमो के संघर्ष के साथ जुड़ा हुआ है। इसी कारण "मुस्लिमों के विरोध मे युद्ध करना"—धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में वे स्वीकार करते हैं। इसी धार्मिक दृष्टि से इन्हें आह्वान भी *किया जाता है—"तीन सौ साल पहले भी ऐसा ही गीत दुश्मन से लोहा लेने के* लिए गाया गया था। उनकी चेतना फिर से शताब्दियो पहले के वायुमडल मे सास लेने लगी। सगत का प्रत्येक सिंह सिर हथेली पर रखे बैठा था।"[११] "आज फिर से खालसा पथ को गुरु के सिंहो के खून की जरूरत है।"[१२]

परिस्थिति का तटस्थ विश्लेषण करने की जरूरत ये लोग भी महसूस नहीं कर रहे हैं। कम्युनिस्ट विचारो का सोहनसिंह गुरुद्वारे मे इकट्ठे सभी सिंहो के इस अविवेकी निर्णय को (मुस्लिमो के साथ युद्ध करना) रोकने की पूरी कोशिश करता है और यह समझाता है कि "हमे यह नही भूलना चाहिए कि हम लोगो मुसलमानो के खिलाफ भडकाया जा रहा है और मुसलमानो को हमारे खिलाफ। हम झूठी अफवाह सुन-सुनकर एक दूसरे के खिलाफ तैस में आ रहे हैं। हमें अपनी तरफ से पूरी कोशिश करनी चाहिये कि गाँव के मुसलमानो के साथ मेल जोल बनाये रखें और कोशिश करें कि गाँव मे फिसाद न हो।"[१३] परन्तु उसे गद्दार कहकर चुप बिठलाया जाता है। धार्मिक कट्टरता के सम्मुख विवेक हार जाता है। इसी अविवेकी दृष्टि के कारण दो दिन और दो रात ये लगातार लडते रहे। इस समय की इनकी मानसिकता को लेकर लेखक ने ठीक ही लिखा है कि "लडने वालों के पाँव बीसवीं सदी मे थे और सर मध्ययुग मे।"[१४]

इस युद्ध का परिणाम इन्हे ही भुगतना पडा। गाँव की अधिकतर सिख स्त्रियो ने कुएँ मे डूबकर आत्महत्याएँ कर ली। १५ से अधिक सिंह मारे गये। लाखो की जायदाद जलकर राख हो गई। वस्तुस्थिति का तटस्थ निरीक्षण करके निर्णय लेने की वृत्ति अन्य साम्प्रदायिक गुटो की तरह इनमे भी नही थी।

(४) कम्युनिस्ट दृष्टि से परिचालित पात्र—देवदत्त, रामनाथ, जगदीश, अजीज, सोहनसिंह, हरवससिंह, मीरदाद—ये कम्युनिस्ट विचारो के पात्र इस उपन्यास मे आये हैं। लेखक भीष्म साहनी इस विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध हैं। शायद इसी कारण इन पात्रो के प्रति उनमे अधिक सहानुभूति भी है। इन सात कॉमरेडों मे देवदत्त का ही थोडा-सा विस्तार से विवेचन सम्भव है। इन पर विचार करने से पूर्व विभाजन के सम्बन्ध मे पार्टी के विचारो का सक्षेप मे अध्ययन जरूरी है।

१९३०-४० के बीच कांग्रेस और लीग के बाद तीसरा महत्त्वपूर्ण स्थान कम्युनिस्ट पार्टी का ही था। विशेषतः मेरठ षड्यन्त्र तथा अन्य इसी प्रकार की विस्फोटक कारवाइयों के कारण बुद्धिजीवियों और अन्य नेताओं की सहानुभूति पार्टी को मिल रही थी। दिसम्बर १९३० के अपने एक प्रस्ताव में पार्टी ने कांग्रेस को "पूंजीपतियों की संस्था" कहा था। स्वतन्त्रता-संग्राम में कांग्रेस के साथ हाथ मिलाने की इच्छा इनकी कभी नहीं रही। दिसम्बर १९४० के कम्युनिस्ट विद्यार्थी-सम्मेलन में भविष्य के भारत का जो चित्र खींचा गया है, उसमें उन्होंने अधिकाधिक स्वायत्तता के साथ प्रान्तों की रचना का आग्रह किया है। कुछ सीमा तक वे भारत में छोटे-छोटे स्वतन्त्र राष्ट्रों के सपने देख रहे थे। १५ अप्रैल १९४६ को कैबिनेट मिशन के सम्मुख इन्होंने जो स्मरण-पत्र दिया है उसमें स्पष्ट कहा गया है कि "प्रान्त रचना के लिए तुरन्त सीमा-आयोग की घोषणा कर दी जाये तथा भाषिक एवं सांस्कृतिक एकता के आधार पर प्रान्त रचना की जाये। सिंध, पठान-प्रदेश, बलूचिस्तान, पश्चिम पंजाब आदि प्रदेशों के लोगों को इस बात की स्वतन्त्रता दी जाये कि वे भारत के किसी प्रान्त में रहना चाहते हैं अथवा किसी दूसरे स्वतन्त्र राष्ट्र में अथवा केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में।"[१०१] स्पष्ट है कि विभाजन के प्रस्ताव को कम्युनिस्ट पार्टी १९४६ के पूर्व ही स्वीकार कर चुकी थी। इसके बहुत पहले से ही हिन्दू-मुस्लिम एकता का आग्रह पार्टी कर रही थी। तत्कालीन परिस्थिति में यह विसंगत व्यवहार ही था। लाहौर, अलीगढ़ तथा पंजाब के अन्य स्थानों में पार्टी का कार्य अधिक था। विभाजन के पूर्व इस पार्टी के सामान्य कार्यकर्ता अपने तरीके से साम्प्रदायिक तनाव को कम करने की कोशिश कर रहे थे। प्रस्तुत उपन्यास के कम्युनिस्ट पात्र भी इसी दिशा में प्रयत्नशील हैं।

देवदत्त—शहर में फिसाद शुरू हो जाने के बाद विभिन्न पार्टियों की बैठक लेने का पहला प्रयत्न देवदत्त करता है। "शहर में दंगों को रोकने के लिए एक बार फिर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के लीडरों को इकट्ठा करना होगा।.........साथियों की कमी है परन्तु जहाँ तक बन पड़े दंगों को रोकने का काम करना होगा।"[१०४]

देवदत्त अत्यन्त निर्भय एवं साहसी है। मां-पिता का वह लाड़ला बेटा है। परन्तु उनकी बात वह कभी नहीं मानता। मां-पिता की इच्छा है कि वह ऐसे समय शहर में न घूमें, परन्तु देवदत्त अपने विचारों के प्रति प्रतिबद्ध है। पिता की दृष्टि से "सभी गालियां देते हैं, न काम, न धाम। दो-दो पैसे के पांडियों, मजदूरों, कुलियों को इकट्ठा करता फिरता है, उन्हें लेकर लेक्चर झाड़ता फिरता है, हरामी मुँह पर दाढ़ी नहीं उतरी, लीडर बन गया है.........।"[१०५] कम्युनिस्ट विचारधारा का उसका ज्ञान बहुत गहरा नहीं है। फिर भी अपने काम के स्वरूप को जानता है। "सड़कों पर खुलने वाले मकान मध्यमवर्ग के, गलियों में खुलने वाले मकान निम्न वर्ग

वे ।"[१०१] शहर की रचना का उसका यह साम्यवादी विश्लेषण है । हिन्दू आर्थिक दृष्टि मे सम्पन्न हैं, इसलिए उनकी सहानुभूति मुस्लिमो के साथ अधिक है । इस कारण वह हिन्दुओं मे बदनाम भी अधिक है । आज सवेरे की घटना के कारण उसके एक मुस्लिम कॉमरेड का विश्वास पार्टी पर से उठ चुका है और वह देवदत्त के इस तर्क का कि यह शरारत अंग्रेजो की है यह जवाब दे रहा है कि, "अंग्रेज की शरारत, इसमे अंग्रेज कहाँ आ गया । मस्जिद के सामने सुअर फेंकते हैं मेरी आँखो के सामने तीन गरीब मुसलमानो को काटा है । हटाओ जी, सब बकवास है ।"[१०५] देवदत्त केवल इतना ही कहता है कि 'हम मध्यमवर्ग के लोग हैं, पुराने सस्कारों का हम पर गहरा प्रभाव है । मजदूर वर्ग के होते तो हिन्दू-मुसलमान का सवाल तुम्हें परेशान नही करता ।"[१०६] उसके इस उत्तर से स्पष्ट है कि वह पार्टी का एक ईमानदार स्वय सेवक मात्र है, उस विचारधारा का गहन अध्येता नहीं । उसका विश्वास है कि समाज के उच्च और मध्यम वर्ग के लोग ही धर्म के नाते पर लडते और लडाते हैं । मजदूर कभी आपस मे धर्म के नाम पर लडते नही हैं । परन्तु जब उसे यह खबर मिलती है कि दो सिख बढई मारे गये तब "उसे लगा कि अगर मजदूर आपस मे लड सकते हैं तो यह विष बहुत ही गहरा असर कर चुका है ।"[१०७] इसका सोचने का तरीका बडा ही फार्मूलाबद्ध है । इसी कारण फिसाद रुक जाने के बाद आँकडा-बाबू से बार बार पूछता है कि गरीब कितने मरे और अमीर कितने । उसका दृढ विश्वास है कि फिसादो के मूल मे अंग्रेजों की तोड फोड नीति ही है । उसे लगता है कि अंग्रेज और पूँजीपति वर्ग समाज के अन्य वर्गों को धर्म के नाम पर लडा रहे हैं और खुद अधिक सुरक्षित हैं । आश्चर्य इस बात का है कि देवदत्त भी इस बात की खोज नही करता कि मस्जिद की सीढियो पर सुअर आया कहाँ से ? उसे किसने मारा अथवा मरवाया है ? शान्ति स्थापना करने का उसका तरीका भी बडा मामूली है । सर्वपक्षीय बैठक लेकर एक पत्रक निकाला जाये अथवा सर्वपक्षीय नेता सारे शहर मे एकता के लिए घोषणा देते हुए घूमे—समस्या के समाधान का बस यही एक तरीका उसके पास है ।

एक सच्चे, ईमानदार कम्युनिस्ट कार्यकर्ता के रूप मे वह हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है ।

अन्य कार्यकर्ता—दूसरे खड मे कामरेड सोहनसिंह का चित्रण हुआ है । सिख जमात गुरुद्वारे मे युद्ध की तैयारियाँ कर रहे हैं तब दुबला-पतला सोहनसिंह उन्हें समझाने की कोशिश कर रहा है कि हम लोगों को मुसल्मानो के खिलाफ भडकाया जा रहा है हमे अपनी तरफ से कोशिश करनी चाहिये कि गाँव के मुसलमानों के साथ मेल-जोल बनाये रखे और कोशिश करें कि गाँव मे फिसाद न हो । यहाँ के अमन पसन्द सिख और मुसलमान मिलकर उन्हे रोकें । वह हमारे डर से असला

इकट्ठा कर रहे हैं, हम उनके डर से असला इकट्ठा कर रहे हैं।"[११०] परन्तु सोहन सिंह की इस बात को कोई नहीं मानता। उसे गद्दार कह कर चुप बिठाया जाता है।

मीरदाद भी अपने तरीके से फिसाद रोकने की कोशिश कर रहा है। मीरदाद मुस्लिमों को समझाते हुए कहता है कि असली शत्रु तो अंग्रेज है सिख अथवा हिन्दू नहीं। "अगर हिन्दू-मुसलमान-सिख मिल जाते हैं, उनमें इत्तहाद हो जाता है, तो अंग्रेज की हालत कमजोर पड़ जाती। अगर हम आपस में लड़ते हैं तो उसकी हालत मजबूत बनी रहती है।"[१११] "जबसे फिसादों का तनाव शुरू हुआ था मीरदाद कस्बे में जगह-जगह, नानबाई की दुकान पर, गंडा सिंह चाय वाले की दूकान पर, शेख की बैठक में, कुएँ-झलार पर, जहाँ चार-पाँच आदमी बैठे हुए होते हैं यही चर्चा बैठता था,......मगर कस्बे में तनाव बढ़ने पर और बाहर से तरह-तरह की खबरें आने पर, वह उत्तरोत्तर अकेला होता गया था। उसकी बात में वजन इसलिए भी नहीं था कि उसके पास जमीन नहीं थी, न जमीन न मकान।"[११२] बड़ी अजीब स्थिति है यह। कम्युनिस्टों की विचारधारा जनसामान्य शायद तभी मानेंगे जब कोई पूंजीवादी समझायेगा।

मीरदाद, सोहनसिंह, हरबंशसिंह आदि सामान्य कार्यकर्ताओं ने जान धोके में डालकर फिसादों को रोकने की कोशिश की है। इस कोशिश में सोहन सिंह मारा भी गया।

(५) सहज मानवीय दृष्टि से परिचालित पात्र—इस तनाव भरे वातावरण में ऐसे भी पात्र हैं जो मनुष्य को केवल मनुष्य के रूप में देख रहे हैं। धर्म, जाति अथवा किसी पार्टी की विचारधारा से ऊपर उठकर मात्र मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का यह प्रयत्न अधिक वैज्ञानिक, मानवीय एवं लाभदायक है। परन्तु दुर्भाग्य से यही शुद्ध दृष्टि तिरोहित हो जाती है। एक संवेदनशील लेखक इसी दृष्टि की खोज तटस्थता से करता रहता है। इस प्रकार की मानवीय दृष्टि को लेकर जीने वाले पात्र सभी सम्प्रदायों और धर्मों में थे। संख्या की दृष्टि से ये बहुत कम थे। या कहना होगा कि इनकी आवाज दबा दी गई है। प्रस्तुत उपन्यास में डिप्टी कमिश्नर की पत्नी लीजा, काँग्रेसी स्वयं सेवक जरनैल शाहनवाज, एहसान अली की पत्नी राजो—इसी प्रकार के पात्र हैं। विशेषतः लीजा, शाहनवाज एवं राजो अधिक प्रभावित करते हैं। वे इस सम्पूर्ण समस्या को शुद्ध मानवीय दृष्टिकोण से देखते हैं। इसी कारण लीजा रिचर्ड को बार-बार कहती है कि वह फिसाद को रोके। उसके अनुसार, "मैं तो तभी तक हिन्दू और मुसलमान को अलग-अलग पहचान भी नहीं सकती। तुम पहचान लेते हो रिचर्ड कि आदमी हिन्दू है या मुसलमान।"[११३] रिचर्ड यह अच्छी तरह जानता है कि इन दोनों कौमों में अलगाव की अपेक्षा एकता ही

अधिक है । पर वह मौन है और लीना बार-बार उसे मानवीय दृष्टि से समस्या को देखने का आग्रह करती है ।

शाहनवाज—ऊँचा रोबीला शाहनवाज अमीर खानदान से सम्बन्धित है । किसी भी राजनीतिक विचारधारा से उसका कोई मतलब नही है । लाला लक्ष्मीनारायण, उनकी पत्नी और बेटी जब अपने ही घर मे करीब करीब कैद हैं तब उन्हें उस बस्ती से सुरक्षित निकालने का काम शाहनवाज ही करता है । लालाजी की पत्नी के अनुसार, "ऐसे लोगो के दिलो मे भगवान बसता है जो मुसीबत मे लोगों का हाथ पकडते हैं ।"[११४] इस नफरत भरे वातावरण मे एक मुसलमान द्वारा हिन्दुओं को बचाना बडी हिम्मत की बात है । "शाहनवाज के चेहरे की ओर देखते हुए यह नही लगता था कि कभी उसके मन मे ओछे या शुद्ध विचार उठ सकते होंगे । रोबीला जवान, छाती तनी रहती, तुर्रा लहराता रहता, बूट चमचमाते रहते, सदा सरसराते धोबी के धुले कपडे पहनता था । अब वह धीर-गम्भीर दुनियादार आदमी था, पैट्रोल की दो पम्पो का मालिक दोस्त परवर, मिलनसार, हँसमुख जज्बाती ।"[११५] जब शहर मे गडबडी शुरू हुई तो वह अपने सब हिन्दू मित्रों की खबर लेने आता था । उन्हें सुरक्षित स्थानो पर पहुँचाना, आर्थिक सहायता करना, उनकी कीमती वस्तुएँ सुरक्षित स्थानो पर पहुँचाना—सक्षेप मे "दोस्त परवरी उसका ईमान थी ।"[११६] एक ओर शहर के सारे मुसलमान हिन्दुओ को खत्म करने की योजनाएँ बनवा रहे थे तो दूसरी ओर अकेला शाहनवाज उन्हे बचाने की कोशिश कर रहा था । इतना ही नहीं वह हिन्दुओ के आसपास के घरो मे रहने वाले मुसलमानो को यह कहकर आता है कि, 'देख, फकीरे, कान खोलकर सुन ले । अगर मेरे यार के घर को किसी ने बुरी नजर से देखा तो मैं तुझे पकडूँगा । कोई उस घर के नजदीक नही आये ।"[११७] अपने इस नेक काम के कारण वह लीगियों की गालियाँ भी सुनता है । लीगी उसका कुछ बिगाड नही सकते थे क्योंकि वह रईस है। रघुनाथ उसका एक और निकटस्थ मित्र है । उसके गहने वह सुरक्षित लाकर देता है । शाहनवाज के इस साहस को देखकर "रघुनाथ अन्दर-ही-अन्दर उसके चरित्र, उसके ऊँचे विचारो की प्रशंसा कर रहा था जिनके कारण आज के जमाने में इन चारो ओर आग की लपटें उठ रही थी, एक मुसलमान दोस्त उसके प्रति इतना निष्ठावान् था ।"[११८] और रघुनाथ की पत्नी "इस बात पर भी शाहनवाज की कृतज्ञ थी और उसके ऊँचे प्रशस्त ललाट, दमकते चेहरे को देख-देखकर उसे लग रहा था जैसे वह किसी पुण्यात्मा के दर्शन कर रही है ।"[११९] वास्तव मे इस कस्बे की राजनीतिक पार्टियाँ, आर्य-समाज तथा इस प्रकार के दलो ने शाहनवाज की तरह कार्यरत शक्तियों को इकट्ठा करते तो यह सारी बातें नही होतीं । दुर्भाग्य से एका बढाने वाली शक्तियो को यहाँ कभी उभारा नही गया । उलटे कोशिश ऐसी की गई कि ये

शक्तियाँ अकेली पड़ जाएँ। परन्तु बावजूद अपने इस अकेलेपन के इन शक्तियों ने बहुत बड़ा काम किया है।

राजो : हरनामसिंह और बन्तो जब ढोक इलाही बक्ष से निकाल दिये जाते हैं तब अपनी जान बचाते-बचाते वे ढोक-मुरीदपुर में आते हैं। दिन निकल आया है। अब उन्हें कोई मुस्लिम देख ले तो तुरन्त मार डालेंगे। किसके यहाँ आसरा मागेंगे ? "जहाँ सबको जानता था, वहाँ किसी ने सहारा नहीं दिया.........यहाँ न जानने वालों से क्या उम्मीद हो सकती है ?"[१२०] परन्तु कई बार ऐसा होता है कि अपने पराये हो जाते हैं और पराये अपने। हरनामसिंह के साथ यही हुआ। ढोक-मुरीदपुर में जब वे किसी अजनबी का दरवाजा खटखटाते हैं तब एक मुस्लिम स्त्री दरवाजा खोलती है। "क्षणभर के लिए वह औरत ठिठकी, खड़ी रही, वह निर्णायक क्षण जब मनुष्य अपने समस्त संस्कारों, विचारों, मान्यताओं के पुंजीभूत प्रभाव के आधार पर निर्णय लेता है। औरत कुछ देर तक उसकी ओर देखती रही। फिर उसने दरवाजा खोल दिया।"[१२१] यह औरत एहसानअली की पत्नी राजो है। इसका पति और बेटा (रमजान) कट्टर मुस्लिम-लीगी है। जब राजो इस सिख दम्पति को अपने घर में शरण दे रही है उसी समय इसका पति और बेटा दूसरी ओर सिखों को मार रहे हैं, उनके घरों को लूट रहे हैं, आग लगवा रहे हैं। और संयोग की बात यह कि इसी दम्पत्ति की होटल लूटकर वे दोनों घर की ओर निकले हैं।

राजो अपनी मर्यादा जानती है और इसी कारण थोड़ी देर बाद कहती है कि, "सुनो, सरदारजी, मैं तुमसे कुछ छिपाऊँगी नहीं, मेरा घरवाला और बेटा दोनों गाँव वालों के साथ बाहर गये हुए हैं। वे अभी लौटते होंगे। मेरा घरवाला तो अल्लाह से डरने वाला आदमी है, तुम्हें कुछ नहीं कहेगा, पर मेरा बेटा लीगी है और उसके साथ और लोग भी हैं। तुम से वे कैसा सलूक करेंगे, मैं नहीं जानती।"[१२२] यह सुनकर हरनामसिंह निराश होकर वहाँ से उठा और यह कहते हुए कि "तेरे दिल में रहम जागा, तूने दरवाजा खोल दिया। अब तू कहेगी बाहर चले जाओ तो हम बाहर चले जाएँगे। चल बन्तो.........[१२३]" राजो ज्यों-की-त्यों आंगन के बीचो-बीच खड़ी रही और उसकी ओर देखती रही। और जब हरनामसिंह ने साँकल खोलने के लिए हाथ उठाया तो औरत फिर बोल उठी, "न आओजी, रुक जाओ, साँकल चढ़ा दो। तुमने मेरे घर का दरवाजा खटखटाया है, दिल में कोई आस लेकर आये हो। जो होगा देखा जायगा।" राजो की द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति क्षण भर की है। उसके भीतर की मनुष्यता अधिक शक्तिशाली है। वह इस दम्पत्ति की असहायता से परेशान है। इसी कारण वह बहुत बड़ा खतरा मोलकर उन्हें अपने घर में पनाह देती है।

राजो का पति और बेटा आ जाते हैं। पति एहसानअली हरनामसिंह से

परिचित है । वह तो कुछ कहता नहीं । परन्तु लीगी बेटा काफिर को पनाह देने की बात सुनकर चिढ जाता है । इच्छा होते हुए भी वह उन दोनो को मार नहीं सकता। "काफिर को मारना और बात है, अपने घर के अन्दर जान-पहचान के पनाह-गजीन को मारना दूसरी बात । उनका खून करना पहाड की चोटी पार करने से भी ज्यादा कठिन हो रहा था । मजहबी जनून और नफरत के इस माहौल मे एक पतली सी लकीर कही पर अभी भी खिची थी जिसे पार करना बहुत ही मुश्किल था ।"[११४] यही वह पतली-सी लकीर है जो राजो मे सुरक्षित है ।

लगभग आधी रात के समय राजो हरनाम और बन्तो को गाँव के उस पार सुरक्षित छोडने के लिए लेकर निकलती है । गाँव के पार आने के बाद वह बडी गम्भीरता से कहती है । "सीधे किनारे किनारे चले जाओ । आगे जो तुम्हारी किस्मत । आई हो उठी । "मैं नही जानती कि मैं तुम्हारी जान बचा रही हूँ या तुम्हे मौत के मुह मे झोक रही हूँ । चारो तरफ आग लगी है ।"[११५] चारो तरफ लगी इस आग मे राजो का व्यक्तित्व शीतल जल की तरह है ।

राजो के इस चरित्र को पढने समय बरबस कमलेश्वर के 'लौटे हुए मुसाफिर" की नसीबन याद आती है । नफरत की उस भयावह आग मे नसीबन भी इसी प्रकार के मानवीय भावो से प्रेरित थी ।

क्या हिन्दू, क्या मुसलमान दोनो सम्प्रदायो मे इस प्रकार के शुद्ध मानवीय धरातल पर आकर सोचने वालो की सख्या की कमी नही थी । कमी थी केवल उन राजनीतिज्ञो और नेताओ की जो इस प्रकार की शक्तियो को उभारते ।

(६) सामान्य पात्र . इसके अन्तर्गत यहाँ उन चरित्रो पर विचार किया जा रहा है जो समाज के विभिन्न स्तरो मे आए हुए हैं परन्तु जो किसी भी राजनीतिक विचारधारा से सम्बन्धित, प्रेरित अथवा प्रभावित नही हैं । ये पात्र अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी मे ही परेशान हैं । इन्हे लीग, कांग्रेस, विभाजन अथवा अन्य किसी से भी कोई मतलब नहीं है । आम भारतीयो की तरह ये अपनी छोटी छोटी समस्याओ से जूझ रहे हैं । ऐसे मे अचानक नफरत की आग फैलने लगती है । और दुर्भाग्य से इस आग मे सर्वाधिक रूप से ये ही झुलस जाते हैं । उपन्यास का आरम्भ ही इस प्रकार के सामान्य व्यक्ति द्वारा हुआ है ।

(१) नत्थू . इस उपन्यास का सबसे अभागा पात्र है नत्थू । नत्थू व्यवसाय से चमार है । मुरादअली नामक इस कस्बे के एक प्रमुख व्यक्ति ने उस पर एक जिम्मेदारी सौंपी है । हमारे सलोतरी साहिब को एक मरा हुआ सुअर चाहिए, डाक्टरी काम के लिए ।[११६] नत्थू सुअर मारना नही चाहता । उसने कहा भी है कि "हमने कभी सुअर मारा नहीं मालिक, और सुनते हैं सुअर मारना कठिन काम है । हमारे बस का नही होगा हुजूर ! खाल-वाल उतारने का काम हो तो दें । मारने का

काम तो पिगरीवाले ही करेंगे।"[१२७] परन्तु मुरादअली जब पाँच रुपये की नोट उसके जेब में ठूंस देता है तो नत्थू इस काम के लिए विवश हो जाता है। एक अत्यन्त सामान्य और गरीब व्यक्ति के लिए पाँच रुपये बहुत बड़ी राशि है। फिर काम भी केवल इतना कि सुअर को जान से मार देना। बस ! और सुअर ! पिगरीवालों के सुअर बहुत घूमते हैं। एक को पकड़ लो। सलोतरी साहिब खुद बाद में पिगरीवालों से बात करेंगे।"[१२८] मुरादअली तो मामूली आदमी है नहीं। नगरपरिषद का मेम्बर है। उनसे अक्सर काम पड़ता है। और वह इस काम के लिए पाँच रुपये दे रहा है और सुअर तो सलोतरी साहब को चाहिए डाक्टरी काम के लिए। भोला नत्थू इस काम को बड़ा सहज समझ रहा था। वह इसके पीछे की राजनीति नहीं जानता था। इस कारण वह इस काम को स्वीकार कर लेता है। हलाँकि सुअर मारने में उसे बहुत तकलीफ होती है। पाँच छः घण्टे संघर्ष के बाद प्रातः वह इस काम में सफल हो जाता है।

काटे हुए सुअर को वहीं फेंककर वह घर की ओर निकलता है। उसके मन में कई सवाल उठते रहे हैं, सलोतरी साहब को मरे हुए सुअर की जरूरत क्यों पड़ी। जरूर कहीं सुअर का माँस बेचने के लिए उसे मरवाया गया होगा......"[१२९] सुअर ने नत्थू को बहुत परेशान किया था। उसे इस प्रकार के काम का अनुभव भी नहीं था। वह बहुत अस्वस्थ्य हो गया है। उसकी यह अस्वस्थ्यता पश्चाताप में परिवर्तित हो जाती है। जब उसे पता चल जाता है कि सुअर की लाश मस्जिद की सीढ़ियों पर फेंकी गई है। इस घटना के कारण सारे शहर में तनाव छा गया है। मार-काट शुरू हुई है।" जब से वह उस सुअर के दड़बे में से निकला था, वह कभी शहर के एक हिस्से में तो कभी दूसरे हिस्से में चक्कर काट रहा था। जहाँ बैठता लोग सुअर की चर्चा करते सुनाई देते।"[१३०] वह अन्दर ही अन्दर बड़ा परेशान था। उसके साथ बहुत बड़ा धोखा हुआ था। वह डर रहा था कि अगर लोगों को मालूम हो जाए कि उसी ने सुअर को काटा है तो फिर उसका क्या होगा ? उसे थोड़े ही मालूम था कि मुरादअली सुअर की लाश का इस प्रकार उपयोग करेगा ? अगर उसे मालूम था तो वह इस पापकार्य को थोड़े ही करता ? अब वह घर जाने से भी घबरा रहा है। शहर के इस तनाव भरे वातावरण के लिए वह खुद को अपराधी समझ रहा है। वह बहुत दुःखी हुआ है। "दुख से छुटकारा पाने के लिए आदमी सबसे पहले औरत की तरफ ही मुड़ता है।"[१३१] दोपहर तक शहर का वातावरण पहले जैसा होने लगा। नत्थू हल्का-हल्का-सा अनुभव कर रहा है। उसे विश्वास होने लगा कि उसका यह काम किसी को मालूम नहीं हुआ है। बाजार में एक स्थान पर उसकी भेंट मुरादअली से हो जाती है। परन्तु मुरादअली अजनबी बनकर आगे चला जाता है। नत्थू फिर अस्वस्थ हो जाता है। पृष्ठ ११५ से १२० तक में उसका और

उसकी पत्नी की प्रेम-क्रीडा का विस्तार से विवेचन हुआ है। वह पूर्णत घबरा गया है। वह बेचैन और अस्वस्थ है। अपनी इस बेचैनी और अस्वस्थता को वह पत्नी से खिलवाड करके कम करना चाहता है।

बावजूद इस खिलवाड और शारीरिक सुख के उसकी परेशानी कम नहीं हुई है।" अपनी कोठरी के बाहर बैठा हुआ वह चिल्म फूंके जा रहा है। जितना अधिक वह मार-काट की अफवाहो को सुनता, उतना ही अधिक उसका दिल बैठ जाता।"¹¹¹ उसकी इस मानसिकता का चित्रण विस्तार से प्रकरण १३ म हुआ है। "आखिर इस काम को मैंने क्यों किया"—यही सवाल उसे बार-बार सता रहा है। उसके इस कृत्य से ही सारा कस्बा बरबाद हो रहा है। परन्तु अपनी इस स्थिति को और सुअर मारने के उस घृणित काम को उसने अभी तक किसी से कहा नही। परन्तु अब उसे ऐसा लगता है कि ये सारी बातें अपनी पत्नी को कह देना जरूरी है। तभी शायद वह स्वस्थता का अनुभव करेगा। अथवा यूं कहें कि वह अपनी ईमानदारी को स्पष्ट करना चाहता है। वह अपने मन को समझाने की कोशिश भी कर रहा है, मैंने जान बूझकर कुछ नही किया है। मैंने तो जो कुछ किया अनजाने म किया, ये लोग जो आग लगा रहे हैं और राह जाते लोगो को मार रहे हैं, ये तो आँखें खोलकर सब काम कर रहे है, ये क्यो बुरा काम कर रहे हैं? मेरे एक सुअर मार देने से क्या होता है? मैं मुजरिम हूँ तो क्या ये लोग मुजरिम नही हैं? मैंने जान-बूझकर कुछ नहीं किया।"¹¹¹ वास्तव म नत्थू इस सारे फिसाद के लिए कारणीभूत है ही नहीं। उसके साथ धोखा हुआ है। फिर भी दोनो मन ही मन यह अनुभव करते हैं कि कोई अदृश्य छाया उनके घर म प्रवेश कर गयी है। उनके जीवन पर धीरे-धीरे छा रही है।

उपन्यास के अन्तिम प्रकरण मे एक स्थान पर केवल इतना सकेत भर है कि नत्थू मर गया।" नत्थू मर चुका था वरन् नत्थू यहाँ मौजूद होता तो उसे (मुरादअली) पहचानने मे देर नही लगती।"¹¹¹

एक पापभीरु और ईमादार व्यक्ति के रूप मे नत्थू यहाँ उपस्थित हुआ है। उसकी मानसिक स्थिति का बडे विस्तार से विवेचन किया गया है। संभवत इसी कारण डा० वाडिवडेकरजी ने लिखा है कि "नत्थू चमार और उसकी पत्नी के बीच के मधुर प्रेम सम्बन्ध अपने आप मे उत्तेजक होने पर उपन्यास के मूल स्वर से असबद्ध लगते हैं।"¹¹¹ नत्थू जिस मानसिक स्थिति से गुजर रहा था, उसे स्पष्ट करने के लिए ये प्रेम सम्बन्ध आए हैं—इसे हम न भूलें। बुद्धिजीवी और तथाकथित प्रतिष्ठित लोग सामान्य व्यक्तियो का किस प्रकार अपने स्वार्थ के लिए अथवा साम्प्रदायिक उन्माद के लिए उपयोग कर लेते हैं—इसका प्रमाण है नत्थू। सवाल यह है कि क्या नत्थू इस सारी योजना का भण्डाफोड नहीं कर सकता था? नत्थू जिस

वर्ग से आया है, उसमें इसका उत्तर निहित है। अगर वह यह कहता कि यह सब मुरादअली का काम है तो उस पर कोई विश्वास न करते और उसकी ही पिटाई होती। दूसरी बात, मुरादअली इतना प्रतिष्ठित है कि उसके विरोध में नत्थू कुछ न कह सकता। व्यक्ति किस विशिष्ट जाति का है, उसकी आर्थिक स्थिति क्या है— इस पर से ही उसके द्वारा कही गयी बातों पर समाज विश्वास करता है। नत्थू अपनी जाति के कारण उपेक्षित रहा है।

आम आदमियों की प्रतिक्रियायें : इस उपन्यास में सामान्य जनता के दर्शन अधिक होते हैं। "भीष्म साहनी ने सामान्य जनता के स्तर पर रहकर ही लेखन किया है जिससे उपन्यासकार की जन-जीवन की सन्मुखता अवश्य प्रकट होती है।"[११६] "कमलेश्वर के लौटे हुए मुसाफिर" में भी सामान्य आदमी ही केन्द्र में हैं। यहाँ पर भी आम आदमी की प्रतिक्रियाओं को रेखांकित करने का प्रयत्न हुआ है। शहरी और देहाती इलाकों के ये पात्र पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। इनमें से कुछ की प्रतिक्रियाएँ :—

[१] **दर्जी खुदाबख्श :** इसके यहाँ शहर के सभी हिन्दू, मुस्लिम और सिख औरतें कपड़े सीने डालती हैं। हरेक के साथ इसका व्यवहार अत्यन्त स्नेह भरा है। उस दिन चौकवाले मन्दिर के ऊपर का घड़ियाल दुरुस्त किया जा रहा था। उसे देखकर ही खुदाबख्श घबड़ा गया। वह अन्दाजा लगाता है कि "फिसाद होने का डर है।" इस घड़ियाल की आवाज सुनकर रूह कांप जाती है।"[११७]

[२] **मजदूर :** इस शहर के मजदूर आजादी, विभाजन आदि विषयों पर अक्सर चर्चा करते हैं। कई बार इनकी इन चर्चाओं से उनकी आंतरिक वेदना अचानक व्यक्त हो जाती है। उदा : "बाबू ने कहा आजादी आने वाली है। मैंने कहा, आए आजादी, पर हमें क्या ? हम पहले भी बोझा ढोते थे, आजादी के बाद भी बोझा ढोयेंगे।"[११८] अधिकतर लोग आस्तिक, पापभीरु और भाग्य पर भरोसा रखने वाले हैं। एक बूढ़े ने कहा है, "सभी कुछ मालिक के हाथ में है, इनसान के हाथ में कुछ भी नहीं। सब काम पाक परवरदिगार के हुक्म से होते हैं। उसका जो हुक्म होगा, वही होगा।[११९] दुर्भाग्य से इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण ही फिसाद अधिक हुए। क्योंकि हिन्दुओं को मारना खुदा का हुक्म माना गया।

[३] **एक कार्यकर्त्ता :** विभाजन संभव नहीं है अगर हो भी जाएं तो आज जो जहाँ है वहीं रहेगा—ऐसा अधिकतर लोगों का विश्वास था। उदा :—"छोड़ो बादशाह, यह सयासतदानों के चोचले हैं। बन भी गया तो क्या होगा, लोग तो यहीं पर रहेंगे, कहीं भागे तो नहीं जा रहे........"[१२०] यह विश्वास कितना गलत था, यह आगे की घटनाओं ने सिद्ध किया है। इसी विश्वास के कारण लोग वहाँ से निकले नहीं। परिणामतः अधिक सकते में आ गए। इस फिसाद के कारण इतना तो जरूर

हुआ कि, "अब हिन्दुओं के मुहल्ले में न तो कोई मुसलमान रहेगा और न मुसलमानों के मुहल्ले में कोई हिन्दू। इसे पत्थर की लकीर समझो। पाकिस्तान बने या न बने, अब मुहल्ले अलग-अलग होंगे, साफ बात है।"[११]

[४] दो चपरासी फिसाद के बाद अमन कमेटी की बैठक बुलवाई गई है। हिन्दू, मुस्लिम और सिख भारी संख्या में उपस्थित हैं। सब एक-दूसरे के गले मिल रहे हैं। इन्हें इस स्थिति में देखकर बाहर बैठे हुए दो चपरासी आपस में कह रहे हैं कि, "हम जाहिल लोग लड़ते हैं, समझदार खानदानी लोग लड़ते नहीं। यहाँ सभी आए हैं हिन्दू भी, सिख भी, मुसलमान भी, मगर कैसे प्यार-मुहब्बत की बातें कर रहे हैं।"[१२] परन्तु क्या यह सही है। यहाँ इकट्ठे लोगों ने तो झगड़े लगवाये हैं। इस भीड़ में कहीं मुरादअली भी है, जो सबसे गले मिल रहा है। चपरासियों के इस कथन द्वारा लेखक ने बुद्धिजीवियों पर जबरदस्त व्यंग्य किया है।

[५] सैयदपुर का पसारी इस फिसाद और दंगों में भी लोग अपनी ईमानदारी पर आँच नहीं आने देना चाहते। सैयदपुर के सारे सिख गुरुद्वारे में घेर लिये गये हैं। वे गाँव के बाहर सुरक्षित जाना चाह रहे हैं। समझौते शुरू हुए हैं। सैयदपुर के मुसलमान इस काम के लिए दो लाख रुपये माँग रहे हैं। अर्थात् सिख रुपये पहले दें फिर वे उन्हें सुरक्षित पहुँचाएँगे। इसी कारण एक सरदार जब यह सवाल उठाता है कि 'अगर कहीं धोखा हुआ तो ? "तब मुस्लिम पसारी तैश में आकर कहता है, "क्यों, क्या हम लाहौरिये हैं ? अमृतसिये हैं ? कि आज कुछ कहें, और कल कुछ ? हम सैयदपुर के रहने वाले हैं, हमारी जबान पत्थर की लकीर होती है।"[१३]

विभिन्न मनोवृत्तियों का चित्रण सभी दिशाओं से जब मानवीमूल्यों की हत्या होने लगती है, जीवन का जो कुछ भी अच्छा, पावन और श्रेष्ठ जल जाने लगता है, जब सभी आखों में भय, सन्देह और अत्याचार उभरने लगता है तब मानवी-मन की असहाय्यता, क्रूरता, जीवनप्रियता, मोह आदि के दर्शन होने लगते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में भी इन विविध भावों के संकेत मिलते हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

[१] सनातनी वृत्ति हरनामसिंह और उसकी पत्नी बन्तो असहाय्य अवस्था में शरण के लिए मारे मारे घूम रहे हैं। ऐसी स्थिति में एहसानअली की पत्नी राजो उन्हें अपने घर में शरण देती है। ये दोनों पूरे तीस घण्टे भूखे हैं और कई मील चल कर आए हैं। इस *असहाय्य अवस्था* में एक मुस्लिम स्त्री ने इन्हें शरण दिया है। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि वे उसका छुआ खाना पसन्द नहीं करते। जो स्त्री अनेक खतरे मोलकर इन्हें शरण दे रही है, उससे बढ़कर और कौन से हाथ पवित्र हो सकते हैं ? अन्त में मजबूर होकर वे उसका छुआ खा लेते हैं। अर्थात् केवल

मजबूरी से ही।

एक दूसरा दृश्य किसी ब्राह्मण पंडित-पंडितानी का है। फिसाद में इनकी जवान लड़की प्रकाशो को कोई उठाकर ले गया है। फिसाद खतम हो जाने के बाद इनको कहा गया है कि इनकी बेटी मिली है, उसे वे जाकर ले आएँ। परन्तु ये दोनों स्पष्ट रूप से नकारते हैं। क्योंकि "अब हमारे पास आकर क्या करेगी जी, बुरी वस्तु तो उसके मुंह में उन्होंने पहले से ही डाल दी होगी।"[१४५] सनातनी वृत्ति के सम्मुख वात्सल्य का गला घोंट दिया गया है। प्रकाशो को गुंडा उठा ले गया है। इसमें प्रकाशो का क्या दोष ? अब प्रकाशो क्या करें ? माँ-बाप स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। सिवा वेश्या बनने के अब दूसरा मार्ग उसके सम्मुख नहीं है। वह भ्रष्ट हो गयी है अब उसे हिन्दू-समाज में स्थान नहीं है। धार्मिक कट्टरता के नाम पर ये अपनी लड़की को दुतकार रहे हैं। ऐसी कई घटनाएँ विभाजन के समय हुई हैं।

धार्मिक क्रूरता—हिन्दुओं को जबरदस्ती मुस्लिम बनाया गया। इतिहास इसका साक्षी है। प्रस्तुत उपन्यास का सत्रहवाँ प्रकरण इसी क्रूरता को स्पष्ट करता है। हरनामसिंह का बेटा इकबालसिंह लीगियों के हाथ में पड़ गया। उस पर अनेक प्रकार के अत्याचार हुए। उसकी धार्मिक भावनाओं की क्रूर हँसी उड़ाई गई। गो-मांस का टुकड़ा जबरदस्ती से उसके मुँह में डाला गया। बड़ी क्रूरता के साथ उसका सुन्ता किया गया। और कुछ ही घंटों में सिख-धर्म के सारे बाह्य चिन्ह उतारकर उसे इकबाल-अहमद बनाया गया। उसके इस धर्म-परिवर्तन का बड़ा ही सशक्त, करुण और यथार्थ चित्रण किया गया है।

क्रूरता के कुछ अन्य प्रसंग प्रकरण अठारह में मिलते हैं। "हम जब गली में घुसे········हिन्दुओं की एक लड़की अपने घर की छत पर चढ़ गई। हमने देख लिया जी। सीधे दस-बारह आदमी उसके पीछे छत पर पहुँच गये ··· ··· ···जब हमने उसे पकड़ लिया ··· ··· तब बारी-बारी से उसे दबोचा। ··· ··· जब मेरी बारी आई तो नीचे न हूँ, न हाँ, वह हिले ही नहीं, मैंने देखा तो लड़की मरी हुई ··· ··· मैं लाश से ही जना किए जा रहा था।"[१४६]

जीवन-प्रियता—एक ओर हरनाम की लड़की जसबीर और सैयदपुर की दर्जनों सिख औरतें हैं; जो मुस्लिमों के हाथ में पड़ने के बजाए सामूहिक आत्महत्याएँ कर लेती हैं, तो दूसरी ओर एक स्त्री इस प्रकार की भी है, जो दंगे-खोरों से कह रही है,—"मुझे मारो नहीं, मुझे तुम सातों अपने पास रख लो, एक-एक करके जो चाहो कर लो। मुझे मारो नहीं।"[१४७] सचमुच बड़ी असहाय्य और करुण स्थिति है यह !

सम्पत्ति-मोह—एक सरदार रोज आंकड़ा बाबू को परेशान कर रहा है कि कुएँ में कूदकर आत्महत्या करने वाली उसकी स्त्री की लाश उसे बतलाई जाए।

क्योंकि उसकी पत्नी के शरीर पर उस वक्त काफी गहने थे। "पाँच-पाँच तोले का एक-एक कड़ा है। गले में सोने की जंजीरी है। अब घरवाली डूब मरी, जो सबके साथ हुई है, वह मेरे साथ भी हुई है, पर ये कड़े और जंजीरी मैं कैसे छोड़ दूँ।"[१४८]

देश-काल वातावरण—कथावस्तु के विवेचन में यह स्पष्ट किया गया है कि इसकी कथा का सम्बन्ध पंजाब के एक जिले से है। यह जिला ऐतिहासिक तक्षशिला से सत्रह मील दूरी पर है। इस शहर की कथा पहले खंड में तथा इस जिले के अन्य छोटे देहातों-खानपुर, ढोक मुरीदपुर, सैयदपुर, ढोक इलाही बख्श, नूरपुर की कथा दूसरे खंड में रखी गई है। इस प्रकार शहरी और ग्रामीण अंचल—इन दोनों को समेटती हुई इसकी कथा आगे बढ़ती है। इन प्रदेशों का बड़ा ही जीवन्त चित्रण इसमें किया गया है।

इस शहर की रचना अन्य शहरों जैसी नहीं है। "यह शहर ही इस बेढब्बे से बना है कि, हर मुहल्ले में हिन्दू भी रहते हैं और मुसलमान भी रहते हैं।"[१४९] पिछले सैकड़ों वर्षों से यहाँ हिन्दू मुसलमान बस रहे हैं। दोनों का जीवन एक दूसरे के साथ गहरे रूप से जुड़ा हुआ था। एक-दूसरे के प्रति किसी के मन में सन्देह था नहीं। इसी कारण घर बनाते समय किसी ने यह नहीं सोचा कि आस-पास हिन्दू हैं अथवा मुसलमान। बड़ा खूबसूरत शहर है यह। "एक घर के सामने एक आदमी गली में बँधी गाय के पास खड़ा सानी-पानी कर रहा था। चाय तैयार हो रही थी। इतने में सामने से कोई औरत दुपट्टे में मुँह सिर लपेटे मुँह से गुनगुनाती हुई पास से गुजरी। पास ही किसी घर में से प्याले खनकने और साथ में चूड़ियाँ खनकने की आवाज आई। चाय तैयार हो रही थी। बड़े सहज सामान्य ढंग से दिन का व्यापार शुरू हो रहा था। प्रभात के झुटपुटे में एक फकीर इकतारा बजाता हुआ और धीमी आवाज में गाता हुआ शहर की गलियों में से गुजर रहा था।"[१५०] अथवा "शहर में सब काम जैसे बँटे हुए थे . कपड़े की ज्यादातर दूकानें हिन्दुओं की थीं, जूतों की मुसलमानों की, मोटर-लारियों का सब काम मुसलमानों के हाथ में था अनाज का काम हिन्दुओं के हाथ में। छोटे मोटे काम हिन्दू भी करते थे, मुसलमान भी।"[१५१] कहीं कोई दुराव नहीं था। शहर की इस व्यवस्थित जिन्दगी को देखकर लगता मानो इस शहर का कार्य-कलाप फिर से जैसे किसी संगीत की लय पर चलने लगा हो। संगीत की किसी धुन पर सारा शहर उठता हो और उसी धुन पर कार्य करता हो।' लगता इसकी एक कड़ी टूटेगी तो साज के तार टूट जाएँगे। "आप इसे संगीत कह लीजिए या नाजुक-सा सन्तुलन जिसमें व्यक्तियों के आपसी रिश्ते, जन-समूहों के आपसी रिश्ते एक विशेष धारा पर स्थिर हो चुके होते हैं।"[१५२]

ऐसे शहर में १९२६ में एक बार दंगा हुआ था। "पहले फिसाद में जब यह घड़ियाल बजा था तो मंडी में आग लगी थी और शोले आधे आसमान को ढके

थे।"[१५१] परन्तु १९२६ के बाद धीरे-धीरे वातावरण ठीक होता गया। लोग उस घटना को करीब-करीब भुल चुके थे। परन्तु सुअर वाली घटना से आज फिर-से वातावरण में तनाव छा गया है। और उस रात मंडी में आग लग जाने के बाद तो वातावरण पूर्णतः बदल गया। "मुहल्लों के बीच लीकें खिच गई थी, हिन्दुओं के मुहल्ले में मुसलमान को जाने की अब हिम्मत नही थी और मुसलमानों के मुहल्ले में हिन्दू या सिख अब नहीं आ-जा सकते थे। आँखों में संशय और भय उतर आया था।"[१५४] स्पष्ट है कि लेखक फिसाद के पूर्व का हँसते भरे वातावरण का तथा फिसाद के बाद के सन्देह भरे वातावरण का तटस्थता से चित्रण करता है। परिवर्तित वातावरण तथा उसके पूर्व के वातावरण में केवल ३०–३२ घंटे भर का अन्तर है। ३०–३२ घंटों की भयावह घटनाओं ने सैंकड़ों वर्षों की एकता, प्यार तथा अपनत्व को खत्म कर दिया है। आरम्भ के चित्रण के कारण तो बाद के परिवर्तित वातावरण की तीव्रता अधिक बढ़ गयी है। प्रथम खंड में इसी शैली को अपनाया गया है।

द्वितीय खंड में भी लेखक ने इसी शैली को अपनाया है। देहाती जीवन का बड़ा मार्मिक किन्तु संक्षिप्त चित्रण यहां किया गया है। "यों देखा जाय तो यह गांव बड़ा सुन्दर था, अमन-चैन के दिन कोई यहाँ आए तो इसकी खूबसूरती पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता था। लगता भगवान ने अपने हाथ से इसे बनाया है। छोटी-सी नदी के ऊपर एक छोटी-सी पहाड़ी पर घोड़े की नाल की शक्ल में यह गाँव खड़ा था। नदी के नीले जल-प्रवाह के पार लुकाटों के घने बाग थे जहाँ अनेक झरने बहते थे, इन दिनों लुकाट पक रहे थे और तोते के झुंड पेड़ों में बसे हुए थे। इन दिनों नदी का रंग भी आसमान के रंग की तरह गहरा नीला लग रहा था। ... .इसी प्रकृति-स्थल की गोद में इस गांव के सभी लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी रहते चले आये थे।"[१५५] फिसाद के कुछ घंटों बाद इसी गाँव की स्थिति "गाँव पर साये उतर-उतर आए थे। नारों की गूंज और अधिक तेज होने लगी थी। बाईं ओर ढलान के ऊपर सचमुच किवाड़ तोड़ने और चिघाड़ने की आवाजें आने लगी थी।"[१५६] इन दंगों में जो लूटे गए, अपनी जमीन से उखाड़ दिए गए, जिनके घरवाले बिछड़ गए—उनकी मन:स्थिति का और उस समय के वातावरण का बड़ा ही उत्कट चित्रण एक स्थान पर किया गया है। "रिफिल-ऑफिस के आँगन में घूमता प्रत्येक व्यक्ति अपना विशिष्ट अनुभव लेकर आया था। लेकिन इस अनुभव को जाँचने, परखने, उसमें से निष्कर्ष निकालने की क्षमता किसी में नहीं थी। ... ... आगे क्या होगा उसकी धुंधली-सी रूपरेखा भी किसी की आँखों के सामने नहीं थी। लगता, जैसे कोई अनिवार्य घटना-चक्र चल रहा है, जिस पर किसी का बस नहीं, न किसी के हाथ में निर्णय है, न संचालन, न संचालन की क्षमता, कठपुतलियों की तरह सब घूम रहे थे, भूख लगती तो उठकर इधर-उधर से कुछ खा लेते, याद आती तो रो देते और कान

लगाए सुबह से शाम तक लोगों की बातें सुनते रहते।"³⁵

इस प्रकार वातावरण का तुलनात्मक चित्रण यहाँ किया गया है। इस तुलनात्मकता के कारण ही यह चित्रण अधिक यथार्थ लगता है। इस वातावरण चित्रण में कल्पना का सूक्ष्म सौन्दर्य नहीं है, प्रकृति-चित्रण का करीब-करीब अभाव-सा है। अप्रैल के दूसरे-तीसरे सप्ताह के काल को स्वीकार करने के कारण भी प्रकृति चित्रण पर मर्यादा आ गई है।

टिप्पणियाँ

१ सचेतना जनवरी-मार्च १९७६ पृ० २७
२ तमस - पृ० ५१
३ वही पृ० २५४
४. वही, पृ० ४९
५ वही, पृ० ३४—३५
६-७ वही, पृ० २७८
९ सचेतना जनवरी—मार्च १९७६
१०-११ तमस - पृ० १९७
१२ वही, पृ० २३१
१३ वही, पृ० १०
१४. वही, पृ० ११
१५ वही, पृ० ६०
१६ वही, पृ० ६६
१७ वही, पृ० ७०
१८ वही, पृ० ७२
१९ वही, पृ० ८१
२० वही, पृ० १२२
२१ वही, पृ० ८१
२२, २३, २४ वही, पृ० ८२—८३
२५, २६ वही पृ० ८४
२७ वही, पृ० ८५
२८ वही, पृ० ८९
२९ वही, पृ० ९८
३० वही, पृ० १०१
३१. वही, पृ० ११०
३२ वही, पृ० १२१

३३. तमस : पृ० १२२
३४. वही, पृ० १२३
३५. वही, पृ० १२६
३६. वही, पृ० १३५
३७. वही, पृ० १३६
३८. वही, पृ० १५३
३९, ४०. वही, पृ० १५५
४१. वही, पृ० १६९
४२. वही, पृ० १७३
४३. वही, पृ० १८४
४४. वही, पृ० २०९
४५. वही, पृ० २२०
४६. वही, पृ० २२२
४७. वही, पृ० २२७
४८. वही, पृ० २३०
४९. वही, पृ० १९०
५०. वही, पृ० १९५
५१. वही, पृ० १९७
५२. वही, पृ० २३१
५३. वही, पृ० २३९
५४. वही, पृ० २४०
५५. वही, पृ० १४१
५६. वही, पृ० ८३
५७. वही, पृ० २४३
५८. वही, पृ० २५५
५९. वही, पृ० २६३
६०. वही, पृ० २७७
६१. धर्मयुग (साप्ताहिक) २२ दिसम्बर १९७४ डॉ चन्द्रकान्त वांदिवडेकर जी का लेख, "इधर के कुछ सफल उपन्यास" : पृ० १८
६२. धर्मयुग (साप्ताहिक) २२ दिसम्बर १९७४ : पृ० १९
६३. वही, पृ० १९
६४. तमस : पृ० ३८
६५. वही, पृ० ४०

६६, ६७ तमस पृ० ४४
६८ वही, पृ० ४८
६९, ७० वही, पृ० ४८
७१, ७२ वही, पृ० ५१
७३ वही, पृ० ४९
७४ वही, पृ० २५५
७५ वही, पृ० ३७
७६ वही, पृ० ९३
७७ वही, पृ० १२३
७८ वही, पृ० २५३
७९, ८० वही, पृ० ३४
८१ वही, पृ० ३५
८२ वही, पृ० २५०
८३ वही, पृ० २६४
८४ वही, पृ० २६५
८५ वही, पृ० २६
८६ वही, पृ० २७
८७ वही, पृ० २०
८८ वही, पृ० ६१
८९ वही, पृ० १५६
९० वही, पृ० १५७
९१ वही, पृ० ६६
९२ वही, पृ० ५७
९३, ९४ वही, पृ० ६८
९५ वही, पृ० ७५
९६ वही, पृ० ३४
९७ वही, पृ० १९९
९८ वही, पृ० ११०
९९ वही, पृ० १९०
१०० वही, पृ० १९५
१०१ वही, पृ० १९७
१०२ वही, पृ० २३१
१०३ आई० ए० आर० १९४६ · खंड १ पृ० २२०

१४६, १४७. तमस : पृ० २३५
१०५, १०६. वही, पृ० १५१
१०७, १०८. वही, पृ० १५५
१०९. वही, पृ० १५५
११०. वही, पृ० १९७
१११. वही, पृ० १९९
११२. वही, पृ० २००
११३. वही, पृ० ४१
११४. वही, पृ० १३७
११५, ११६. वही, पृ० १३८
११७. वही, पृ० १३८
११८, ११९. वही, पृ० १४८
१२०. वही, पृ० १८८
१२१. वही, पृ० २०९
१२२, १२३. वही, पृ० २११
१२४. वही, पृ० २२०
१२५. वही, पृ० २२१
१२६, १२७. वही, पृ० १०
१२८. वही, पृ० ११
१२९. वही, पृ० ३१
१३०. वही, पृ० १०५
१३१. वही, पृ० १०७
१३२. वही, पृ० १६८
१३३. वही, पृ० १६९
१३४. वही, पृ० २८२
१३५. धर्मयुग (साप्ताहिक) २२ दिसम्बर ७४ पृ० १९
१३७. वही,
१३८. तमस : पृ० १०१
१३९, १४०. वही, पृ० १०८
१४१, १४२. वही, पृ० २७३
१४३. वही, पृ० २७७
१४४. वही, पृ० २३४
१४५. वही, पृ० २६७
१०४. तमस : पृ० १४९, १५०
१४८. वही, पृ० २६२
१४९. वही, पृ० ६९
१५०. वही, पृ० ३०
१५१. वही, पृ० ९८
१५२. वही, पृ० ९९
१५३. वही, पृ० १०१
१५४. वही, पृ० १३५
१५५. वही, पृ० १९४
१५६. वही, पृ० २०७
१५७. वही, पृ० २७१

डॉ० चन्द्रभानु सीताराम सोनवणे

जन्म : १९३१ ईस्वी मे, ग्राम मोगरगा, तहसील औसा, जिला उस्मानाबाद महाराष्ट्र मे।

मातृभाषा : मराठी।

शिक्षा : वेदालंकार : गुरुकुल कांगडी से;
एम० ए० : आगरा वि० वि० से,
पी एच डी : शिवाजी वि० वि० कोल्हापुर से,

अध्यापन कार्य : डी० ए० वी० कॉलेज, सोलापुर (महाराष्ट्र) १७ वर्ष। १९७२ से १९७७ तक स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, दयानन्द कला महाविद्यालय, लातूर (महाराष्ट्र) मे हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में। अप्रैल १९७७ से हिन्दी विभाग, मराठवाडा वि० वि० औरंगाबाद (महाराष्ट्र) मे प्रपाठक के रूप मे कार्यरत।

प्रकाशित पुस्तकें : (१) हिन्दी गद्य साहित्य।
(२) विपाश : मुक्ति की उपनिषद्।
(३) भारतेन्दु के विचार : एक पुनर्विचार।
(४) साहित्यशास्त्र।

सूर्यनारायण माणिक रणसुभे

जन्म : अगस्त १९४२ ईस्वी मे, गुलबर्गा (पुराने हैदराबाद का जिला, अब कर्नाटक प्रदेश मे) मे।

मातृभाषा : मराठी।

शिक्षा : बी० ए० कर्नाटक वि० वि० (धारवाड) से १९६३ मे।
एम० ए० (हिन्दी) इलाहाबाद वि० वि०, इलाहाबाद से १९६५ मे।

अध्यापन कार्य : १९६५ से दयानन्द कला म० वि० लातूर (महाराष्ट्र) के हिन्दी-विभाग मे प्राध्यापक।

प्रकाशित पुस्तकें : (१) आधुनिक मराठी साहित्य का प्रवृत्तिमूलक इतिहास।
(२) कहानीकार कमलेश्वर : सन्दर्भ और प्रकृति।
(३) हिन्दी साहित्य का अभिनव इतिहास भाग १, भाग २
(प्रा० श० म० भुतडाजी के सहयोग से)

ओम्प्रकाश वासुदेव होलीकर

जन्म : १९४४ ईस्वी में, ग्राम होली, तहसील औसा, जिला उस्मानाबाद (महाराष्ट्र) में।

मातृभाषा : मराठी

शिक्षा : विद्यालंकार : गुरुकुल कांगड़ी से।
एम० ए० (हिन्दी) कुरुक्षेत्र वि० वि०, कुरुक्षेत्र से १९६८ में।

अध्यापन कार्य : १९६९-७० में वैद्यनाथ म०वि० परली वैजनाथ (महाराष्ट्र) में।
१९७० से दयानन्द वाणिज्य म० वि० लातूर (महाराष्ट्र) में हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में।